U.P. Series

नागरिकशास्त्र

नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त (प्रथम प्रश्न-पत्र)

भारतीय शासन तथा नागरिक जीवन (द्वितीय प्रश्न-पत्र)

पाठ्य-पुस्तक का सम्पूर्ण हल

कक्षा-12

प्रथम प्रश्न-पत्र (नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त)

इकाई-1

1 राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(Theories of the Origin of State)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या– 18 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या– 19 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राज्य की उत्पत्ति के संबंध में प्रतिपादित प्रमुख सिद्धान्तों के नाम बताइए तथा दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का अर्थ भी बताइए।

उ०– राज्य की उत्पत्ति के संबंध में प्रतिपादित प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

(i) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त
(ii) शक्ति का सिद्धान्त
(iii) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त
(iv) ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त– राज्य की उत्पत्ति के संबंध में यह सिद्धान्त सबसे अधिक प्राचीन है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य मानवीय नहीं वरन् ईश्वर द्वारा स्थापित एक दैवीय संस्था है। ईश्वर या तो यह कार्य स्वयं करता है या इस संबंध में अपने किसी प्रतिनिधि की नियुक्ति करता है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होने के नाते केवल उसी के प्रति उत्तरदायी होता है और राजा की आज्ञाओं का पालन प्रजा का परम पवित्र धार्मिक कर्तव्य है।

2. दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की कोई पाँच आलोचनाएँ बताइए।

उ०– दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की पाँच आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं–

(i) यह सिद्धान्त अतार्किक है।
(ii) दैवी सिद्धान्त अवैज्ञानिक व अनैतिहासिक है।
(iii) यह सिद्धान्त रूढ़िवादी धारणा है।
(iv) वर्तमान परिस्थितियों में दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त लागू नहीं होता है।
(v) यह सिद्धान्त नास्तिकों के लिए निरर्थक है।

3. राज्य की उत्पत्ति के शक्ति सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं?

उ०– शक्ति का सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक ईश्वरीय संस्था नहीं वरन् एक मानवीय संस्था है, जिसकी उत्पत्ति बल प्रयोग के आधार पर हुई है। बल प्रयोग ही राज्य की उत्पत्ति का कारण और वर्तमान समय में राज्य के अस्तित्व का आधार है राज्य उच्च शक्ति का परिणाम है और इसकी उत्पत्ति शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा निर्बल व्यक्तियों को अपने अधीन करने की प्रवृत्ति से हुई है। मानवीय विकास के प्रारम्भिक काल में जो व्यक्ति शक्तिशाली होता था वह अपनी शक्ति के प्रयोग द्वारा अन्य निर्बल व्यक्तियों को पराजित कर अपने अधीन कर लेता था। इस प्रकार अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाकर वह जनपद का नेता बन जाता था और तब वह अपने जनपद की सहायता से अन्य निर्बल जनपदों को अधीन करना प्रारम्भ करता था। विजय तथा अधीनता की इस प्रक्रिया का अन्त उस समय होता था जब विजयी जनपद के पास अपना एक निश्चित प्रदेश हो जाता था यहीं से राज्य की उत्पत्ति हुई।

4. राज्य की उत्पत्ति के शक्ति सिद्धान्त पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उ०– उत्तर के लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या-3 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

5. राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त से क्या आशय है?

उ०– राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौते का सिद्धान्त– राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक समझौते का सिद्धान्त बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य दैवीय न होकर एक मानवीय संस्था है। जिसका निर्माण व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक समझौते के आधार पर किया गया है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक मानव इतिहास को दो भागों में विभाजित करते हैं–

(i) प्राकृतिक अवस्था का काल (ii) नागरिक जीवन के प्रारम्भ का काल

इस सिद्धान्त के सभी प्रतिपादक अत्यन्त प्राचीनकाल में एक ऐसी प्राकृतिक अवस्था के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं जिसके अन्तर्गत जीवन को व्यवस्थित करने के लिए राज्य या राज्य जैसी अन्य संस्था नहीं थी। सिद्धान्त के विभिन्न प्रतिपादकों में इस प्राकृतिक अवस्था के संबंध में पर्याप्त मतभेद है। इस प्राकृतिक अवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार या प्राकृतिक नियमों के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करते थे। प्राकृतिक अवस्था के संबंध में मतभेद होते हुए भी सभी मानते हैं कि इन्हीं कारणों से मनुष्य प्राकृतिक अवस्था का त्याग करने को विवश हुए और उन्होंने समझौते द्वारा राजनीतिक समाज की स्थापना की।

6. सामाजिक समझौता सिद्धान्त की ऐतिहासिक आधार पर आलोचनाएँ बताइए।

उ०– सामाजिक समझौता सिद्धान्त की ऐतिहासिक आधार पर आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(i) प्राकृतिक अवस्था की धारणा गलत। (ii) समझौता अनैतिहासिक।

(iii) राज्य विकास का परिणाम है, निर्माण का नहीं।

7. ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं?

उ०– राज्य की उत्पत्ति के संबंध में ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य विकास का परिणाम है और राज्य की उत्पत्ति की सही व्याख्या ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त के द्वारा ही की गई है। राज्य का विकास एक लम्बे समय से चला आ रहा है और आदिकालीन समाज से क्रमिक विकास करते-करते इसने वर्तमान राष्ट्रीय राज्य के स्वरूप को प्राप्त किया है। **बर्गेस** के अनुसार ''राज्य मानव समाज का निरन्तर विकास है जिसका प्रारम्भ अत्यन्त अधूरे और विकृत उन्नतशील रूपों में अभिव्यक्ति होकर मनुष्यों के एक समग्र एवं सार्वभौम संगठन की ओर विकास हुआ है।'' जिस प्रकार भाषा प्राणियों की अर्थहीन बड़बड़ाहट से निकली है ठीक उसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति बहुत प्राचीन और इतिहास से परे असभ्य समाज से हुई है।

8. राज्य की उत्पत्ति के ऐतिहासिक सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति के कोई दो प्रमुख तत्व बताइए।

उ०– राज्य की उत्पत्ति के ऐतिहासिक सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति के दो प्रमुख तत्व धर्म एवं मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्तियाँ हैं।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का अर्थ एवं आलोचनाएँ बताइए।

उ०– दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त– राज्य की उत्पत्ति के संबंध में प्रचलित यह सिद्धान्त सबसे अधिक प्राचीन है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य मानवीय नहीं वरन् ईश्वर द्वारा स्थापित एक दैवीय संस्था है। ईश्वर या तो यह कार्य स्वयं ही करता है या इस संबंध में अपने किसी प्रतिनिधि की नियुक्ति करता है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होने के नाते केवल उसी के प्रति उत्तरदायी होता है और राजा की आज्ञाओं का पालन प्रजा का परम पवित्र धार्मिक कर्त्तव्य है।

सिद्धान्त के प्रमुख तत्व–

(i) राज्य शक्ति का प्रादुर्भाव ईश्वर द्वारा हुआ। ईश्वर ही राजाओं को शक्ति प्रदान करता है।

(ii) राजसत्ता पैतृक होती है अर्थात् पिता के बाद पुत्र सत्ता का अधिकारी होता है।

(iii) राज्य मानवीय कृति नहीं, वरन् ईश्वरीय सृष्टि है।

(iv) राजाओं की आलोचना या निन्दा धर्म विरुद्ध है। इसी बात के आधार पर **जेम्स प्रथम** ने कहा था कि ''ईश्वर क्या करता है, इस पर विवाद करना नास्तिकता तथा पाखण्ड है। इसी प्रकार प्रजा के हृदय में राजा के कार्यों के प्रति आलोचना का भाव होना अथवा उसके द्वारा यह कहा जाना कि राजा यह कर सकता है और यह नहीं कर सकता राजा का अपमान, अनादर और तिरस्कार करना है।''

(v) जिस प्रकार ईश्वर का प्रत्येक कार्य अनिवार्य रूप से सृष्टि के हित में होता है उसी प्रकार राजा के सभी कार्य ठीक, न्याय संगत और आवश्यक रूप से जनता के हित में होते हैं।

सिद्धान्त की आलोचना– राज्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त एक लम्बे समय तक प्रचलित रहा, किन्तु आज के वैज्ञानिक और प्रगतिशील संसार में इसे अस्वीकार कर दिया गया है। वस्तुत: सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनों ही आधारों पर यह सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है। इसकी प्रमुख रूप से निम्नलिखित आलोचनाएँ की जाती हैं—

(i) अतार्किक– हमारे धार्मिक ग्रन्थ यही बताते हैं कि ईश्वर प्रेम और दया का भण्डार है, लेकिन व्यवहार के अन्तर्गत अनेक राजा बहुत अधिक अत्याचारी और दुष्ट प्रकृति के होते हैं। इन दुष्ट राजाओं को प्रेम और दया के भण्डार ईश्वर का प्रतिनिधि कैसे कहा जा सकता है? ऐसी परिस्थितियों में दैवी सिद्धान्त नितान्त अतार्किक हो जाता है। प्रारम्भ में चर्च के पादरियों का मत था कि ईश्वर द्वारा बुरे राजा को जनता को दण्ड देने के लिए भेजा जाता है। परन्तु जनता चाहे कितनी ही पापी क्यों न हो, नैतिकता के किसी भी सिद्धान्त के अनुसार बुरे राजा ईश्वरीय नहीं हो सकते हैं।

(ii) **अवैज्ञानिक व अनैतिहासिक–** यह सिद्धान्त अवैज्ञानिक, अनैतिहासिक तथा मानवीय अनुभव के विरुद्ध है। वस्तुत: राज्य एक मानवीय संस्था है तथा राज्य के कानूनों का निर्माण व उन्हें लागू करना मनुष्य का ही कार्य है। इतिहास में इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि राज्य ईश्वरकृत है। **गिलक्राइस्ट** के शब्दों में, ''यह कहना कि परमात्मा इस या उस मनुष्य को राजा बनाता है अनुभव एवं साधारण ज्ञान के सर्वथा प्रतिकूल है।''

(iii) **रूढ़िवादी धारणा–** दैवी सिद्धान्त को स्वीकार करने का परिणाम यह होगा कि राज्य को पवित्र पावन संस्था समझकर उसके स्वरूप में आवश्यकतानुसार परिवर्तन नहीं किए जा सकेंगे। राज्य का अपरिवर्तित रूप मानव जीवन के लिए उपयोगी नहीं रहेगा।

(iv) **वर्तमान परिस्थितियों में लागू नहीं–** वर्तमान समय के प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में राज्य के प्रधान को जनता के द्वारा निर्वाचित किया जाता है, अत: इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कि राजा को ईश्वर नियुक्त करता है नितान्त अवास्तविक एवं काल्पनिक हो जाता है।

(v) **राजा स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश हो जाएगा–** राजा की ईश्वर की जीवित प्रतिमाएँ मानने का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि राजा स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश हो जाएगा। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अपने आपको ईश्वर का अंश कहने वाले शासकों ने जनता पर अनेक अत्याचार किए और उन्हें ईश्वरीय प्रकोप से डराकर उन पर निरंकुशता का व्यवहार किया।

(vi) **नास्तिकों के लिए निरर्थक–** राज्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त ईश्वर में आस्था रखने वाले व्यक्तियों के लिए राजा की आज्ञापालन का आधार बन सकता है। लेकिन नास्तिक व्यक्ति राजा की आज्ञाओं का पालन क्यों करें, इसके लिए इस सिद्धान्त में कोई आधार प्रस्तुत नहीं किया गया है।

महत्व– यद्यपि आज दैवी सिद्धान्त को अस्वीकार किया जा चुका है, लेकिन प्रारम्भिक काल में जब मनुष्य अपने जीवन के प्रत्येक अंग को धर्म से सम्बद्ध समझता था, यह सिद्धान्त अत्यन्त मूल्यवान सिद्ध हुआ। राज्य को दैवी संस्था और राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि बताकर इस सिद्धान्त ने प्रारम्भिक व्यक्ति को राजभक्ति एवं आज्ञापालन का पाठ पढ़ाया। इस प्रकार इस सिद्धान्त के द्वारा व्यवस्थित जीवन की नींव रखी गई। **गिलक्राइस्ट** ने कहा है कि ''यह सिद्धान्त चाहे कितना ही गलत और विवेकशून्य क्यों न हो, अराजकता के अन्त का श्रेय इसे अवश्य ही प्राप्त है।''

इस सिद्धान्त का इस दृष्टि से भी महत्व है कि यह राजनीतिक व्यवस्था के नैतिक आधार पर जोर देता है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होता है यह बात असत्य होते हुए भी इसमें इस बात की ध्वनि मिलती है कि शासक का ईश्वर के प्रति नैतिक उत्तरदायित्व होता है और इसलिए शासन की शक्ति का प्रयोग उचित रूप से ही किया जाना चाहिए।

2. राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।

उ०– **सामाजिक समझौते का सिद्धान्त–** राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक समझौता सिद्धान्त बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। 17वीं और 18वीं सदी की राजनीतिक विचारधारा में तो इस सिद्धान्त का पूर्ण प्राधान्य था। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य दैवीय न होकर एक मानवीय संस्था है, जिसका निर्माण व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक समझौते के आधार पर किया गया है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक मानव इतिहास को दो भागों में बाँटते हैं—

(i) प्राकृतिक अवस्था का काल तथा (ii) नागरिक जीवन के प्रारम्भ के बाद का काल।

इस सिद्धान्त के सभी प्रतिपादक अत्यन्त प्राचीनकाल में एक ऐसी प्राकृतिक अवस्था के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं जिसके अन्तर्गत जीवन को व्यवस्थित रखने के लिए राज्य या राज्य जैसी अन्य संस्था नहीं थी। सिद्धान्त के विभिन्न प्रतिपादकों में इस प्राकृतिक अवस्था के संबंध में पर्याप्त मतभेद हैं, कुछ इसे 'पूर्व सामाजिक' और कुछ इसे 'पूर्व राजनीतिक' अवस्था कहते हैं। इस प्राकृतिक अवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार या प्राकृतिक नियमों के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करते थे। प्राकृतिक अवस्था के संबंध में मतभेद होते हुए भी यह सभी मानते हैं कि किन्हीं कारणों से मनुष्य प्राकृतिक अवस्था का त्याग करने को विवश हुए और उन्होंने समझौते द्वारा राजनीतिक समाज की स्थापना की।

इस समझौते के परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति की प्राकृतिक स्वतन्त्रता आंशिक या पूर्णरूप से लुप्त ही गई और स्वतन्त्रता के बदले उसे राज्य व कानून की ओर से सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त हुआ। व्यक्तियों को प्राकृतिक अधिकार के स्थान पर सामाजिक अधिकार प्राप्त हुए। **लीकॉक** के शब्दों, ''राज्य व्यक्ति के स्वार्थों द्वारा चालित एक ऐसे आदान-प्रदान का परिणाम था जिससे व्यक्तियों ने उत्तरदायित्वों के बदले विशेषाधिकार प्राप्त किए।''

सिद्धान्त का विकास– समझौता सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन की ही तरह ही पुराना है तथा इसे पूर्व और पश्चिम दोनों ही क्षेत्रों से समर्थन प्राप्त हुआ है। महाभारत के 'शान्ति पर्व' में इस बात का वर्णन मिलता है कि पहले राज्य न था उसके स्थान पर अराजकता थी। ऐसी स्थिति में तंग आकर मनुष्यों ने परस्पर समझौता किया और मनु को अपना शासक स्वीकार किया। **आचार्य कौटिल्य** ने भी अपने 'अर्थशास्त्र' में इस मत को अपनाया है कि प्रजा ने राजा को चुना और राजा ने प्रजा की सुरक्षा का वचन दिया।

यूनान में सबसे पहले **सोफिस्ट वर्ग** ने इस विचार का प्रतिपादन किया। उनका मत था कि राज्य एक कृत्रिम संस्था और एक समझौते का फल है। **इपीक्यूरियन** विचारधारा वाले वर्ग ने इसका समर्थन किया और रोमन विचारकों ने भी इस बात पर बल

दिया कि ''जनता राजसत्ता का अन्तिम स्रोत है।'' मध्ययुग में भी यह विचार काफी प्रभावपूर्ण था और **मेनगोल्ड** तथा **थॉमस एक्वीनास** के द्वारा इसका समर्थन किया गया।

16वीं और 17वीं सदी में यह विचार बहुत अधिक लोकप्रिय हो गया और लगभग सभी विचारक इसे मानने लगे। **रिचार्ड हूकर** ने सर्वप्रथम वैज्ञानिक रूप में समझौते की तर्कपूर्ण व्याख्या की और डच न्यायाधीश **ग्रेशियस पूफेण्डोर्फ** तथा **स्पिनोजा** ने इसका पोषण किया, किन्तु इस सिद्धान्त का वैज्ञानिक और विधिवत रूप में प्रतिपादन **हॉब्स**, **लॉक** और **रूसो** द्वारा किया गया, जिन्हें 'संविदावादी विचारक' कहा जाता है।

थॉमस हॉब्स (सन् 1588 ई०–सन् 1679 ई०)– थॉमस हॉब्स इंग्लैण्ड के निवासी थे और राजवंश से सम्पर्क के कारण उनकी विचारधारा राजतन्त्रवादी थी। उनके समय में इंग्लैण्ड में राजतन्त्र और प्रजातन्त्र के समर्थकों के बीच तनावपूर्ण विवाद चल रहा था। इस संबंध में हॉब्स का विश्वास था कि शक्तिशाली राजतन्त्र के बिना देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती। अपने इस विचार का प्रतिपादन करने के लिए उसने सन् 1651 ई० में प्रकाशित पुस्तक 'लेवायथन' में समझौता सिद्धान्त का आश्रय लिया। हॉब्स ने सामाजिक समझौते की व्याख्या इस प्रकार की है—

मानव स्वभाव– हॉब्स के समय में चल रहे इंग्लैण्ड के गृहयुद्ध ने उसके सम्मुख मानव स्वभाव का घृणित पक्ष ही रखा। उसने अनुभव किया कि मनुष्य एक स्वार्थी, अहंकारी और आत्माभिमानी प्राणी है। वह सदा शक्ति से स्नेह करता है और शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

प्राकृतिक दशा– इस स्वार्थी, अहंकारी और आत्माभिमानी व्यक्ति के जीवन पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न होने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक दूसरे मनुष्य को शत्रु की दृष्टि से देखने लगा। मनुष्यों को न्याय और अन्याय का कोई ज्ञान नहीं था और प्राकृतिक अवस्था 'शक्ति ही सत्य है' की धारणा पर आधारित थी।

समझौते के कारण– जीवन और सम्पत्ति की इस असुरक्षा तथा मृत्यु और संहार के इस भय ने व्यक्तियों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे इस असहनीय प्राकृतिक व्यवस्था का अन्त करने के उद्देश्य से एक ही राजनीतिक समाज का निर्माण करें।

समझौता– नवीन समाज का निर्माण करने के लिए सब व्यक्तियों ने मिलकर एक समझौता किया। **हॉब्स** के मतानुसार यह समझौता प्रत्येक व्यक्ति ने शेष व्यक्ति समूह से किया, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति से कहता है कि ''मैं इस व्यक्ति अथवा सभा को अपने अधिकार और शक्ति का समर्पण करता हूँ जिससे कि वह हम पर शासन करे, परन्तु इसी शर्त पर कि आप भी अपने अधिकार और शक्ति का समर्पण इसे इसी रूप में करें और इसकी आज्ञाओं को मानें।''

इस प्रकार सभी व्यक्तियों ने एक व्यक्ति अथवा सभी के प्रति अपने अधिकारों का पूर्ण समर्पण कर दिया और यह शक्ति या सत्ता उस क्षेत्र में सर्वोच्च सत्ता बन गई। यही राज्य का श्रीगणेश है। इस समझौते के अन्तर्गत शासक कोई पक्ष नहीं है और यह समझौता सामाजिक है, राजनीकि नहीं। वह सत्ता इस समझौते का परिणाम है और इस प्रकार उसका पद समझौते से कहीं अधिक उच्च है। राजसत्ता पूर्ण, निरंकुश, अटल तथा अखण्ड है।

नवीन राज्य का रूप– हॉब्स के समझौते द्वारा एक ऐसे निरंकुश राजतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना की गई है जिसका शासक सम्पूर्ण शक्ति सम्पन्न है और जिसके प्रजा के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं हैं। शासित वर्ग को शासक वर्ग के विरुद्ध विद्रोह का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

जॉन लॉक (सन् 1632 ई०–सन् 1704 ई०)– जॉन लॉक इंग्लैण्ड का ही एक अन्य दार्शनिक था, जिसने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन सन् 1690 ई० में प्रकाशित अपनी पुस्तक में किया है। इस पुस्तक के प्रकाशन के दो वर्ष पूर्व इंग्लैण्ड में गौरवपूर्ण क्रान्ति हो चुकी थी। जिसके द्वारा राजा के विरुद्ध पार्लियामेण्ट की अन्तिम सत्ता को स्वीकार कर लिया गया था। लॉक ने अपनी पुस्तक में इन परिस्थितियों का स्वागत करते हुए सीमित या वैधानिक राजतन्त्र का प्रतिपादन किया। जॉन लॉक ने अपने समझौता सिद्धान्त की व्याख्या निम्न प्रकार से की है—

मानव स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था– लॉक के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसमें प्रेम, सहानुभूति, सहयोग एवं दया की भावनाएँ विद्यमान थीं। मानव स्वभाव की इस सामाजिकता के कारण प्राकृतिक अवस्था संघर्ष की अवस्था नहीं हो सकती थी। वरन् यह तो सदिच्छा, सहयोग और सुरक्षा की अवस्था थी। **लॉक** के अनुसार प्राकृतिक अवस्था नियमविहीन नहीं थी, वरन् उसके अन्तर्गत यह नियम प्रचलित था— 'तुम दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करो जैसा व्यवहार तुम दूसरों से अपने प्रति चाहते हो'। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे और प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के अधिकारों का आदर करता था। इसमें मुख्य अधिकार जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के थे।

समझौते के कारण– इस आदर्श प्राकृतिक अवस्था में कालान्तर में व्यक्तियों को कुछ ऐसी असुविधाएँ अनुभव हुईं कि इन असुविधाओं को दूर करने के लिए व्यक्तियों ने प्राकृतिक अवस्था का त्याग करना उचित समझा। **लॉक** के अनुसार ये असुविधाएँ निम्नलिखित थीं—

(i) प्राकृतिक नियमों की कोई स्पष्ट व्यवस्था नहीं थी,
(ii) इन नियमों की व्याख्या करने के लिए कोई योग्य सभा नहीं थी,
(iii) इन नियमों को मनवाने के लिए कोई शक्ति नहीं थी।

समझौता– हॉब्स के सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य का निर्माण करने के लिए केवल एक ही समझौता किया गया, परन्तु लॉक के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि दो समझौते किए गए। पहले समझौते द्वारा प्राकृतिक अवस्था का अन्त करके समाज की स्थापना की गई। इसी समझौते का उद्देश्य व्यक्तियों के जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति की रक्षा है। पहले समझौते के बाद शासक और शासित के मध्य एक दूसरा समझौता सम्पन्न हुआ, जिसमें शासित वर्ग के द्वारा शासक को कानून बनाने, उनकी व्याख्या करने और लागू करने का अधिकार दिया जाता है, परन्तु शासक की शक्ति पर यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया कि उसके द्वारा निर्मित कानून अनिवार्य रूप से प्राकृतिक नियमों के अनुकूल और अनुरूप होंगे तथा वे जनता के हित में ही होंगे।

नवीन राज्य का स्वरूप– लॉक के सामाजिक समझौता सिद्धान्त के अन्तर्गत शासक और शासित के मध्य जो समझौता सम्पन्न हुआ है, उससे यह स्पष्ट है कि सरकार स्वयं एक लक्ष्य नहीं वरन् एक लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मात्र है और वह लक्ष्य है शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना और जन कल्याण। लॉक इस विचार का प्रतिपादन करता है कि यदि सरकार अपने उद्देश्य में असफल हो जाती है, तो समाज को इस प्रकार की सरकार के स्थान पर दूसरी सरकार स्थापित करने का पूर्ण अधिकार है। इस प्रकार लॉक के द्वारा एक ऐसी शासन व्यवस्था का समर्थन किया गया, जिसमें वास्तविक एवं अन्तिम शक्ति जनता में निहित होती है और सरकार का अस्तित्व तथा रूप जनता की इच्छा पर निर्भर करता है।

जीन जेक्स रूसो (सन् 1712 ई०–सन् 1767 ई०)– रूसो ने अपने सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन सन् 1762 ई० में प्रकाशित पुस्तक 'The Social Contract' में किया है। हॉब्स और लॉक के समान रूसो के द्वारा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किसी विशेष उद्देश्य से नहीं किया गया था, लेकिन रूसो ने जिस प्रकार से अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उससे वह प्रजातन्त्र का अग्रदूत बन जाता है। रूसो के द्वारा अपने सिद्धान्त की व्याख्या निम्न प्रकार की गई है—

मानव स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था– रूसो अपनी पुस्तक 'सामाजिक समझौता' में लिखता है, ''मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है, किन्तु वह सर्वत्र जंजीरों में जकड़ा हुआ है।'' इस वाक्य से रूसो इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि ''मनुष्य मौलिक रूप से अच्छा है और सामाजिक बुराइयाँ ही मानवीय अच्छाई में बाधक बनती हैं।'' प्राकृतिक अवस्था के व्यक्ति के लिए रूसो ''आदर्श बर्बर'' (Noble Savage) शब्द का प्रयोग करता है। यह आदर्श बर्बर अपने में ही इतना सन्तुष्ट था कि न तो उसे किसी साथी की आवश्यकता थी और न किसी का अहित करने की उसकी इच्छा थी। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति एक भोले और अज्ञानी बालक की भाँति सादगी और परमसुख का जीवन व्यतीत करता था। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था पूर्ण स्वतंत्रता एवं समानता और पवित्र तथा कपट रहित जीवन की अवस्था थी, परन्तु इस प्राकृतिक अवस्था में विवेक का नितान्त अभाव था।

समझौते के कारण– प्राकृतिक अवस्था आदर्श अवस्था थी, लेकिन कुछ समय बाद ऐसे कारण उत्पन्न हुए जिन्होंने इस अवस्था को दूषित कर दिया। कृषि के आविष्कार के कारण भूमि पर स्थायी अधिकार और इसके परिणामस्वरूप सम्पत्ति तथा मेरे-तेरे की भावना का विकास हुआ। जब प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक भूमि पर अधिकार करने की इच्छा करने लगा, तो शान्तिमय जीवन नष्ट हो गया और समाज की लगभग वही दशा हुई जो हॉब्स की प्राकृतिक दशा में थी। रूसो सम्पत्ति को समाज की स्थापना के लिए उत्तरदायी मानता है। प्राकृतिक दशा का आदर्श रूप नष्ट होकर युद्ध, संघर्ष और विनाश का वातावरण उपस्थित हो गया। युद्ध और संघर्ष के वातावरण का अन्त करने के लिए व्यक्तियों ने पारस्परिक समझौते द्वारा समाज की स्थापना का निश्चय किया।

समझौता– इस असहनीय स्थिति से छुटकारा प्राप्त करने के लिए सभी व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित हुए और उनके द्वारा अपने सम्पूर्ण अधिकारों का समर्पण किया गया, किन्तु अधिकारों का यह सम्पूर्ण समर्पण किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज के लिए किया गया। समझौते के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण समाज की एक सामान्य इच्छा उत्पन्न होती है और सभी व्यक्ति इस सामान्य इच्छा के अन्तर्गत रहते हुए कार्यरत रहते हैं। स्वयं **रूसो** के शब्दों में, ''समझौते के अन्तर्गत 'प्रत्येक अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए , सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशक के अधीन समर्पित कर देता है तथा एक समूह के रूप में अपने व्यक्तित्व तथा अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर लेता है।' इस प्रकार के हस्तान्तरण से सभी पक्षों का लाभ है।

इस प्रकार रूसो के समझौते द्वारा उस लोकतन्त्रीय समाज की स्थापना होती है जिसके अन्तर्गत सम्प्रभुता सम्पूर्ण समाज में निहित होती है और यदि सरकार सामान्य इच्छा के विरुद्ध शासन करती है, तो जनता को ऐसी सरकार को पदच्युत करने का अधिकार प्राप्त होता है।

3. राज्य की उत्पत्ति के शक्ति सिद्धान्त की आलोचनाओं का वर्णन कीजिए।

उ०– राज्य की उत्पत्ति के शक्ति सिद्धान्त की आलोचना– इसमें सन्देह नहीं कि शक्ति ने राज्य की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण योगदान दिया है और वर्तमान राज्य के अस्तित्व के लिए शक्ति अनिवार्य है, लेकिन इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि केवल शक्ति के प्रयोग से ही राज्य की उत्पत्ति सम्भव हो गई। इसी कारण अनेक आधारों पर शक्ति के सिद्धान्त की आलोचना की जाती है, जिसमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(i) शक्ति राज्य का स्थायी आधार नहीं हो सकती– शक्ति को राज्य के आधार रूप में इस कारण भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि शक्ति राज्य को आवश्यक दृढ़ता एवं स्थायित्व प्रदान नहीं कर सकती। स्थायी रूप से एक राज्य सहयोग की भावना ही आधारित हो सकता है और शक्ति कभी सहयोग की भावना जाग्रत नहीं कर सकती। सभी व्यक्ति राज्य की आज्ञा

का पालन शक्ति के भय के कारण नहीं करते हैं वरन् इस कारण करते है कि सामाजिक व्यवस्था करने का यही एकमात्र साधन है और इसी से व्यक्ति के चरित्र का विकास सम्भव है। **गिलक्राइस्ट** ने कहा है कि ''बाध्यकारी शक्ति राज्य की एक कसौटी है, परन्तु उसका सार नहीं। यदि यह राज्य का सार बन जाए, तो उसका अस्तित्व उसी समय तक रह सकता है जब तक शक्ति है। शक्ति का विवेकहीन प्रयोग सभी क्रान्तियों का अग्रदूत रहा है। राज्य का स्थायी आधार नैतिक बल है। नैतिक शक्ति उतनी ही स्थायी है जितने कि वे मानव मस्तिष्क जिन पर वह आश्रित होता है।'' बोदां ने भी कहा है कि ''शक्ति केवल डाकुओं के गिरोह का ही संगठन कर सकती है, राज्य का नहीं।'' अत: **ग्रीन** के शब्दों में कहा जाता है कि ''राज्य का आधार शक्ति नहीं वरन् इच्छा है।''

(ii) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अन्त– यदि शक्ति को राज्य का आधार मान लिया जाए, ''तो शक्ति ही सत्य है'' (Might is right) के दौर में व्यक्तियों की स्वतन्त्रता संकट में पड़ जाएगी और समाज के अधिकांश व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपयोग नहीं कर सकेंगे। औचित्यरहित शक्ति तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की विरोधी होती है और राज्य का आधार हो ही नहीं सकती है क्योंकि राज्य का अस्तित्व तो सबल और निर्बल सभी व्यक्तियों की स्वतन्त्रता और हितों की रक्षा के लिए होता है।

(iii) केवल शक्ति से राज्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं– राज्य की उत्पत्ति केवल शक्ति से ही नहीं हुई और शक्ति ही राज्य का एकमात्र तत्व नहीं है। राज्य की उत्पत्ति के संबंध में रक्त संबंध, धार्मिक एकता, आर्थिक हितों और राजनीतिक चेतना ने भी शक्ति के समान महत्वपूर्ण कार्य किया है और **लीकॉक** के शब्दों में कहा जा सकता है कि ''शक्ति सिद्धान्त की भूल यह है कि समाज के विकास में जिस वस्तु का स्थान केवल एक तत्व का रहा है, उसे एकमात्र नियामक तत्व की महानता प्रदान कर देता है।'' **सीले** के द्वारा भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया गया है। उन्हीं के शब्दों में, ''राज्य की उत्पत्ति केवल शक्ति के द्वारा नहीं हुई यद्यपि विस्तार क्रम में निसन्देह शक्ति ने भाग लिया है।''

(iv) शक्ति सिद्धान्त व्यक्ति की हीन प्रवृत्तियों पर आधारित– शक्ति सिद्धान्त का एक दोष यह है कि यह सिद्धान्त मनुष्य में पाशविक शक्ति को महत्वपूर्ण मानकर उसकी ही प्रवृत्तियों पर अत्यधिक बल देता है। मनुष्य के जीवन में पाशविक शक्ति भी अवस्थित हो सकती है, किन्तु वह उसका मूल नहीं है। **हक्सले** ने कहा है कि ''मनुष्य जगत में सहयोग और सहकारिता की भावना प्रमुख है, बल और पशु शक्ति का स्थान गौण है।'' यदि हम मानव जीवन में स्वार्थ, दुष्टता और कृतघ्नता को देख पाते है तथा दया, सज्जनता, परमार्थ, स्नेह, सहयोग, सहानुभूति आदि उच्च गुण हमारी दृष्टि में नहीं आते हैं, तो यह हमारी संकीर्ण मनोवृत्ति का ही परिचायक है।

(v) आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को प्रोत्साहन– यदि शक्ति को राज्य का आधार मान लिया जाए, तो प्रत्येक अपने आपको दूसरों की अपेक्षा शक्तिशाली सिद्ध करने में प्रयत्नशील रहेगा और निरन्तर संघर्ष होते रहेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर प्रत्येक विवाद के निर्णय हेतु युद्ध के मार्ग को अपनाया जाएगा और सदैव ही युद्ध की अवस्था बनी रहेगी। अत: राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के हित में शक्ति सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

(vi) शक्तिशाली शब्द स्वयं में अस्पष्ट– शक्ति सिद्धान्त की एक कमी यह भी है कि इसके अन्तर्गत शक्तिशाली शब्द की व्यापक एवं विस्तृत व्याख्या नहीं की गई है। शक्ति के विविध रूप होते हैं— यथा शारीरिक शक्ति, बौद्धिक शक्ति, नैतिक शक्ति, आध्यात्मिक शक्ति, शास्त्र शक्ति, संगठन शक्ति आदि। **हक्सले** के अनुसार, ''शक्तिशाली वह है जो परिस्थितियों को अपने अनुकूल बना लेता है।'' **मार्शल** के अनुसार,''शक्तिशाली वह है कि जो परिस्थितियों से अधिकाधिक लाभ उठा सकता है।'' महात्मा गांधी के अनुसार, ''नैतिक और आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न व्यक्ति ही सबसे अधिक शक्तिशाली है।'' शक्ति सिद्धान्त में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि शक्ति के इन विविध रूपों में से उसका आशय शक्ति के किस रूप से है। शक्तिशाली का अर्थ स्पष्ट न होने के कारण यह सिद्धान्त निरर्थक हो जाता है।

वस्तुत: राज्य शक्ति का परिणाम न होकर मानवीय चेतना का परिणाम है। **गिलक्राइस्ट** ने ठीक ही कहा है कि ''राज्य, सरकार और वास्तव में सभी संस्थाएँ मानवीय चेतना के परिणाम हैं और वे ऐसी कृतियाँ है जो मानव के नैतिक उद्देश्य को समझने के फलस्वरूप उत्पन्न हुई हैं।''

(vii) प्रजातान्त्रिक परम्परा के विरुद्ध– शक्ति सिद्धान्त के अनुसार राज्य का आधार शासन की इच्छा और शक्ति है, जनमत नहीं, लेकिन प्रजातन्त्र जन इच्छा, न्याय, स्वतन्त्रता और समानता में विश्वास करता है। अत: शक्ति सिद्धान्त प्रजातांत्रिक परम्पराओं और विश्वबन्धुत्व की भावना के नितान्त विपरीत है।

4. ''राज्य न तो ईश्वर की कृति है, न वह उच्च कोटि के शारीरिक बल का परिणाम है, न वह किसी प्रस्ताव या समझौते की सृष्टि है और न वह केवल परिवार का विस्तार मात्र है।''– गार्नर, आपके विचार में राज्य की उत्पत्ति का जो सही सिद्धान्त हो उसकी व्याख्या कीजिए।

उ०– अब तक राज्य की उत्पत्ति के संबंध में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया, उनमें दैवी सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त, सामाजिक सिद्धान्त, पैतृक सिद्धान्त, और मातृक सिद्धान्त प्रमुख हैं, लेकिन राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या के रूप में इनमें से किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता। दैवी सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त और समझौता सिद्धान्त में एक बात समान रूप से पाई जाती है की राज्य का एक विशेष समय पर निर्माण किया गया है, किन्तु वास्तव में राज्य का निर्माण नहीं किया गया, यह तो

निरन्तर विकास का परिणाम है। इसके साथ ही पैतृक और मातृक सिद्धान्त की इस बात को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि राज्य परिवार का विस्तार मात्र है क्योंकि परिवार और राज्य की प्रकृति में कुछ आधारभूत भेद हैं। **डॉ० गार्नर** ने सत्य ही कहा है कि ''राज्य न तो ईश्वर की सृष्टि है, न वह उच्चकोटि के शारीरिक बल का परिणाम है, न किसी प्रस्ताव या समझौते की कृति है और न परिवार का ही विस्तृत रूप है। यह तो क्रमिक विकास से उदित एक ऐतिहासिक संस्था है।''

राज्य विकास का परिणाम है और राज्य की उत्पत्ति की सही व्याख्या ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त द्वारा ही की गई है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का विकास एक लम्बे समय से चला आ रहा है और आदिकालीन समाज से क्रमिक विकास करते-करते इसने वर्तमान राष्ट्रीय राज्य के स्वरूप को प्राप्त किया है **बर्गेस** ने उचित ही कहा है कि ''राज्य मानव समाज का निरन्तर विकास है जिसका प्रारम्भ अत्यन्त अधूरे और विकृत उन्नतिशील रूपों में अभिव्यक्ति होकर मनुष्यों के एक समग्र एवं सार्वभौम संगठन की ओर विकास हुआ है।'' जिस प्रकार भाषा प्राणियों की अर्थहीन बड़बड़ाहट से निकली है ठीक इसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति बहुत प्राचीन और इतिहास से परे असभ्य समाज से हुई है।

यह बताना कि कब और किस प्रकार राज्य अस्तित्व में आया, अत्यधिक कठिन है। अन्य सामाजिक संस्थाओं के समान ही विभिन्न परिस्थितियों की सहायता पाकर और अनेक तथ्यों से प्रभावित होकर यह आविर्भूत हुआ। राज्य के विकास का क्रम भी एक सा नहीं रहा है। प्रकृति, परिस्थिति और स्वभाव के भेदों के कारण विभिन्न समयों, अवस्थाओं और स्थानों में राज्य के विकास का क्रम भी विभिन्न रहा है। भाषा और राजनीतिक चेतना के समान ही राज्य का विकास भी धीरे-धीरे हुआ है।

राज्य के विकास में सहायक प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं—

(i) धर्म– रक्त संबंध की भाँति ही धर्म का भी राज्य की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। राज्य के विकास कार्य में रक्त संबंध और धर्म परस्पर घनिष्ठ रूप से संबंधित रहे हैं। वस्तुत: प्रारम्भिक समाज में रक्त संबंध और धर्म एक ही वस्तु के दो पहलू थे और दोनों परिवार तथा कबीलों को परस्पर जोड़ने का कार्य साथ-साथ ही करते थे। **गेटल** ने लिखा है कि ''रक्त संबंध और धर्म एक ही वस्तु के दो रूप थे और समूह की एकता व उनके कर्तव्यों को धार्मिक मान्यता प्राप्त थी।''

प्रारम्भिक समाज के धर्म के दो रूप प्रचलित थे— पितृ पूजा और प्राकृतिक शक्तियों की पूजा। व्यक्ति अपने परिवार के वृद्ध व्यक्तियों के मृत हो जाने पर भी उनके प्रति बहुत श्रद्धा रखते थे और उनका विचार था कि शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा शेष रहती है। अत: इस आत्मा को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने पितृ पूजा प्रारम्भ कर दी। धर्म के इस बहुप्रचलित रूप (पितृ पूजा) ने परिवारों को एकता के सूत्र में बाँधा। जो एक ही वंश या रक्त से संबंधित होते थे। उनके कुल देवता भी एक ही हुए, जो अधिकतर उनके पुरखे होते थे।

उस समय धर्म का एक दूसरा प्रचलित रूप प्राकृतिक शक्तियों की पूजा थी। जंगली अवस्था में जबकि बुद्धि का विकास नहीं हुआ था और व्यक्ति प्राकृतिक परिवर्तनों को समझने में असमर्थ थे उन्होंने बादल की गड़गड़ाहट, बिजली की कड़क, हवा की सनसनाहट और वस्तुओं के परिवर्तन में ईश्वर की शक्ति का अनुभव किया और प्रकृति की प्रत्येक शक्ति उनके लिए देवता बन गई। व्यक्ति पृथ्वी, सूर्य, अग्नि, इन्द्र और वरुण की उपासना करने लगे और एक ही शक्ति के उपासकों में परस्पर घनिष्ठ मैत्री भाव उत्पन्न हुआ जो राज्य का आधार बना।

प्रारम्भिक समाज में विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों को देवता या भूत-प्रेत समझा जाता था और जब कोई व्यक्ति यह सिद्ध कर देता था कि वह प्राकृतिक शक्तियों को नियन्त्रित रख सकता था तब समाज में उसे असाधारण शक्ति और सम्मान प्राप्त हो जाता था और अनेक बार ये तान्त्रिक कहे जाने वाले व्यक्ति राजा बन जाते थे। स्पार्टा में ऐसा ही हुआ। इस प्रकार धर्म के द्वारा एक से अधिक रूप में राज्य के विकास में योगदान दिया गया है।

(ii) रक्त संबंध– यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि सामाजिक संगठन का प्राचीनतम रूप रक्त संबंध पर आधारित था और रक्त संबंध एकता का प्रथम और दृढ़तम बन्धन रहा है। आंग्ल कहावत 'खून पानी से गाढ़ा होता है' इसी तथ्य पर आधारित है। प्रारम्भिक समय में जो बात उन्हें पास लाती थी ओर एक दल के रूप में संगठित होने के लिए प्रेरित करती थी, वह सामान्य उत्पत्ति में विश्वास ही था और परिवार प्राचीनतम तथा निकटतम रक्त संबंध की इकाई था। यद्यपि यह प्रश्न विवादास्पद है कि कबीला, कुल या परिवार में पहले कौन अस्तित्व में आया, लेकिन इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि परिवार के स्पष्ट व्यक्ति नियन्त्रण के आधार पर ही राज्य की स्थापना हुई होगी। इस संबंध में **सर हेनरी मेन** ने लिखा है कि ''समाज के प्राचीनतम इतिहास की आधुनिकतम गवेषणाएँ इस निष्कर्ष की ओर इंगित करती हैं कि समूह को एकता के सूत्र में बाँधने वाला प्रारम्भिक बन्धन रक्त संबंध ही था।'' आगे चलकर जब जनसंख्या की वृद्धि के कारण कुटुम्ब का आकार बढ़ा तथा जाति और कुल बने तब समाज का जन्म हुआ। इस संबंध में **मैकाइवर** का कथन है कि ''रक्त संबंध समाज को जन्म देता है और कालान्तर में समाज राज्य को।''

(iii) मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्तियाँ– मनुष्य स्वभाव से भी एक सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है और समूह में रहने की मनुष्य की प्रवृत्ति ने ही राज्य को जन्म दिया है। समाज में साथ-साथ रहते हुए जब विभिन्न व्यक्तियों के स्वभाव और स्वार्थगत भेदों के कारण विभिन्न प्रकार के विवाद उत्पन्न हुए, तो इन विवादों को दूर करने के लिए एक सम्प्रभुतासम्पन्न राजनीतिक संस्था की आवश्यकता समझी गई और राज्य का उदय हुआ। इस प्रकार राज्य को बहुत अधिक सीमा तक मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्तियों का परिणाम कहा जा सकता है।

(iv) **आर्थिक गतिविधियाँ–** राज्य की उत्पत्ति और विकास में आर्थिक गतिविधियों का भी प्रमुख हाथ रहा है। **प्लेटो**, **मैकियावली**, **हॉब्स**, **लॉक**, **एडम स्मिथ** और **मॉण्टेस्क्यू** ने भी राज्य की उत्पत्ति और विकास में आर्थिक तत्वों के योग को स्वीकार किया है। किन्तु इनसे बहुत आगे बढ़कर **कार्ल मार्क्स** ने तो इस विचार को अभिव्यक्त किया है कि ''राज्य आर्थिक परिस्थिति की ही अभिव्यक्ति है।''

आदिम काल से लेकर अब तक मनुष्य चार आर्थिक अवस्थाओं से गुजरा है जिसके अनुकूल ही उसमें तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन रहे हैं। **प्रथम**, आखेट अवस्था में मनुष्य के जीवन का एकमात्र साधन शिकार था और इसी कारण मनुष्य का जीवन अस्थिर, असंगठित तथा भ्रमणशील था। **द्वितीय**, पशुपालन अवस्था में मनुष्य पशु पालकर गुजारा करते थे। इस अवस्था में भी उनका जीवन भ्रमणशील ही था, किन्तु उनमें सामूहिकता और संगठन का अंश आ गया था। **तृतीय**, कृषि अवस्था में जीवन का आधार कृषि हो जाने पर मनुष्य निश्चित स्थान पर स्थायी रूप से रहने लगे। इससे निजी सम्पत्ति का उदय हुआ, समाज में वर्ग पैदा हो गए और संघर्ष बढ़े। ऐसी स्थिति में कानून, न्यायालय और राजनीतिक सत्ता की स्थापना हुई। **चतुर्थ**, आज की औद्योगिक अवस्था है जिसमें आर्थिक जीवन के जटिल और विशाल ढाँचे ने राष्ट्रीय राज्यों को जन्म दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक विकास के साथ मनुष्य के राजनीतिक संगठन में भी परिवर्तन हुए हैं और राज्य के विकास पर आर्थिक गतिविधियों के प्रभाव का यह स्पष्ट प्रमाण है।

(v) **राजनीतिक चेतना–** राजनीतिक चेतना का तात्पर्य उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए चेतना है जिनके हेतु राज्य की स्थापना की जाती है। अनेक विद्वानों के अनुसार, राज्य के विकास में राजनीतिक चेतना ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में कार्य किया।

जब व्यक्ति किसी निश्चित प्रदेश पर बस गए और उनके द्वारा अपनी आजीविका के स्थायी साधन प्राप्त कर लिए गए, तो उनकी यह स्वाभाविक इच्छा और चिन्ता हुई कि दूसरे लोग उनके साधनों को हड़प न लें। फलत: नियमों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी और यही राजनीतिक चेतना का मूल था। प्रारम्भ से यह राजनीतिक चेतना अप्रकाशित एवं अव्यक्त रूप में थी, सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह प्रकाशित तथा व्यक्त होने लगी। शासन, अनुशासन, युद्ध आदि के लिए अब राजनीतिक संगठन की आवश्यकता और भी स्पष्ट हो गई। इसके अतिरिक्त कुछ व्यक्तियों में शक्ति की आकांक्षा भी बढ़ी और सैनिक कार्यवाहियों द्वारा वे अधिकाधिक शक्ति की प्राप्ति करने लगे। युद्ध में विजयी नेता राजा हो गए ओर उनका प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस प्रकार शासन और कानून का जन्म हुआ और राज्य मूर्त रूप में सामने आया। वर्तमान समय में भी राजनीतिक चेतना राज्य के विकास में सक्रिय है और इसी चेतनावश मानव जाति द्वारा विश्व राज्य की स्थापना की दिशा में सोचा जाने लगा है।

(vi) **शक्ति–** राज्य संस्था के विकास में शक्ति या युद्ध का स्थान भी विशेष महत्वपूर्ण रहा। पहले सामाजिक व्यवस्था थी, जिसे राजनीतिक अवस्था में परिवर्तन करने का कार्य युद्ध के द्वारा ही किया गया। **जैंक्स** ने कहा भी है कि ''जन-समाज का राजनीतिक समाज में परिवर्तन शान्तिपूर्ण उपायों से नहीं हुआ यह परिवर्तन युद्ध द्वारा हुआ है।''

अन्य मनुष्यों पर आधिपत्य स्थापित करने तथा संघर्ष एवं आक्रमण की प्रवृत्ति भी मनुष्यों की मूलप्रवृत्तियों में से एक है। मानवीय विकास के प्रारम्भिक काल में ये प्रवृत्तियाँ बहुत अधिक सक्रिय थीं। कृषि तथा व्यवसाय की उन्नति के साथ जब लोग निश्चित स्थानों पर बस गए, तो निजी सम्पत्ति की धारणा का उदय हुआ। ऐसी स्थिति में निवास स्थान तथा सम्पत्ति की रक्षार्थ युद्ध होने लगे और युद्ध ने नेतृत्व के महत्व को जनता के सामने रखा। लोग सुरक्षा प्रदान करने की क्षमता रखने वाले शक्तिशाली व्यक्ति का नेतृत्व स्वीकार करने लगे। इस नेता की अधीनता में एक कबीला दूसरे कबीले पर आधिपत्य जमाने की चेष्टा में संलग्न रहा और संघर्ष की इस प्रकिया में विजयी कबीले का सैनिक सरदार बन बैठा। बलपूर्वक शक्ति ने प्रभुसत्ता का रूप धारण किया और शासक के प्रति भक्ति तथा निष्ठा की भावना का जन्म हुआ। इस प्रकार युद्ध से राज्य की उत्पत्ति हुई। कहा भी गया है कि ''युद्ध से राजा का जन्म होता है''।

5. ''राज्य का विकास हुआ है निर्माण नहीं।'' इस कथन का वर्णन कीजिए तथा राज्य के विकास में जिन तत्वों ने सहयोग दिया है, उन्हें स्पष्ट कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 4 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

2

राज्यों के कार्यों के सिद्धान्त
(Theories of the Functions of States)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 42 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 42 व 43 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राज्य साध्य है या साधन? इस विषय पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उ०– सच तो यह है कि राज्य को साधन या साध्य के रूप में देखना ही गलत है। दोनों में इतना पारस्परिक संबंध है कि वे एक दूसरे के सहायक के रूप में नहीं हैं, एक का हित दूसरे का हित है। **डॉ० ए० आशीर्वादम्** के शब्दों में, राज्य और व्यक्ति में साध्य और साधन का प्रश्न बतलाना इन दोनों की प्रकृति को गलत समझना है। यह दोनों आपस में इतने घनिष्ठ रूप से संबंधित मत है कि हम यह कह सकते हैं कि अपनी निरन्तर स्थिति में राज्य और व्यक्ति दोनों का लक्ष्य अपनी स्थिति को उच्चतर करते रहना है और दोनों ही इस लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन है। दोनों एक साथ एक ही लक्ष्य की ओर चलते हैं। **प्रो० विलोबी** ने राज्य के साध्य या साधन होने के प्रश्न की विवेचना यह कहकर की है कि वह दृष्टिकोण के ऊपर निर्भर करती है, जैसे एक कलाकार यदि अपने चित्र के जरिए जीविकोपार्जन करता है तो वह साधन है। और साथ ही वह चित्र उसके सर्वोत्तम लक्ष्य की पूर्ति भी हो सकती है। इस प्रकार राज्य भी जहाँ तक व्यक्ति के उद्देश्यों की पूर्ति को सम्भव बनाता है तो वह साधन है और जहाँ तक हमारी सामाजिकता, नैतिकता और सदजीवन की अपेक्षा करता है तो वह साध्य हैं।

2. राज्य के कोई चार प्रमुख उद्देश्य बताइए।

उ०– राज्य के चार प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

(i) सार्वजनिक हित के कार्य करना।
(ii) शान्ति व्यवस्था तथा सुरक्षा की स्थापना करना।
(iii) राज्य एवं व्यक्ति के मध्य उचित संबंधों की स्थापना करना।
(iv) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं मानवीय सभ्यता का विकास करना।

3. राज्य के कोई चार अनिवार्य कार्य बताइए।

उ०– राज्य के चार अनिवार्य कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) परिवार में कानूनी संबंध स्थापित करना।
(ii) न्याय का समुचित प्रबन्ध करना।
(iii) अधिकार तथा कर्त्तव्यों का निर्धारण करना।
(iv) बाहरी आक्रमणों से देश की सुरक्षा करना।

4. राज्य के कोई चार वैकल्पिक कार्य बताइए।

उ०– राज्य के चार वैकल्पिक कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) बैंकिग, करेन्सी तथा मुद्रा का प्रबन्ध करना।
(ii) उद्योग-धन्धों की आर्थिक सहायता करना।
(iii) शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करना।
(iv) सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं चिकित्सा का उचित प्रबन्ध करना।

5. ''राज्य एक अनिवार्य बुराई है।'' इस कथन का आशय स्पष्ट कीजिए।

उ०– राज्य के कार्य-क्षेत्र संबंधी व्यक्तिवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य के समस्त संगठन के आधार व्यक्ति हैं। उन्हीं पर मानव समाज की नींव आधारित है। व्यक्तिवादी राज्य को आवश्यक बुराई मानते हैं। उनका उद्देश्य व्यक्ति को अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता प्रदान करना है। वे किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप को व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए घातक समझते हैं। व्यक्तिवादियों के अनुसार राज्य मनुष्य के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। यह अवसर पाने वाले व्यक्ति की स्वतन्त्रता को पूर्ण रूप से समाप्त कर सकता है। यदि मानव के अधिकार संकट में है तो उसके लिए भी राज्य ही उत्तरदायी है। इस प्रकार राज्य आवश्यक होते हुए भी एक बुराई है। जिसके प्रति व्यक्ति को सचेत रहना चाहिए। राज्य व्यक्ति के लिए भी आवश्यक है जब तक वह अपनी पूर्णता को नहीं पहुँच जाता। पूर्णता की स्थिति में पहुँचते ही उसके लिए राज्य की उपयोगिता समाप्त हो जाती है।

6. व्यक्तिवादी सिद्धान्त की कोई चार आलोचनाएँ बताइए।

उ०– व्यक्तिवादी सिद्धान्त की चार आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(i) राज्य का हस्तक्षेप अनिवार्य है।
(ii) प्रजातान्त्रिक युग में व्यक्तिवाद अनुपयोगी।
(iii) वैज्ञानिक तर्क दोषपूर्ण है।
(iv) प्रत्येक व्यक्ति अपने हित का निर्णायक नहीं है।

7. समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।

उ०– समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(i) समाजवाद समानता का द्योतक हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में जो आर्थिक विषमता दिखाई देती है समाजवाद उसका विरोध करता है। समाजवाद एक वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहता है। जिसमें अमीर-गरीब का भेदभाव समाप्त हो जाए। समाजवाद आर्थिक समानता पर बल देता है क्योंकि इसके बिना राजनीतिक लोकतन्त्र की स्थापना नहीं हो सकती। **लावेलये** के शब्दों में, ''सब समाजवादी सिद्धान्तों का ध्येय यह है कि सामाजिक दशाओं में अधिक समानता लाई जाए। समाजवाद सबको समान स्तर पर लाने वाला है।''

(ii) समाजवाद व्यक्ति की अपेक्षा समाज को प्रधानता देता है। अत: सामूहिक हित के समक्ष व्यक्तिगत हित का कोई महत्व नहीं है। समाज के हित में ही व्यक्ति का हित समाहित है और समाज में ही व्यक्ति पूर्णता प्राप्त कर सकता है।

(iii) समाजवाद के अनुसार भूमि, प्राकृतिक साधन, पूँजी और उत्पादन के साधनों पर मनुष्य का व्यक्तिगत अधिकार नहीं होना चाहिए। उन सबका स्वामी राज्य बने या राज्य उनको सर्वसाधारण के हित में नियन्त्रण करें। दूसरें शब्दों में जमींदारी प्रथा का अन्त होना चाहिए। और खानों आदि प्राकृतिक साधनों पर राज्य का स्वामित्व होना चाहिए।

(iv) निजी मुनाफा, लगान, सूद और किराया जैसे व्यक्तिगत लाभ व बिना परिश्रम की कमाई पर अधिक से अधिक प्रतिबन्ध लगाने चाहिए।

(v) पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त होना आवश्यक है, बड़े-बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए और छोटे-छोटे उद्योगों को सहकारिता के आधार पर चलना चाहिए। पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त हो जाने पर ही श्रमिकों के साथ न्याय हो सकता है और उन्हें अपने श्रम का समुचित पारिश्रमिक मिल सकता है।

(vi) प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यतानुसार कार्य लिया जाए और उसके परिश्रम के अनुसार पारिश्रमिक दिया जाए। ऐसे ही सिद्धान्तों को भारतीय संविधान के राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तों में स्थान दिया गया है और उसकी पूर्ति के लिए भारत सरकार ने समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने का ध्येय अपनाया है।

(vii) समाजवाद आर्थिक क्षेत्र में खुले मुकाबले तथा मनमाने उत्पादन का विरोध करता है पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादक लोग अपने माल को बाजार में बेचने के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं। अधिक लाभ कमाने की दृष्टि से वे माल की किस्म को खराब कर देने में भी संकोच नहीं करते। विज्ञापन आदि का सहारा लेकर वे अपने माल को बेचने का प्रयत्न करते है। अत: समाजवाद उत्पादन में प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग की स्थापना करना चाहता है।

8. समाजवाद की कोई चार आलोचनाएँ बताइए।

उ०– समाजवाद की चार आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(i) साम्राज्यवादी मनोवृत्ति से मुक्त न होना। (ii) इसमें नागरिक राज्य का दास बना रहता है।

(iii) यह समस्त कार्यभार राज्य पर डाल देता है। (iv) यह वर्ग-संघर्ष की ओर ले जाता है।

9. लोक-कल्याणकारी राज्य को परिभाषित कीजिए तथा इसके कोई तीन प्रमुख उद्देश्य भी बताइए।

उ०– लोक-कल्याणकारी राज्य का तात्पर्य एक ऐसे राज्य से है, जो अपने सभी नागरिकों को न्यूनतम जीवन-स्तर प्रदान करना अपना अनिवार्य उत्तरदायित्व समझता है।

सर्वहिकारी, सामाजिक सुरक्षा एवं आर्थिक सुरक्षा लोक-कल्याणकारी राज्य के तीन प्रमुख उद्देश्य हैं।

10. लोक-कल्याणकारी राज्य तथा समाजवादी राज्य में अन्तर बताइए।

उ०– लोक-कल्याणकारी राज्य तथा समाजवादी राज्य में अन्तर निम्नवत हैं—

(i) लोक-कल्याणकारी राज्य साधनों में विश्वास करता है जबकि समाजवादी राज्य सामाजिक क्रान्ति के द्वारा आधारित संरचना में परिवर्तन करके एक वर्गविहीन और शोषण-विहीन समाज की स्थापना के लिए वचनबद्ध होता है।

(ii) लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का आधार राज्य के ऐच्छिक कार्यों से संबंधित हैं जबकि समाजवादी राज्य में सब तथ्य अनिवार्य अथवा अनैच्छिक कार्यों में आते हैं। लोक-कल्याणकारी राज्य मानवीय मूल्यों की रक्षा अपने राजनीतिक उद्देश्यों के लिए करते हैं जबकि समाजवादी राज्य के अस्तित्व का आधार ही यह है।

(iii) लोक-कल्याणकारी राज्य शोषक वर्ग के मन को मानवीय आधारों पर परिवर्तित करने के विचार पर बल देता है जो एक परिकल्पनात्मक नीति शास्त्रीय आधार पर स्थित है, जबकि समाजवादी राज्य अधिक यथार्थवादी और भौतिकवादी आधारों पर इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है।

(iv) लोक-कल्याणकारी राज्य पुलिस का विकल्प तो बनाने की स्थिति में हो सकता है किन्तु वास्तव में सम्पत्ति और लाभ की समुचित व्यवस्था करने की स्थिति में नहीं होता। इसके विपरीत समाजवादी राज्य में यह समस्त कार्य राज्य को अनिवार्य रूप से निष्पादित करने के लिए सौंप दिए जाते हैं जिनमें, लोक-कल्याण एक स्वतन्त्र विचार बन जाता है।

(v) लोक-कल्याणकारी राज्य में निजी सम्पत्ति की अवधारणा को स्वीकार किया गया है और उत्पादन के साधनों पर कुछ व्यक्तियों के एकाधिकार को स्वीकार किया है जबकि समाजवादी राज्य में व्यक्तिगत सम्पत्ति को कोई स्थान नहीं दिया गया है और समस्त सम्पत्ति पर समाज के अधिकार को स्वीकार किया गया है।

11. लोक-कल्याणकारी राज्य के कोई चार कार्य बताइए।

उ०– लोक-कल्याणकारी राज्य के चार कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्याय व्यवस्था प्रदान करना। (ii) विदेश नीति का संचालन करना।

(iii) बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा प्रदान करना। (iv) यातायात एवं संचार की समुचित व्यवस्था करना।

12. मनु के अनुसार राज्य के कोई चार कार्यों का उल्लेख कीजिए।

उ०– मनु के अनुसार राज्य के चार कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) शिक्षा की व्यवस्था तथा उसका प्रसार करना।
(ii) बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करना।
(iii) आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना करना।
(iv) राज्य का आर्थिक विकास करना।

13. कौटिल्य के अनुसार राज्य के कोई चार प्रमुख कार्य बताइए।

उ०– कौटिल्य के अनुसार राज्य के चार प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) प्रजा की रक्षा करना।
(ii) पशुधन की सुरक्षा एवं संवर्धन करना।
(iii) राज्य की शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाए रखना।
(iv) शिक्षा की व्यवस्था करना।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. राज्य के कार्यक्षेत्र को विस्तारपूर्वक बताइए।

उ०– राज्य के कार्यक्षेत्र से तात्पर्य राज्य के उन कार्यों से है, जिनके द्वारा राज्य कानून के आधार पर मानवीय व्यवहार को नियन्त्रित तथा नियमित करने का प्रयास करता है। देश व काल की परिस्थितियाँ तथा विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओं के अनुसार राज्य के कार्य भी परिवर्तित होते रहते हैं। इसीलिए राज्य के कार्यक्षेत्र के विषय में सभी राजनैतिक विचारक एकमत नहीं रहे हैं, उदाहरणार्थ—व्यक्तिवादी विचारक राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित करना चाहते हैं। इनके अनुसार राज्य एक आवश्यक बुराई है। इसके विपरीत समाजवादी राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि करना चाहते हैं, परन्तु अराजकतावादी विचारक राज्य को पूर्ण रूप से ही समाप्त करना चाहते हैं, क्योंकि इसके अनुसार राज्य की कोई उपयोगिता नहीं है।

आधुनिक विचारक वर्तमान के राज्य के कार्यक्षेत्र को दो वर्गों के अन्तर्गत विभाजित करते हैं—

(i) राज्य के अनिवार्य कार्य
(ii) राज्य के वैकल्पिक कार्य

(i) राज्य के अनिवार्य कार्य– जिन कार्यों का सम्पादन राज्य को अनिवार्य रूप से करना पड़ता हैं, उन्हें राज्य के अनिवार्य कार्य कहा जाता है। इन कार्यों का सम्पादन करना राज्य के अपने अस्तित्व के लिए भी नितान्त आवश्यक है। राज्य के अनिवार्य कार्य निम्नलिखित हैं—

(क) परिवार में कानूनी संबंध स्थापित करना– राज्य का यह भी कर्त्तव्य है कि वह कानून का निर्माण कर पारिवारिक जीवन को सुखी तथा सामुदायिक जीवन को सुसंगठित करे। अत: पति-पत्नी, माता-पिता, और बच्चों के बीच कानूनी संबंध स्थापित करना भी उसका अनिवार्य कार्य है। इसके अन्तर्गत सम्पत्ति के क्रय-विक्रय और ऋण के लेन-देन इत्यादि के कानून सम्मिलित हैं।

(ख) न्याय का समुचित प्रबन्ध– देश में शान्ति का स्थापना पुलिस तथा सेना के बल पर ही नहीं हो सकती, बल्कि इसके लिए राज्य को कानून का उल्लंघन करने वालों को उचित दण्ड देने के लिए एक कुशल एवं स्वतन्त्र न्यायपालिका की व्यवस्था भी करनी पड़ती है।

(ग) अधिकार तथा कर्त्तव्यों का निर्धारण– नागरिक के अधिकार तथा कर्त्तव्यों की सीमा का निर्धारण करना और उन्हें विभिन्न प्रकार की राजनीतिक सुविधाएँ प्रदान करना भी राज्य का अनिवार्य कार्य है। वर्तमान लोक तंत्रीय युग में नागरिकों के अधिकार तथा कर्त्तव्यों का अत्यधिक महत्व हैं।

(घ) बाहरी आक्रमणों से देश की सुरक्षा– देश की सुरक्षा करना प्रत्येक राज्य का अनिवार्य कार्य है। यदि राज्य इस कार्य को नहीं करें तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। इस कार्य के लिए राज्य को जल, नभ तथा स्थल सेना रखनी पड़ती हैं। इसके साथ-साथ उसको अन्य राज्यों से मैत्रीपूर्ण संबंध बनाने का प्रयास करना पड़ता है जिससे आपातकाल में आवश्यकता पड़ने पर उनसे सहायता प्राप्त की जा सके।

(ङ) मुद्रा की व्यवस्था करना– राज्य का एक आवश्यक कार्य मुद्रा की व्यवस्था करना है। किसी देश की अर्थव्यवस्था वहाँ की मुद्रा व्यवस्था पर विशेष रूप से आधारित होती है। मुद्रा के बिना राज्य का कार्य नहीं चल सकता । वर्तमान में प्रत्येक देश में धन का अधिकांश लेन-देन बैंकों द्वारा किया जाता है और बैंकों पर सरकार का कठोर नियन्त्रण होता है।

(च) आन्तरिक शक्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना– राज्य का प्रमुख कार्य अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना, नागरिकों के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा, आन्तरिक उपद्रवों का दमन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा करना है। **मैकाइवर** के शब्दों में— ''राज्य केवल शान्ति एवं व्यवस्था का प्रबन्ध ही नहीं करता है। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह सर्वसाधारण की सुरक्षा एवं उनके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में सहयोग दें।'' इसके लिए राज्य को अपराध निश्चित करने तथा दण्ड देने की व्यवस्था करनी पड़ती है।

(छ) कर संग्रह करना– राज्य के कार्यों को सम्पादित करने के लिए प्रचुर धनराशि की आवश्यकता होती है। धन के अभाव में राज्य एक क्षण भी नहीं चल सकता है। धन प्राप्ति के लिए राज्य अनेक प्रकार के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर लगाता है। इस प्रकार कर लगाना और वसूल करना राज्य का एक अनिवार्य कार्य है।

(ii) राज्य के वैकल्पिक कार्य– डॉ० आशीर्वादम् ने कहा कि ''वैकल्पिक कार्य वे कार्य हैं जो राज्य के अस्तित्व और व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा के लिए अनिवार्य नहीं होते परन्तु वे सार्वजनिक कल्याण के लिए आवश्यक होते हैं।'' वैकल्पिक कार्यों में हम निम्नलिखित कार्यों को सम्मिलित कर सकते हैं—

(क) **बैंकिग, करैन्सी तथा मुद्रा का प्रबन्ध–** इस औद्योगिक युग में बैंकिग, करैन्सी तथा मुद्रा का महत्वपूर्ण स्थान है और राज्य का महत्वपूर्ण कर्त्तव्य है कि वह इन सबका प्रबन्ध करें। मुद्रा विनिमय की दर निश्चित करें तथा रिजर्व बैंक की स्थापना कर देश की अन्य आर्थिक संस्थाओं पर नियन्त्रण रखे।

(ख) **उद्योग-धन्धों की सहायता–** उद्योग-धन्धे राष्ट्र के आर्थिक जीवन की महत्वपूर्ण कुँजी है। अतएव वर्तमान युग में उद्योगों की सहायता करना राज्य का महत्वपूर्ण कार्य हैं। इस उद्देश्य से राज्य कारखानों की धन से सहायता करता है। औद्योगिक अन्वेषण केन्द्रों की स्थापना करता हैं। राष्ट्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण व्यवसायों का संचालन राज्य स्वयं करता है।

(ग) **शिक्षा का प्रबन्ध–** राज्य का दायित्व है कि वह अपने नागरिकों का नैतिक तथा बौद्धिक विकास करें। इसके लिए राज्य शिक्षा का प्रबन्ध करता है। आज विश्व के अधिकांश राज्यों में प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य तथा नि:शुल्क बना दिया गया है।

(घ) **यातायात का प्रबन्ध–** यातायात के साधन देश के आर्थिक विकास, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के प्राण हैं। जनता की सुविधा तथा देश के आर्थिक विकास के लिए यातायात के साधनों की प्रगति आवश्यक है। अतएव प्रत्येक राज्य सड़क, रेल, जलमार्ग, डाकतार, हवाई जहाज, टेलीफोन , मोटर बस सर्विस इत्यादि की व्यवस्था करता है।

(ङ) **मजदूरों के हितों की रक्षा–** मजदूरों के हितों की रक्षा करना भी राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य है ताकि पूँजीगत-वर्ग मजदूरों का शोषण नहीं कर सकें। इसके लिए राज्य फैक्ट्री-कानून तथा मजदूर कानून बनाकर कल-कारखानों पर नियन्त्रण रखता है और काम के अधिकतम घण्टे, न्यूनतम पारिश्रमिक मजदूरों की दशा में सुधार, इलाज, शिक्षा, सफाई इत्यादि के नियम बनाता है।

(च) **समाज सुधार–** समाज-सुधार के लिए प्रयास करना राज्य का एक आवश्यक कर्त्तव्य समझा जाता है। प्रत्येक देश के सामाजिक जीवन में कुछ ऐसी रूढ़ियाँ और कुरीतियाँ रहती हैं, जो व्यक्ति के जीवन की प्रगति में बाधक होती हैं। राज्य के कर्त्तव्य है कि इन्हें दूर कर सामाजिक जीवन की प्रगति में सहायक हो।

(छ) **संचार का प्रबन्ध–** नागरिकों के हित में राज्य को संचार का भी प्रबन्ध करना पड़ता है, इसके लिए राज्य डाक, तार, टेलीफोन, रेडियो, दूरदर्शन इत्यादि साधनों का संचालन करता है।

(ज) **व्यापार का नियन्त्रण–** वर्तमान युग में देश के व्यापार की प्रगति राज्य का आवश्यक तथा महत्वपूर्ण कार्य है। व्यापार की प्रगति के लिए राज्य मुद्रा पद्धति का संचालन करता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक समझौते करता है। नाप-तौल की व्यवस्था करता है, आयात कर लगाता है और युद्ध, अकाल तथा विषम परिस्थितियों में वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करता है।

(झ) **कृषि-सुधार–** कृषि प्रधान देशों की उन्नति तब तक नहीं हो सकती, जब तक कृषि की उन्नति न हो। अतएव राज्य को कृषि की उन्नति की ओर भी ध्यान देना पडता है। इसके लिए सिंचाई का प्रबन्ध, अच्छे बीज, अच्छी खाद, संकट के समय किसानों की सहायता, कृषि संबंधी नई-नई मशीनों और उपकरणों की व्यवस्था राज्य को करनी पड़ती है।

(ञ) **सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं चिकित्सा का प्रबन्ध–** नागरिकों को खुशहाल रखना राज्य का उद्देश्य है और खुशहाली की निशानी नागरिकों का स्वास्थ्य है। नागरिकों के स्वास्थ्य को उन्नत करने के लिए विश्व के सारे राष्ट्र, अस्पताल और चिकित्सालयों का प्रबन्ध करते हैं। बीमारियों को रोकना, संक्रमण रोगों की रोकथाम के लिए टीका आदि का प्रबन्ध करना तथा सार्वजनिक चिकित्सालयों के माध्यम से नि:शुल्क दवा आदि का प्रबन्ध करना राज्य का प्रमुख दायित्व है।

(ट) **निर्धन तथा अपाहिजों की रक्षा–** राज्य में कुछ ऐसे भी मनुष्य होते हैं, जो रोगी, अपाहिज तथा असहाय होने के कारण स्वयं अपनी आजीविका नहीं चला सकते। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि रोगियों, अपाहिजों तथा असहायों की सेवा करें। इसी उद्देश्य से राज्य अन्धों के गृह, पागलखाने, अस्पताल , अनाथालय इत्यादि का भी प्रबन्ध करता है।

इस प्रकार के ऐच्छिक कार्य सूचीबद्ध नहीं किए जा सकते। वस्तुत: वर्तमान युग में राज्य का कार्य-क्षेत्र निरन्तर बढ़ रहा है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव जीवन की जटिलता बढ़ती जा रही है और उसके परिणामस्वरूप राज्य के कार्यों की सूची भी लम्बी और विशाल हो रही है। हवा, पानी, बिजली, मादक पदार्थों पर नियन्त्रण एवं अन्य वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्था भी राज्य के कार्य हो गए हैं।

2. राज्य के प्रमुख उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।

उ०– ब्लंश्ली ने राज्य के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष उद्देश्यों में अन्तर किया है। राज्य का प्रत्यक्ष उद्देश्य राष्ट्रीय क्षमता का विकास और अप्रत्यक्ष उद्देश्य व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करना है। **लास्की** के अनुसार, ''राज्य का उद्देश्य व्यक्ति को वे सभी सुविधाएँ उपलब्ध कराना है जिनसे उसके व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास हो सके।''

उपर्युक्त विवरण के आधार पर राज्य के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

(i) सार्वजनिक हित के कार्य करना– आधुनिक काल में मानव जीवन अत्यधिक जटिल हो गया है। ऐसी स्थिति में यातायात, डाक व्यवस्था, मुद्रा चलन, उद्योगों की स्थापना तथा शिक्षा इत्यादि ऐसे कार्य हैं जिनका सार्वजनिक हित में निष्पादन करना राज्य के लिए आवश्यक हो गया है। इसके अलावा राज्य का उद्देश्य व्यक्तियों के शारीरिक एवं मानसिक स्तर में वृद्धि करना भी है। राज्य उन भौतिक परिस्थितियों का भी निर्माण करता है जिनमें नैतिक जीवन सम्भव हो सके।

(ii) शान्ति व्यवस्था तथा सुरक्षा की स्थापना– राज्य का उद्देश्य शान्ति व्यवस्था तथा सुरक्षा का ऐसा वातावरण तैयार करना है जिसमें व्यक्ति सुचारू रूप से अपना जीवन व्यतीत कर सके।

(iii) राज्य एवं व्यक्ति के मध्य उचित संबंधों की स्थापना– नागरिक जीवन की मूलभूत समस्या राज्य तथा व्यक्ति के मध्य उचित संबंधों की स्थापना है। इस दृष्टिकोण से राज्य का प्रमुख उद्देश्य है कि वह अपनी प्रभुसत्ता तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता के मध्य ऐसा सामंजस्य स्थापित करे जिससे एक ओर व्यक्ति की स्वेच्छाचारी एवं असामाजिक प्रवृत्ति पर प्रतिबन्ध लगे तथा दूसरी ओर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का स्वतंत्रतापूर्वक विकास कर सके।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा मानवीय सभ्यता का विकास– वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा मानवीय सभ्यता का विकास करना भी राज्य का एक उद्देश्य है। विज्ञान की प्रगति तथा राजनीतिक चेतना के विकास ने संसार को एक इकाई के रूप में ढाल दिया है। इससे अलग रहकर किसी भी राज्य द्वारा अपना विकास करना कठिन है।

वास्तव में, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ राज्य को प्रभावित करती रही है। इनमें परिवर्तन होने पर राज्य के स्वरूप तथा संगठन में भी परिवर्तन हो जाता है।

इसी प्रकार बदले हुए वातावरण तथा विचारधाराओं के कारण समय-समय पर राज्य के उद्देश्य से संबंधित विचारों में भी बदलाव होते रहते हैं । आधुनिक काल में लोक-कल्याणकारी शासन व्यवस्था को दृष्टिगत रखते हुए राज्य का उद्देश्य लोक-कल्याण करना माना गया है।

3. राज्यों के कार्यों के संबंध में व्यक्तिवादियों के दृष्टिकोण का परीक्षण कीजिए।

उ०– व्यक्तिवादी यह मानते हैं कि राज्य के समस्त संगठन के आधार व्यक्ति है। उन्हीं पर मानव समाज की नींव आधारित है। यह राज्य को आवश्यक बुराई मानते हैं। उनका उद्देश्य व्यक्ति को अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता प्रदान करना है। कि वे किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप को व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए घातक समझते हैं। व्यक्तिवादियों के अनुसार राज्य मनुष्य की स्वतंत्रता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। यह अवसर पाने पर व्यक्ति की स्वतंत्रता को पूर्ण रूप से समाप्त कर सकता है। यदि मानव के अधिकार संकट में है तो इसके लिए भी राज्य ही उत्तरदायी होगा। इस प्रकार आवश्यक होते हुए भी एक बुराई है जिसके प्रति व्यक्ति को सदैव सचेत रहना चाहिए। राज्य व्यक्ति के लिए भी आवश्यक है जब तक वह अपनी पूर्णता को नहीं पहुँच जाता। पूर्णता की स्थिति में पहुँचते ही उसके लिए राज्य की उपयोगिता समाप्त हो जाएगी।

व्यक्तिवादियों का कथन है कि ''कोई भी कानून नहीं होना चाहिए और राज्य का हस्तक्षेप कम-से-कम होना चाहिए। वे राज्य को केवल पुलिस कार्य ही सुपूर्द करना चाहते हैं, जिसमें देश की सुरक्षा एवं शान्ति और व्यवस्था की स्थापना, न्याय कार्य आदि सम्मिलित हैं।''

राज्य के कार्यों के संबंध में व्यक्तिवादियों का दृष्टिकोण निम्न प्रकार हैं—

(i) राजनीतिक तर्क– व्यक्तिवाद का राजनीतिक सिद्धान्त तो सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त से प्रादुभूर्त हुआ, जिसका प्रयोग राजतंत्र एवं प्रजातंत्र के संघर्ष के सिलसिले में दैवी सिद्धान्त को खण्डित करने के लिए किया गया था। उसके अनुसार मनुष्य जन्म से ही स्वतन्त्र एवं समान था कुछ प्राकृतिक अधिकार भी उसे प्राप्त थे। राज्य तो उनके पारस्परिक समझौते या अनुबन्धों के द्वारा स्थापित एक निश्चित कृत्रिम संस्था है। राज्य का प्रयोजन तो लोगों के अधिकारों को सुरक्षित रखना तथा उन्हें प्रत्याभूत करना था। तद्नुसार इसके कार्य तो इसी नकारात्मक उद्देश्य तक ही सीमित रहने चाहिए तथा इस सीमा से यदि कुछ भी अधिक इसके कार्य क्षेत्र में प्रसार होता है तो वह जनता और सरकार के बीच ऐसे अनुबन्धों का उल्लंघन ही होगा। यदि उनके स्वाभाविक अधिकारों के साथ कुछ भी हस्तक्षेप होता है तो क्रूर या सत्ता करने वाले राजकीय अधिकारों का विरोध करने में जनता सही ही रहती है। प्रजातंत्र और व्यक्तिवाद का अभ्युदय एक साथ हुआ। लोगों ने शासिन होना चाहा, लेकिन साथ-ही-साथ, जितना कम हो सके उतना कम शासित होना भी चाहा। उनका विश्वास था कि सर्वोत्तम शासन वही है, जिसमें सबसे कम शासन की मात्रा होती है।

(ii) वैज्ञानिक दृष्टिकोण– जीव-विज्ञान के विद्वानों का कहना है कि संसार में प्राणिमात्र में जीवन के लिए संघर्ष हो रहा है। इसमें श्रेष्ठतम व्यक्ति ही बच जाते हैं और शेष नष्ट हो जाते हैं। जो व्यक्ति अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बना लेता है

उसी के जीवन की सम्भावना रहती है। **हर्बर्ट स्पेन्सर** इसी विचार का समर्थक है। संसार में जीवन के लिए संग्राम होता रहता है, जो शक्तिशाली हैं वे बच जाते हैं तथा कमजोर नष्ट हो जाते हैं। उपयुक्त जीव जीवित रहे यह प्रकृति का सिद्धान्त हैं। इसी नियम के अनुसार अयोग्य एवं बेकार व्यक्तियों के नष्ट होने से एक शक्तिशाली एवं उन्नतिशील राष्ट्र की स्थापना सम्भव हो सकती है।

(iii) आर्थिक दृष्टिकोण– व्यक्तिवाद के पक्ष में आर्थिक तर्क यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आर्थिक हानि व लाभ को अच्छी तरह समझता है। इसलिए उसे स्वेच्छापूर्वक कोई भी उद्योग और व्यवसाय करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए, जिससे वह अपनी शक्ति के अनुसार, धनोपार्जन कर सके। इससे समाज की उन्नति होगी। जब प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक धन अर्जित करेगा तो राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से समृद्ध होगा। व्यवसाय तथा उद्योग-धन्धों में प्रतियोगिता होने के कारण उत्पादन बढेगा और वस्तुओं के मूल्य में भी कमी होगी। इससे समाज के लोगों को सस्ते दामों पर प्रत्येक वस्तु मिल सकेगी। राज्य के हस्तक्षेप से कृत्रिम आर्थिक कठिनाईयाँ बाधाएँ व संकट उत्पन्न होते हैं, इससे वस्तुओं के मूल्य में भी वृद्धि हो जाएगी तथा चोर-बाजारी का भी प्रचार होगा। देश के उद्योग-धन्धों में तभी उन्नति हो सकती है जबकि राज्य का उस पर कोई प्रतिबन्ध न हो। इस प्रकार देश की आर्थिक दशा बहुत अच्छी हो जाएगी। इसलिए राज्य को मूल्यों पर नियन्त्रण नहीं लगाना चाहिए और आर्थिक गतिविधियों को स्वच्छन्द छोड़ देना चाहिए।

(iv) नैतिक दृष्टिकोण– प्रत्येक व्यक्ति का पृथक व्यक्तित्व और विशेषता होती है। राज्य को चाहिए कि वह व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करें। इस स्वतंत्र वातावरण में व्यक्ति अपनी उन्नति कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपना हित अच्छी प्रकार से सोच सकता है। राज्य के अनुचित हस्तक्षेप से व्यक्ति आलसी और अकर्मण्य हो जाता है। उसकी क्रियात्मक भावना नष्ट हो जाती है। समाज में अकर्मण्यता आने से समाज की प्रगति रुक जाती है और उसमें स्थिरता आ जाती है। अत: राज्य को अनुबन्ध प्रचलित करने, शान्ति स्थापित करने तथा अपराधियों को दण्ड देने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य करने के लिए उद्यत नहीं होना चाहिए।

(v) अनुभव का तर्क– व्यक्तिवादियों के अनुसार इतिहास इस बात का साक्षी है कि राज्य कभी भी व्यक्ति का सफल मार्ग दर्शक नहीं रहा। इतिहास में ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि राज्य द्वारा खाद्य सामग्री, व्यापार वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध, श्रम-जीवियों के संघों का निषेध करने वाले नियम बनाए गए। इस संबंध में जो कानून बनाए गए वे अत्यन्त कष्टप्रद सिद्ध हुए, किन्तु फिर भी जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इन कठोर नियमों का निर्माण किया गया था, उसके विषय में **बकल** ने इस प्रकार के प्रतिबन्धों की निस्सारता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि ''शासक वर्ग ने जिस सीमा तक उद्योग की स्वतंत्रता में बाधा डाली और इसके परिणामस्वरूप जो हानि हुई वह इतनी असाधारण थी कि विवेकशील मनुष्य यह देखकर आचर्श्य करने लगे कि लगातार इतनी बाधाओं के होते हुए भी सभ्यता ने इतनी प्रगति किस प्रकार की।''

(vi) राज्य की असमर्थता का तर्क– व्यक्तिवादियों का यह भी तर्क है कि राज्य पर कार्यों का काफी भारी बोझ रहता है। अत: वह प्रत्येक कार्य को उतनी कुशलता एवं शीघ्रता से नहीं कर सकता जितना कि व्यक्ति उन कार्यों को कर सकते हैं। उनके विचार से राज्य पहले से ही दायित्वों के बोझ से दबा जा रहा है। जिन्हें पूर्ण कराने में वह असमर्थ हैं। राज्य का प्रायोजन तो लोगों के अधिकारों की रक्षा करना एवं उनको सुरक्षा की गारन्टी देना है। बहुत से ऐसे कार्य हैं, जिन्हें यदि सैद्धान्तिक उपक्रम के ऊपर छोड़ दिया जाए तो वे अधिक उत्तम रीति से सम्पादित होंगे, क्योंकि इस विषय में व्यक्तिगत लोगों का ही प्रत्यक्ष स्वार्थ रहेगा तथा उनके प्रगतिशील एवं उद्यमी होने की अधिक सम्भावना होगी।

इस प्रकार उपरोक्त तर्क व्यक्तिवाद के समर्थन में प्रस्तुत किए जाते हैं। इन सबका सार यही है कि राज्य को प्रत्येक क्षेत्र में अपना कार्यक्षेत्र संकुचित रखना चाहिए तथा व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतंत्रता प्रदान करनी चाहिए।

4. व्यक्तिवाद के गुण व दोषों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

उ०– व्यक्तिवादी के गुण विशेषताएँ– राज्यों के कार्य संबंधी व्यक्तिवाद सिद्धान्त के गुण निम्नलिखित हैं—

(i) व्यक्तिवाद राज्य को एक आवश्यक बुराई माना जाता है।
(ii) व्यक्तिवाद राज्य को साधन मानता है।
(iii) व्यक्तिवाद राज्य को साध्य अथवा लक्ष्य मानता है तथा व्यक्तित्व विकास पर बल देता है।
(iv) व्यक्तिवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता पर अत्यधिक बल देता है।
(v) व्यक्तिवाद राज्य के कार्य को सीमित रखता है।

व्यक्तिवाद के दोष– व्यक्तिवाद के निम्नलिखित दोष हैं—

(i) प्रजातांत्रिक युग में व्यक्तिवाद अनुपयोगी है, यह केवल कल्पना मात्र प्रतीत होता है।
(ii) व्यक्तिवाद के अधिकांश समर्थकों के विचारों में भिन्नता है वे राज्य के कार्य क्षेत्र के विषय में एकमत नहीं हैं।
(iii) व्यक्तिवादी स्वतंत्रता का अर्थ गलत लगाते हैं।
(iv) व्यक्तिवादियों का 'उपर्युक्त को जीवित रहने दो' का सिद्धान्त नैतिकता के विरूद्ध है। इनका कथन है कि ''केवल शक्तिशाली और योग्य व्यक्तियों को ही जीवित रहने का अधिकार है'' सर्वथा अनुचित है।

(v) व्यक्तिवादियों का यह विचार कि ''प्रत्येक व्यक्ति अपने हित का उचित निर्णायक नहीं है।'' सर्वथा ठीक नहीं है।

(vi) व्यक्तिवादी सिद्धान्त व्यवहारिक दृष्टिकोण से अनुचित है।

5. ''राज्य एक आवश्यक बुराई है।'' क्या आप इस कथन से सहमत हैं? अपने विचारों के पक्ष में तर्क दीजिए।

उ०– आज का युग प्रजातंत्र का युग है। शासन का संचालन प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है। अत: व्यक्तिवाद आज केवल एक कल्पना मात्र ही प्रतीत होता है। आधुनिक युग के लिए यह बिलकुल भी उपयुक्त नहीं है। व्यक्तिवादी राज्य को एक आवश्यक बुराई बतलाते हैं, किन्तु राज्य एक आवश्यक बुराई न होकर सकारात्मक अच्छाई है। **अरस्तू** के अनुसार, ''राज्य समस्त विद्वानों, समस्त कलाओं, समस्त गुणों तथा समस्त पूर्णताओं में सहायक है।'' व्यक्तिवादी स्वतंत्रता का अर्थ गलत लगाते हैं। वास्तव में स्वतन्त्रता का अर्थ हस्तक्षेप का अभाव नहीं, अपितु उन अवस्थाओं का होना है जिनमें मनुष्य अपने व्यक्तित्व का अधिक से अधिक विकास कर सके। इसके साथ ही व्यक्तिवादियों का कथन है कि सरकार को व्यापार और उद्योग धन्धों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यदि सरकार कारखानों पर नियन्त्रण नहीं रखेगी और मनुष्यों को मनमानें ढंग से धन कमाने देगी तो पूँजीवाद का प्रसार बढ़ेगा। इसके परिणाम बहुत घातक होंगे। मजदूर ऐसी दशा में मिल मालिकों को दास बन जाएगा और उन्हीं की चक्की में पिसता रहेगा। आधुनिक युग में यह बात भी असम्भव है कि राज्य के व्यापार के क्षेत्र में हस्तक्षेप न करें और उसके लिए नियम न बनाए। यदि व्यापार पर राज्य का नियन्त्रण नहीं होगा तो व्यापारी मनमाना भाव बढ़ाकर वस्तुओं का मूल्य बहुत ऊँचा ले जाएँगे, जिससे सर्वसाधारण को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ेगा। व्यक्तिवादियों ने राज्य के नियन्त्रण के दोषों की अतिरंजित विवेचना की है जो कि उचित प्रतीत नहीं होती है। अतिशासन अभिशाप नहीं हो सकता, किन्तु सरकार का रहना अनिवार्य नहीं, अपितु वास्तविक रूप में कल्याणकारी भी हैं। प्रत्येक व्यक्ति के स्वतंत्र कार्यों पर विवेकपूर्ण प्रतिबन्धों के रहने से सभी के अधिकारों की पूर्ण उन्नति होती है। आधुनिक विश्व में जटिल जीवन के लिए नियन्त्रण एवं नियमन का होना नितान्त आवश्यक है।

आधुनिक राज्य कल्याणकारी राज्य है और उसके कार्यक्षेत्र भी बहुत बढ़ गए है। व्यक्तिवादियों का यह कहना है कि राज्य को केवल देश की सुरक्षा एवं शान्ति व्यवस्था के लिए ही कार्य करना चाहिए। अन्य कार्य उसे समाज के व्यक्तियों के लिए छोड़ देने चाहिए। यह धारणा आधुनिक युग के लिए किसी भी दृष्टि से उचित नहीं, राज्य को वे सभी कार्य करने चाहिए जो व्यक्ति और समाज की भलाई एवं विकास के लिए आवश्यक है। राज्य के कार्यों को सीमित करना ठीक नहीं है, वास्तव में इतिहास से यह बात स्पष्ट रूप से प्रमाणित होती है कि अतीत काल में सभ्यता की प्रगति अधिकांश में राज्य द्वारा बुद्धिमत्ता निर्देशित कार्यों में हुई है। अत: राज्य वास्तव में एक परम उपयोगी संस्था है। इस विवेचना का यही निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्तिवाद आधुनिक युग के लिए किसी भी प्रकार से उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

6. राज्य की कार्य क्षेत्र संबंधी समाजवादी सिद्धान्त को विस्तार से समझाइए।

उ०– **समाजवादी सिद्धान्त–** समाजवाद वर्तमान में सर्वाधिक लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण विचारधारा है। इसकी लोकप्रियता ने ही इसे अनिश्चितता का रूप प्रदान किया है। यह व्यक्तिवाद के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिक्रिया है। समाजवाद एक राजनीतिक दर्शन और विशद् आन्दोलन है। समाजवाद का प्रयोग एक विशेष व्यवस्था एवं जीवन प्रणाली के लिए किया जाता है। विद्वानों ने समाजवाद का कई अर्थों में प्रयोग किया है। इसी कारण **जोड** ने लिखा है– ''समाजवाद एक ऐसी टोपी बन गई है, जिसका रूप बिगड़ चुका है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उसे पहनता है।''

समाजवाद की उत्पत्ति '**सोश्यस**' शब्द से हुई है जिसका अर्थ समाज है। इस प्रकार समाजवाद मूलत: समाज से संबंधित है तथा न्यायपूर्ण समाज की स्थापना करने के लिए प्रयत्नशील है। समाजवाद एक व्यापक विचारधारा है जिसकी कोई निश्चित परिभाषा करना कठिन है। कुछ विद्वान समाजवाद को एक ओर नैतिकता का आदर्श तथा समाज सुधार का सिद्धान्त मानते हैं तो दूसरी ओर कुछ विद्वान इसके क्रान्तिकारी स्वरूप में आस्था रखते हैं। समाजवाद के विषय में **रैम्जे म्योर** ने लिखा है–''यह एक गिरगिट के समान है, जो परिस्थितियों के अनुसार अपना रंग बदलता रहता है।''

समाजवाद 'पूँजीवाद एवं धार्मिक असमानता' के विरोध में विकसित हुआ। समाजवादी लोग व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व देते हैं तथा मानव सभ्यता को अपना लक्ष्य मानते हैं। समाजवाद का उद्देश्य पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर एक ऐसी सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना है जिसमें राष्ट्रीय साधनों पर प्रभुत्व किसी वर्ग विशेष का नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज का हो। वास्तव में 'समाजवाद एक राजनीतिक सिद्धान्त व राजनीतिक आन्दोलन दोनों हैं।

इसके मूल सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

(i) समाजवाद समानता का द्योतक हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में जो आर्थिक विषमता दिखाई देती है समाजवाद उसका विरोध करता है। समाजवाद एक वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहता है। जिसमें अमीर-गरीब का भेदभाव समाप्त हो जाए। समाजवाद आर्थिक समानता पर बल देता है क्योंकि इसके बिना राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना नहीं हो सकती। **लावेलये** के शब्दों में, ''सब समाजवादी सिद्धान्तों का ध्येय यह है कि सामाजिक दशाओं में अधिक समानता लाई जाए। समाजवाद सबको समान स्तर पर लाने वाला है।''

(ii) समाजवाद व्यक्ति की अपेक्षा समाज को प्रधानता देता है। अत: सामूहिक हित के समक्ष व्यक्तिगत हित का कोई महत्व नहीं है। समाज के हित में ही व्यक्ति का हित समाहित है और समाज में ही व्यक्ति पूर्णता प्राप्त कर सकता है।

(iii) समाजवाद के अनुसार भूमि, प्राकृतिक साधन, पूँजी और उत्पादन के साधनों पर मनुष्य का व्यक्तिगत अधिकार नहीं होना चाहिए। उन सबका स्वामी राज्य बने या राज्य उनको सर्वसाधारण के हित में नियन्त्रण करें। दूसरें शब्दों में जमींदारी प्रथा का अन्त होना चाहिए। और खानों आदि प्राकृतिक साधनों पर राज्य का स्वामित्व होना चाहिए।

(iv) निजी मुनाफा, लगान, सूद और किराया जैसे व्यक्तिगत लाभ व बिना परिश्रम की कमाई पर अधिक से अधिक प्रतिबन्ध लगाने चाहिए।

(v) पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त होना आवश्यक है, बड़े-बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए और छोटे-छोटे उद्योगों को सहकारिता के आधार पर चलना चाहिए। पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त हो जाने पर ही श्रमिकों के साथ न्याय हो सकता है और उन्हें अपने श्रम का समुचित पारिश्रमिक मिल सकता है।

(vi) प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यतानुसार कार्य लिया जाए और उसके परिश्रम के अनुसार पारिश्रमिक दिया जाए। ऐसे ही सिद्धान्तों को भारतीय संविधान के राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तों में स्थान दिया गया है और उसकी पूर्ति के लिए भारत सरकार ने समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने का ध्येय अपनाया है।

(vii) समाजवाद आर्थिक क्षेत्र में खुले मुकाबले तथा मनमाने उत्पादन का विरोध करता है पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादक लोग अपने माल को बाजार में बेचने के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं। अधिक लाभ कमाने की दृष्टि से वे माल की किस्म को खराब कर देने में भी संकोच नहीं करते। विज्ञापन आदि का सहारा लेकर वे अपने माल को बेचने का प्रयत्न करते हैं। अत: समाजवाद उत्पादन में प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग की स्थापना करना चाहता है।

समाजवाद के पक्ष में तर्क– जब मानव जीवन की जटिल गुत्थियों को सुलझाने में व्यक्तिवाद निष्फल हो गया तब आर्थिक विषमताओं से पीड़ित मानव जाति ने समाजवाद के रूप में एक नवीन जीवन दर्शन को अपनाया। इसके समर्थन में अनेक तर्क दिए गए है। इनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(i) साम्राज्यवाद का विरोधी– समाजवाद औपनिवेशिक परतंत्रता, शोषण एवं साम्राज्यवाद का विरोधी एवं राष्ट्रीय चेतना का समर्थक है। **लेनिन** के मतानुसार, ''साम्राज्यवाद पूँजीवाद का अन्तिम चरण है।''

समाजवादियों की मान्यता है कि जिस प्रकार पूँजीवाद में व्यक्तिगत शोषण होता है ठीक उसी प्रकार साम्राज्यवाद में राज्य अथवा राज्यों को राजनीतिक एवं आर्थिक रूप से परतंत्र बनाकर शोषित किया जाता है। इसलिए समाजवादी सम्पूर्ण संसार के शोषण को समाप्त करना चाहते हैं।

(ii) समाजवाद में सम्पत्ति का अपव्यय नहीं होता– व्यक्तिवादी एवं पूँजीवादी व्यवस्था में खुली प्रतियोगिता होती है। प्रचार, विज्ञापन तथा अन्य क्षेत्रों पर अत्यधिक धनराशि व्यय करनी पड़ती है, जिससे वस्तु के लागत मूल्य में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। समाजवादी व्यवस्था में खुली प्रतियोगिता को स्थान पर सहकारिता पर विशेष बल दिया जाता है। अत: प्रचार इत्यादि पर होने वाले व्यय की आवश्यकता नहीं होती तथा मितव्ययिता आ जाती है।

(iii) श्रम तथा समाज पर अत्यधिक जोर– समाजवाद श्रम तथा समाज सेवा पर अत्यधिक जोर देता है। समाजवाद व्यक्ति-हित के स्थान पर सामाजिक सेवा चाहता है। इस विचारधारा के अनुयायियों के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति को उसके श्रम के अनुरूप उचित पारिश्रमिक तथा प्रोत्साहन मिलना चाहिए। समाजवाद में आलस्य एवं अकर्मण्यता हेतु कोई स्थान नहीं है। समाजवादी विचारधारा 'जो कार्य नहीं करेगा, वह खाएगा भी नहीं' सिद्धान्त पर आधारित है। इसके विपरीत, पूँजीवादी व्यवस्था अकर्मण्यता की जननी है।

(iv) लोकतंत्रीय विचारधारा– समाजवाद पूँजी के समान तथा न्यायोचित वितरण पर अत्यधिक बल देता है और समाज में सामाजिक एवं आर्थिक समानता स्थापित करके नागरिकों के सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकारों को मान्यता प्रदान करता है। इस प्रकार समाजवाद और लोकतन्त्र एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों का लक्ष्य मानव कल्याण एवं समानता है तथा समानता समाजवाद और लोकतंत्र का मूलमंत्र है। अत: समाजवाद एक लोकतंत्रीय विचारधारा है।

(v) सभी को उन्नति के समान अवसर– समाज सभी लोगों को उन्नति हेतु समान अवसर प्रदान करने का समर्थक है। इस व्यवस्था में कोई विशेष सुविधासम्पन्न वर्ग नहीं होगा। सभी लोगों को समान रूप से अपनी उन्नति एवं विकास के अवसर प्राप्त होंगे। इस प्रकार समाजवादी व्यवस्था स्वाभाविक एवं न्यायोचित हैं।

(vi) शोषण का अन्त– समाजवाद श्रमिकों एवं गरीबों के शोषण का विरोध करता है। पहले यह मान्यता थी कि श्रमिकों को शोषित एवं गरीब होना उसकी नियति है, लेकिन समाजवाद ने यह स्पष्ट कर दिया कि पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपतियों के षडयन्त्रों के कारण ही गरीबों एवं श्रमिकों का शोषण होता हैं। समाजवाद शोषण के अन्त में आस्था रखने वाली विचारधारा है। इसलिए विश्व के श्रमिक, किसान एवं बहुसंख्यक गरीब इसका समर्थन करते हैं।

अन्त में कहा जा सकता है कि समाजवाद राज्य के कार्य क्षेत्र की दृष्टि से सर्वोत्तम सिद्धान्त है। यह एक न्यायपूर्ण तथा लोकतान्त्रिक विचारधारा है। समाजवाद का विश्लेषण करते हुए **हेर बेब्ले** ने कहा है— ''समाजवाद वस्तुत: दर्शन का एक पूरा

संसार है। यह धर्म क्षेत्र में नागरिकता का, राज्य के क्षेत्र में लोकतंत्रात्मक गणराज्य का, उद्योग के क्षेत्र में औद्योगिक समष्टिवाद का, नैतिकता के क्षेत्र में एक अनन्त आशावाद का, अध्यात्मवाद के क्षेत्र में एक प्रकृतिवादी वस्तुवाद का तथा पारिवारिक एवं वैवाहिक बन्धनों के लगभग पूर्ण अन्त का सूचक है।''

7. समाजवादी राज्य की आलोचनाएँ बताइए।

उ०– समाजवादी राज्य व्यवस्था बहुत श्रेष्ठ है और कुछ देशों में इसके लाभकारी परिणाम मिले हैं। किन्तु इसके आलोचकों की भी कमी नहीं है। समाजवादी राज्य की आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(i) साम्राज्यवादी मनोवृत्ति से मुक्त न होना– पूँजीवादी राज्यों के समान समाजवादी राज्य भी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति से मुक्त नहीं होते। अपने उत्पादन को विकसित देशों में बेचने के अभिप्राय से वे उसको हड़पना चाहते हैं। इसमें उन्हें अन्य समाजवादी राज्यों से मुकाबला करना पड़ता है, जिससे तनाव पैदा हो जाता है, जो समय पाकर युद्ध अथवा महायुद्ध का रूप धारण कर सकता है, परन्तु आज भी सभी छोटे और बड़े राष्ट्र युद्ध के भयंकर परिणामों से परिचित हैं और वे युद्ध नहीं चाहते।

(ii) इसमें नागरिक राज्य का दास बन जाता है– समाजवादी राज्य में नागरिक राज्य का दास बन जाता है और उसकी स्वतन्त्र इच्छा का पूर्णतया ह्रास हो जाता है।

(iii) यह समस्त कार्य भार राज्य पर डाल देता है– समाजवाद समस्त कार्यों का भार राज्य पर डाल देता है, किन्तु वह इस बात को भूल जाता है कि राज्य के कार्यों का भार पहले से ही बहुत है और वह प्रत्येक कार्य को भली-भाँति नहीं कर सकता।

(iv) यह वर्ग-संघर्ष की ओर ले जाता है– इसके कुछ आलोचकों को कथन है कि यह हमें वर्ग-संघर्ष की ओर ले जाता है और यह निर्धनों का धनवानों पर एक प्रकार का आक्रमण है।

(v) हिंसात्मक प्रचार– समाजवाद के क्रियात्मक रूप में हिसात्मक प्रचार होता है।

(vi) व्यक्तिगत सम्पत्ति की समाप्ति– समाजवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त करना चाहता है, किन्तु सम्पत्ति के अभाव में व्यक्ति कोई भी उद्योग मन लगाकर नहीं करेगा। निजी लाभ की भावना लोगों के हृदय से विलीन हो जाएगी तो उनकी उदासीनता में और वृद्धि होगी। इससे समाज के उद्योग-धन्धों को क्षति पहुँचेगी।

(vii) राज्य के संचालक स्वेच्छाचारी बन जाते हैं– इस व्यवस्था में राज्य के संचालक मनमानी करेंगे और जनहित को छोड़कर अपने स्वार्थों की पूर्ति करने में लग जाएँगे।

(viii) प्रकृति ने किसी भी व्यक्ति को एक समान नहीं बनाया है– समाजवाद मानव समानता पर बल देता है, परन्तु वह इस बात को भूल जाता है कि प्रकृति ने किसी भी व्यक्ति को एक समान नहीं बनाया है।

(ix) समाजवाद एक टोपी के समान है– समाजवाद की आलोचना करते हुए **सी०ई०एम० जोड** ने लिखा है, ''समाजवाद उस टोप के समान है, जिसे सभी पहनते है, इसलिए उसने अपना स्वरूप खो दिया है।''

इस कथन का अभिप्राय यह है कि समाजवाद के संबंध में सबकी धारणाए भिन्न-भिन्न धारणाओं के समाजवादी विचारकों को पृथक-पृथक भागों में विभक्त कर दिया गया है। इसलिए समाजवाद के संबंध में कोई निश्चित रूपरेखा नहीं खीची जा सकती, जिसके कारण समाजवाद का स्वरूप टोपी के समान हो गया है।

8. लोक-कल्याणकारी राज्य से आप क्या समझते हैं। इसके प्रमुख उद्देश्य बताइए।

उ०– लोक-कल्याणकारी राज्य का आशय ऐसे राज्य से है जिसमें शासन की शक्ति का प्रयोग किसी वर्ग विशेष के कल्याणार्थ न होकर सम्पूर्ण जनसाधारण के कल्याणार्थ किया जाता है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि वह राज्य जो सम्पूर्ण जनता को आधार मानकर लोकतंत्रीय व्यवस्था द्वारा सम्पूर्ण जनसाधारण के कल्याण हेतु समस्त प्रकार के कार्य करता है, लोक-कल्याणकारी राज्य कहलाता है।

लोक-कल्याणकारी राज्य के उद्देश्य– उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कल्याणकारी राज्य के निम्नलिखित उद्देश्य कहे जा सकते हैं—

(i) सर्वहितकारी– लोक-हितकारी राज्य को केवल अपने राष्ट्र की उन्नति की बात ही नहीं सोचनी चाहिए, अपितु समस्त विश्व और मानव मात्र के कल्याण की योजना बनानी चाहिए। उसका दृष्टिकोण व्यापक होना चाहिए। लोक-हितकारी राज्य का वास्तविक आदर्श तभी पूर्ण समझा जा सकता है जब उसका उद्देश्य सर्वहितकारी हो। 'वसुधैव कुटुम्बकम' अर्थात समस्त विश्व ही कुटुम्ब है का आदर्श उसका मूलमन्त्र होना चाहिए। केवल अपने राष्ट्र की उन्नति का विचार लोक-हितकारी राज्य के आदर्श के प्रतिकूल है, उसका दृष्टिकोण तो अन्तर्राष्ट्रीय होना चाहिए।

(ii) सामाजिक सुरक्षा– सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था करना लोक-हितकारी राज्य का कर्त्तव्य है। इसकी उपलब्धि के लिए जाति, रंग तथा वंश पर आधारित व्यक्तिगत भेदों को समाप्त करना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि कल्याणकारी राज्य के अनुसार समाज में जन्म लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए जीवन संबंधी सुखों की प्राप्ति का समान अधिकार है। इसके लिए यह आवश्यक है कि कल्याणकारी राज्य को सामाजिक समानता की स्थापना करनी चाहिए और सबको उन्नति के समान अवसर प्रदान करने चाहिए।

(iii) आर्थिक सुरक्षा– कल्याणकारी राज्य का सर्वप्रमुख कर्त्तव्य व्यक्ति की आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था करना है क्योंकि आर्थिक सुरक्षा के अभाव में राजनीतिक सुरक्षा का कोई महत्व नहीं है। इसी कारण इस प्रकार के राज्य में आर्थिक व्यवस्था के सुधार पर अधिक बल दिया जाता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का विचार है कि समाज में प्रचलित आर्थिक विषमताओं को दूर करना राज्य का कर्त्तव्य है। राज्य की आर्थिक व्यवस्था में ऐसा सुधार होना चाहिए, जिससे सम्पत्ति का वितरण अधिक न्यायसंगत ढंग से किया जा सके। सभी व्यक्तियों को काम देना राज्य का कर्त्तव्य है । इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति की इतनी आय की व्यवस्था करना भी राज्य का कर्त्तव्य है कि वह अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं को सरलतापूर्वक पूरी कर सके। आर्थिक शक्ति को सर्वसाधारण में बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि राज्य अपने नागरिकों के लिए एक न्यूनतम आर्थिक स्तर की उपलब्धि की व्यवस्था करे। सम्पत्ति और आय के क्षेत्र में विषमता को न्यूनतम करना कल्याणकारी राज्य का प्रमुख उद्देश्य है।

(iv) सार्वजनिक सुरक्षा– व्यक्ति के लिए राजनैतिक सुरक्षा की व्यवस्था करना लोक-हितकारी राज्य का कर्त्तव्य है। यद्यपि अपना आचरण सामान्य इच्छा के अनुकूल बनाए रखना तथा स्वयं को उसके अधीन मानना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है, तथापि उसे इस बात की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए कि वह उस सामान्य इच्छा के निर्माण में विचार अभिव्यक्त, प्रचार एवं वैधानिक विरोध द्वारा सहयोग प्रदान कर सके। इसके लिए लोकतंत्रात्मक व्यवस्था की स्थापना आवश्यक होती है, क्योंकि इस प्रकार की शासन-प्रणाली में ही राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था करना सम्भव होता है।

(v) समाज की सर्वतोन्मुखी उन्नति– राज्य का कर्त्तव्य केवल आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था, राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था, सामाजिक समानता की स्थापना तथा सर्वहितकारी नीति का अनुसरण करना ही नहीं हैं, अपितु कल्याणकारी राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने नागरिकों के सामाजिक, बौद्धिक तथा नैतिक कल्याण के लिए भी समुचित व्यवस्था करे। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि प्रत्येक नागरिक के लिए उन आवश्यक परिस्थितियों को सुलभ बनाए जिन पर प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है और जिसके अभाव में वह अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता है और न ही अपनी प्राकृतिक शक्तियों का अधिक से अधिक उपयोग ही कर सकता है। राज्य को कला, साहित्य तथा विज्ञान की उन्नति में प्रोत्साहन देना चाहिए, क्योंकि वे व्यक्ति और राज्य के जीवन के विकास में सहायक होते हैं। शिक्षा की व्यापक व्यवस्था करना, सांस्कृतिक उत्थान के लिए सुविधाएँ प्रदान करना तथा उन सामाजिक और नैतिक प्रथाओं एवं परिपाटियों को दूर करना जिनसे व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में बाधा पड़ती है। लोक-हितकारी राज्य का कर्त्तव्य बतलाया गया है।

मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करना लोक-हितकारी राज्य का परम कर्त्तव्य है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री **क्राउथर** का कथन है कि, ''नागरिकों के लिए अधिकार रूप में उन्हें स्वस्थ बनाए रखने के लिए पर्याप्त भोजन की व्यवस्था की जानी चाहिए। निवास, वस्त्र आदि के न्यूनतम जीवन स्तर की ओर से उन्हें चिन्ता रहित होना चाहिए और बेरोजगारी, बीमारी तथा वृद्धावस्था के दु:ख में उनकी रक्षा करनी चाहिए।''

9. लोक-कल्याणकारी राज्य के प्रमुख कार्य तथा इसकी आलोचनाएँ बताइए।

उ०– परम्परागत विचारधारा के अनुसार राज्य के कार्यों को अनिवार्य तथा ऐच्छिक दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। लेकिन कल्याणकारी राज्य की अवधारणा में अब यह माना जाने लगा है कि ऐच्छिक कार्यों का सम्पादन करना भी राज्य के लिए अनिवार्य है। लोक-कल्याणकारी राज्य के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्याय व्यवस्था– राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित करने का कार्य पुलिस द्वारा ही नहीं किया जा सकता; अत: राज्य के कानूनों का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने और नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा हेतु स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका की स्थापना करना राज्य का ही एक अनिवार्य कार्य है। इसके लिए राज्य दीवानी एवं फौजदारी न्यायालयों की स्थापना करता है जो स्वतंत्र एवं निष्पक्ष होकर नागरिकों को न्याय प्रदान करती है।

(ii) विदेश नीति का संचालन– अपने हितार्थ संसार के अन्य राष्ट्रों से मैत्रीपूर्ण संबंधों की स्थापना हेतु विदेश नीति का संचालन करना भी राज्य का एक अनिवार्य कार्य है। इसके लिए राज्य अन्य राज्यों में अपने राजदूतों की नियुक्ति तथा अन्य राज्यों के राजदूतों के लिए यहाँ व्यवस्था करता है। लोक-कल्याणकारी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग एवं सद्भावना के साथ कार्य करके विश्वशान्ति तथा **वसुधैव कुटुम्बकम्** की भावना को बल प्रदान करता है।

(iii) बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा– बाह्य आक्रमणों से राज्य की सुरक्षा करना प्रत्येक राज्य का अनिवार्य कार्य है। इसके लिए राज्य नियमित जल, थल तथा वायु सेना रखने के साथ-साथ अन्य विभिन्न प्रकार के सैन्य उपकरणों एवं साधनों की व्यवस्था भी करता है।

(iv) आपसी संबंधों का नियमन– लोक-कल्याणकारी राज्य महिला, पुरुष तथा बच्चों एवं उनके माता-पिता के आपसी संबंधों का नियमन करने हेतु ऐसी व्यवस्था करता है कि उनके मध्य वैधानिक संबंध ही स्थापित रहें, जिससे संघर्ष की स्थिति उत्पन्न न हो। इसके अतिरिक्त राज्य एवं नागरिक के संबंधों को नियमित करने का दायित्व भी राज्य का ही है क्योंकि आपसी संबंध ही नागरिकों की स्वतंत्रता तथा राज्य की सत्ता का मूल आधार हैं।

(v) आन्तरिक शान्ति एवं सुव्यवस्था– राज्य का द्वितीय अनिवार्य कार्य राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करके नागरिकों को लोक-कल्याणकारी कानून तथा सुशासन प्रदान करना है। नागरिकों के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा करना भी

राज्य का ही दायित्व है। राज्य ही नागरिकों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का नियमन करता है। लोक-कल्याणकारी राज्य में कारागारों को अब बन्दी सुधार-गृह का रूप दिया गया है जिससे बन्दी सुधरकर समाजोपयोगी नागरिक बन सकें।

(vi) सार्वजनिक शिक्षा– मानव की उन्नति तथा विकास में शिक्षा का प्रमुख स्थान है। अत: कल्याणकारी राज्य प्राथमिक शिक्षा को नि:शुल्क तथा अनिवार्य करने के साथ विश्वविद्यालय तक ही शिक्षा की समुचित व्यवस्था करता है।

(vii) सार्वजनिक स्वास्थ्य– लोक-कल्याणकारी राज्य महामारी की रोकथाम तथा अन्य बीमारियों से नागरिकों को बचाने हेतु सफाई एवं सार्वजनिक चिकित्सालयों की स्थापना करता है। नागरिकों के स्वास्थ्य रक्षा हेतु सड़ी-गली, नशीली एवं हानिकारक वस्तुओं को कल्याणकारी राज्य द्वारा प्रतिबन्धित कर दिया जाता है।

(viii) आर्थिक सुरक्षा व्यवस्था– प्रत्येक राज्य की आर्थिक सम्पन्नता उसकी मुद्रा व्यवस्था पर निर्भर करती है तथा आर्थिक दृष्टिकोण से सम्पन्न राज्य की लोक-कल्याण संबंधी अपने दायित्वों को पूर्ण कर सकता है। इसलिए राज्य मुद्रा की श्रेष्ठ व्यवस्था करके करारोपण द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धन इकट्ठा करता है तथा विदेशी मुद्रा विनिमय की व्यवस्था भी करता है। सभी व्यक्तियों को योग्यतानुसार रोजगार दिलाना तथा अधिकतम आर्थिक समानता के आधार पर आर्थिक सुरक्षा व्यवस्था करना भी लोक-कल्याणकारी राज्य का ही कार्य है।

(ix) यातायात एवं संचार की समुचित व्यवस्था– कल्याणकारी राज्य यातायात एवं संचार हेतु सड़कों, रेलों, जल एवं वायुमार्गों, डाक-तार, दूरसंचार, रेडियो, दूरदर्शन इत्यादि की समुचित व्यवस्था करता है।

(x) प्राकृतिक साधनों की सुरक्षा एवं विकास– कल्याणकारी राज्य ऐसी व्यवस्था करता है जिसमें वनों, नदियों, खनिजों, पर्वतों, समुद्रों इत्यादि प्राकृतिक साधनों की सुरक्षा होती है। जनहित में अधिकाधिक प्राकृतिक सम्पदाओं का संरक्षण करना लोक-कल्याणकारी राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य होता है।

(xi) कृषि की उन्नति– कृषि की उन्नति हेतु राज्य उत्तम बीज, खाद एवं सिंचाई के साधनों की समुचित व्यवस्था करता है। इसके साथ ही कल्याणकारी राज्य कृषकों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाने की व्यवस्था के अतिरिक्त सूखा, बाढ़ इत्यादि की स्थिति में आर्थिक सहायता भी दिलाता है। किसानों को कृषि-कार्यों हेतु न्यूनतम ब्याज दर पर ऋण की व्यवस्था भी राज्य ही करवाता है।

(xii) श्रमिकों के हितों की रक्षा– श्रमिकों के हितों के रक्षार्थ कल्याणकारी राज्य श्रमिकों को कार्य करने के घण्टे निश्चित करके उन्हें उचित पारिश्रमिक दिलाने की व्यवस्था करता है। इसके साथ ही उनकी सुरक्षा एवं निवास की व्यवस्था का उत्तरदायित्व भी राज्य का ही होता है। श्रमिकों को पूँजीपतियों के शोषण से मुक्ति दिलाने हेतु राज्यश्रम हितकारी कानूनों का निर्माण करता है।

(xiii) साहित्य, कला एवं विज्ञान को प्रोत्साहन– प्रत्येक राज्य की उन्नति में कला, साहित्य एवं विज्ञान का महत्वपूर्ण योगदान होता है; अत: प्रत्येक कल्याणकारी राज्य इन्हें समुचित प्रोत्साहन देता है।

(xiv) सामाजिक सुधार– समाज में प्रचलित दहेज प्रथा, पर्दा प्रथा, मृत्यु भोज, धार्मिक कट्टरता, जातीय भेदभाव, अस्पृश्यता इत्यादि कुरीतियों को समाप्त कराने में राज्य ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। लोक-कल्याणकारी राज्य को शराब, भाँग, गाँजा तथा अफीम जैसे मादक पदार्थों के सेवन एवं बिक्री पर भी प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए।

(xv) उद्योग एवं व्यापार पर नियन्त्रण– राज्य जनहित में बड़े एवं भारी उद्योगों को अपने स्वामित्व में लेकर उनका उचित रूप में संचालन करता है। आवश्यक होने पर जनोपयोगी सेवाओं का राष्ट्रीयकरण भी उसी के द्वारा किया जाता है। आयात-निर्यात एवं व्यापार पर भी राज्य का ही नियन्त्रण होता है।

(xvi) आमोद-प्रमोद की सुविधाएँ– कल्याणकारी राज्य अपने नागरिकों के मनोरंजन हेतु समय-समय पर खेलों, मेलों एवं प्रदर्शनियों के आयोजन के साथ-साथ चिड़ियाघर, सिनेमा, नाटक, रेडियो, टेलीविजन इत्यादि की व्यवस्था करता है।

(xii) असहायों एवं अपाहिजों की सहायता– कल्याणकारी राज्य शारीरिक रूप से अपंग, असहाय एवं वृद्ध व्यक्तियों हेतु इस प्रकार की शिक्षा एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है जिससे कि वे अपनी आजीविका स्वयं अर्जित कर सकें। इसके अलावा वृद्धों एवं अपंगों के लिए राज्य पेंशन की व्यवस्था भी करता है।

लोक-कल्याणकारी राज्य की आलोचना– यद्यपि आज लोक-कल्याणकारी राज्य की प्रवृत्ति विश्व के विभिन्न राज्यों ने अपना ली है, फिर भी लोक-कल्याणकारी राज्य के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं—

(i) अत्यन्त खर्चीला– लोक-कल्याणकारी राज्य अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न उपायों तथा रचनात्मक कार्यों को सम्पादित करता है जिसके लिए उसे अधिक धनराशि की आवश्यकता पड़ती है। गरीब अथवा सामान्य आर्थिक संसाधनों वाला राज्य इस प्रकार का व्यय-भार वहन नहीं कर सकता। इस बात को लक्ष्य करते हुए **सिनेटर टाफ्ट** ने कहा है, ''लोक-कल्याण की नीति राज्य को दिवालियेपन की ओर ले जाएगी।''

(ii) नौकरशाही का भय– लोक-कल्याणकारी राज्य की प्रवृत्ति अपना लेने पर नौकरशाही को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि राज्य को अपने व्यापक कार्यों को नौकरशाही द्वारा ही सम्पन्न कराता है। नौकरशाही में अभिवृद्धि के परिणामस्वरूप लालफीताशाही, भ्रष्टाचार एवं भाई-भतीजावाद का उदय होता है।

(iii) व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन– लोक-कल्याणकारी राज्य में शासन का कार्य-क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो जाता है जिससे शासन की शक्तियों में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। अत्यधिक शक्तियों का प्रयोग करने वाला शासन निरंकुश एवं सर्वाधिकारवादी हो जाता है तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन करता है।

(iv) पूँजीवाद का समर्थन– कल्याणकारी अवधारणा का प्रतिपादन अपनी व्यवस्था को साम्यवादी आक्रमणों से बचाने हेतु उदारवादियों द्वारा किया गया था। यह पूँजीवाद की रक्षा का कवच है। कोई भी राज्य जो शोषणवादी पूँजीवाद का समर्थन करता है वह कल्याणकारी राज्य हो ही नहीं सकता।

(v) ऐच्छिक समुदायों पर आघात– व्यक्ति के सर्वांगीण विकास हेतु लोक-कल्याणकारी राज्य को अनेक कार्य सम्पादित करने होते हैं। राज्य अनेक ऐसे कार्य भी करने लगता है जो कि ऐच्छिक समुदायों द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं। इस प्रकार कल्याणकारी राज्य ऐच्छिक समुदायों के लिए घातक होते हैं। इस आशंका को व्यक्त करते हुए **बैन** एवं **पीटर्स** ने कहा है– ''राज्य का उद्देश्य भले ही जनसाधारण को लाभ पहुँचाने तथा सामान्य हित को प्रोत्साहित करने का रहा हो, लेकिन इसका यह आशय नहीं है कि वह अन्य सभी संस्थाओं एवं समुदायों के अधिकारों को कुचल दें।''

10. मनु तथा कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य संबंधी सप्तांग सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।

उ०– **मनु के राज्य के कार्यक्षेत्र संबंधी सिद्धान्त–** मनु ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ मनुस्मृति में राज्य के कार्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसने राज्य एवं राज्य के शासक के रूप में राजा को व्यापक कार्यक्षेत्र प्रदान किया है। मनु के अनुसार राज्य के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं–

(i) शिक्षा की व्यवस्था तथा उसका प्रसार करना– शिक्षा की उचित व्यवस्था करना भी राज्य का कार्य बतलाया गया है। शिक्षित नागरिक ही समाज एवं राज्य की उन्नति में अपना योगदान दे सकते हैं। राजा को इस प्रकार की नीतियाँ अपनानी चाहिए, जिससे विद्या एवं कला की उन्नति हो सके। ब्राह्मणों को दान देने की परम्परा शिक्षा व्यवस्था के विकास की ओर ही एक योगदान था। जो ब्राह्मण वेदों का अध्ययन करें तथा उनकी शिक्षा प्रदान करें, उन्हें राज्य की ओर से आर्थिक सहायता अवश्य दी जानी चाहिए।

(ii) सभी वर्णों से स्वधर्म का पालन करना– राजा का यह भी एक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य है कि वह राज्य में निवास करने वाले सभी वर्गों के लोगों से अपने-अपने धर्म का पालन करावे। यदि विभिन्न वर्ण के लोग धर्म का पालन नहीं करेंगे तो राज्य में अराजकता एवं अव्यवस्था फैल जाएगी और वह राज्य नष्ट हो जाएगा। अत: राजा को चाहिए कि वह प्रत्येक वर्ण के लोगों को स्वधर्म का पालन करने के लिए बाध्य करें। मनु लिखिते है कि अपने-अपने धर्म में संलग्न सब वर्णों और आश्रमों की रक्षा करने वाले राजा को ब्रह्मा ने बनाया है।''

(iii) बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करना– राज्य का यह भी महत्वपूर्ण कार्य है कि वह अपनी प्रजा की बाहरी आक्रमणों से रक्षा करें। राजा को युद्ध के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए। मनु का कथन है कि ''राजा दण्ड को सर्वत्र उद्यत रखे (हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल इस प्रकार चतुरलिंगी सेना को सदैव परेड करवाकर उनका अभ्यास बढ़ाता रहें) अपने पुरुषार्थ (सैनिकादिक शक्ति)को प्रदर्शित करता रहे। गुप्त रखने योग्य (अपने विचार, राजकार्य एवं चेष्टा आदि) को सर्वदा गुप्त रखे और शत्रु के छिद्र (सेना या प्रकृति के द्वोष आदि से दुर्बलता) को सर्वदा देखता रहे।'' आगे मनु लिखते हैं कि, ''सर्वदा दण्ड (चतुरङ्गिणी सेना की शक्ति)से युक्त रहने वाले राजा से सब संसार डरता रहता है। अतएव राजा सब लोगों को दण्ड द्वारा ही वंश में करें।''

(iv) न्याय सम्बन्धी कार्य– न्याय करना भी राजा का परम कर्त्तव्य है। जिस राज्य में निष्पक्ष न्याय की व्यवस्था नहीं होगी वहाँ पर अराजकता का साम्राज्य होगा। न्यायाधीश को निष्पक्षतापूर्वक न्याय करना चाहिए। न्याय करते समय न्यायाधीश के मस्तिष्क में किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं होनी चाहिए। नागरिकों के पारस्परिक विवादों का निर्णय सही प्रकार से होना चाहिए। कानून की दृष्टि में सभी नागरिकों को समान समझना चाहिए । **मनु** लिखते है कि ''यदि राजा स्वयं विवादों (मुकदमों) का न्याय (फैसला) न करें तो उस कार्य को देखने के लिए विद्वान ब्राह्मणों को नियुक्त करें। आगे **मनु** लिखते है कि ''राजा के द्वारा नियुक्त विद्वान ब्राह्मण भी तीन सदस्यों (धार्मिक एवं कार्मज्ञ) के साथ ही न्यायालय में जाकर आसन पर बैठकर या खडे होकर (राजा के देखने योग्य) उन कार्यों को देखे अर्थात उन मुकदमों का फैसला करें।

न्यायाधीश को सदैव सत्य का पक्ष लेना चाहिए तथा असत्य को हावी नहीं होने देना चाहिए अर्थात् न्याय निष्पक्ष ही होना चाहिए। मनु कहते है कि जिस सभा (न्यायालय) में धर्म (सत्य भाषण) अधर्म (असत्य भाषण) से पीड़ित होकर रहता है अर्थात सत्य बात कहकर असत्य बात छिपायी जाती है (और सभा में स्थित सदस्य) वे ब्राह्मण इस धर्म पीड़ाकारक शास्त्र को दूर नहीं करते अर्थात् असत्य पक्ष को छोड़कर सत्य पक्ष का आश्रय नहीं लेते, सभा में सदस्य अर्थात् (न्यायाधीश के रूप में) स्थित वे ब्राह्मण ही अधर्म रूपी शस्त्र से विद्ध (पीड़ित) होते हैं।

(v) आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना करना– मनु ने दण्ड को ही राजा माना है। राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह साधु प्रकृति के व्यक्तियों को रहने के लिए सुविधा प्रदान करें तथा उन व्यक्तियों को दण्डित करे जो समाज में विघ्न पैदा करें। दण्ड के द्वारा ही व्यक्ति को सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। दण्ड के न होने से समस्त वर्णों में भ्रष्टाचार पैदा हो जाता है तथा लोक में (राज्य में) प्रकोप (अव्यवस्था) उत्पन्न हो जाता है। दण्डनीति से राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था रहती है

तथा नित्य प्रति राज्य की उत्पत्ति होती रहती है पर इसके विपरीत जो राजा दण्डनीति के विरुद्ध कार्य करता है वह दण्ड ही के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। अत: राजा का यह परम कर्त्तव्य है कि वह दण्डनीति के उचित प्रयोग द्वारा समाज में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना करें। राजा के द्वारा भ्रष्ट आचरण करने वालों को कठोर दण्ड दिए जाने चाहिए।

(vi) राज्य का आर्थिक विकास करना– राज्य की आर्थिक स्थिति को सुधारना तथा उसे समृद्ध बनाना भी राज्य का महत्वपूर्ण कार्य है। बिना धन के राज्य का कोई भी कार्य नहीं हो सकता। इसी कारण प्राचीन आचार्यों ने कोष को राज्य प्राण बतलाया है। **मनु** का कथन है कि ''राजा अप्राप्त (नहीं मिले हुए सोने, चाँदी, भूमि, जवाहरात आदि) को दण्ड द्वारा (शत्रु को दण्ड देकर या जीतकर) पाने की इच्छा करे। प्राप्त (मिले हुए सोना आदि) द्रव्यों की देखभाल करते हुए रक्षा करे तथा रक्षित धन की वृद्धि करे और बढ़ाए गए (उन द्रव्यों) को सत्पात्रों में दान कर दे।''

राज्य की आय का मुख्य स्रोत जनता पर लगाए गए कर होते है। मनु ने उचित कर निर्धारण का विधान किया है। जनता पर उतना ही कर लगाना चाहिए जिसे लोग आसानी से वहन कर सकें। साधारण लोगों पर कर बहुत कम होने चाहिए तथा सम्पन्न लोगों पर कर की मात्रा अधिक होनी चाहिए। मनु ने कर के संबंध में श्रेष्ठ नियमों का उल्लेख किया है। उनका कथन है कि '' जिस प्रकार राजा देखभाल आदि और व्यापारी व्यापार आदि के फल से युक्त रहे (दोनों को अपने-अपने उद्योग के अनुसार फल मिले) वैसा देखकर राजा सर्वदा निश्चय कर राज्य में कर लगावे।'' **मनु** आगे लिखते हैं ''जिस प्रकार जोंक, बछड़ा और भ्रमर थोड़े-थोड़े अपने-अपने खाद्य क्रमश: रक्त, दूध और मधु को ग्रहण करता है, उसी प्रकार प्रजा से वार्षिक कर ग्रहण करना चाहिए।'' मनु ने श्रोत्रिम (वेदपाठी ब्राह्मण) से कर न ले, इस (राजा) के देश में रहता हुआ श्रोत्रिय जीविका न मिलने से भूख से पीड़ित न हो। ऐसा प्रबन्ध रखे। आगे वह लिखते हैं कि जिस राजा के देश में श्रोत्रिय भूख से पीड़ित होता है , उस राजा का वह राज्य भी शीघ्र ही भूख से पीड़ित होता है (राज्य में अकाल पड़ता है।)

इसके अतिरिक्त वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण करना भी राजा का कर्त्तव्य है। **मनु** लिखते हैं कि ''स्थल तथा जल के मार्ग से व्यापार करने में चतुर और बाजार के सोने के मूल्य लगाने में निपुण व्यक्ति बाजार के अनुसार जिस वस्तु को जो मूल्य निश्चित करे उसके लाभ में से राज्य बीसवाँ भाग कर के रूप में ग्रहण करें।''

(vii) ब्राह्मणों को दान देना तथा उनका सम्मान करना– (ज्ञान तथा तपस्या से) वृद्ध, वेदज्ञ और शुद्ध हृदय वाले ब्राह्मणों की नित्य सेवा करें, क्योंकि वृद्धों की सेवा करने वालों की राक्षस (क्रूर प्रकृति वाले)भी पूजा करते हैं, फिर मनुष्यों की बात क्या है। मनु का कथन है कि उन (वृद्ध ब्राह्मणों) से पहले विनय युक्त राजा भी और अधिक विनय सीखे, क्योंकि विनययुक्त राजा कभी नष्ट नहीं होता। मनु का अभिप्राय यह है कि राजा को विनयशील होना चाहिए तथा ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करने के लिए उन्हें दान भी देना चाहिए।

कौटिल्य के अनुसार राज्य के कार्यक्षेत्र संबंधी सिद्धान्त– मनु के समान कौटिल्य ने भी अपने ग्रन्थ **अर्थशास्त्र** में राज्य के कार्यों एवं राजा के कर्त्तव्यों पर विचार किया है। हालांकि कौटिल्य राज्यहित को सर्वोपरि बताता था लेकिन उसने राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का हित तथा उसका पूर्ण विकास माना है। राज्य के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए **कौटिल्य** ने लिखा है—

''प्रजा के सुख में ही राज्य का सुख है, प्रजा हित में ही राजा का हित है। राजा के लिए प्रजा के सुख से अलग अपना कोई सुख नहीं है।'' राजा एवं प्रजा में पिता-पुत्र के संबंधों की चर्चा करते हुए कौटिल्य कहता है— ''राजा एवं प्रजा में पिता एवं पुत्र का संबंध होना चाहिए।''

कौटिल्य ने राज्य के कार्यक्षेत्र अथवा राजा के कर्त्तव्यों की जो विवेचना की हैं उसके अनुसार राज्य के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) प्रजा की रक्षा– कौटिल्य ने प्रजा की रक्षा के विषय में राज्य के कर्त्तव्य बताते हुए लिखा है कि राज्य को अपने कर्मचारियों, साहूकारों, चोर-डाकुओं, जादूगरों इत्यादि से प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। कौटिल्य ने अपराधियों को कठोर सजा देने का राजा को उपदेश दिया।

(ii) पशुधन की सुरक्षा एवं संवर्द्धन– कौटिल्य के मतानुसार राज्य को पशुधन के संरक्षण तथा संवर्द्धन में भी रूचि रखनी चाहिए। पशुधन की देखभाल करने हेतु एक गौ अध्यक्ष का कर्त्तव्य गाय, भैंस, बैल, बकरी इत्यादि की देखभाल एवं नस्ल सुधार का प्रबन्ध करना होना चाहिए। उक्त पशुओं की विषैले तथा बनैले (जंगली पशुओं) से रक्षा करने के लिए कौटिल्य ने एक ओर अधिकारी 'बित्ताध्यक्ष' का उल्लेख किया है।

(iii) राज्य की शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाए रखना– राज्य का दूसरा कार्य राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना करना है। राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाए रखने हेतु गुप्तचरों का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। कौटिल्य गुप्तचरों पर काफी विश्वास रखते थे। गुप्तचरों की मदद से ही उन्होंने अपने शत्रु धननन्द को वंश सहित नष्ट किया था।

(iv) शिक्षा की व्यवस्था– कौटिल्य राज्य शिक्षा को अत्यधिक महत्व देता है। वह कहता है कि शिक्षा के अभाव में कोई भी राष्ट्र महान् नहीं बन सकता। उसका राज्य सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षा पर जोर देता है।

(v) राज्य की सुरक्षा– राज्य का प्रथम प्रमुख कार्य यह है कि वह स्वयं अपनी रक्षा करे। यदि राज्य अपनी सुरक्षा न कर सकेगा तो वह स्वयं नष्ट हो जाएगा तथा जिस उद्देश्य हेतु उसका उदय हुआ है, वह कल्पना की वस्तु बन जाएगा।

(vi) प्राकृतिक आपदाओं से राज्य की सुरक्षा– कौटिल्य के अनुसार प्राकृतिक शत्रुओं से अपनी रक्षा करना राज्य का ही कार्य है। उसने राज्य के आठ प्राकृतिक शत्रु— (क) जल, (ख) अग्नि, (ग) दुर्भिक्ष, (घ) व्याधि (महामारी), (ङ) चूहे, (च) हिंसक जन्तु, (छ) सर्प तथा (ज) राक्षस बताए हैं। कौटिल्य कहता है कि इन शत्रुओं से राज्य को सावधान रहना चाहिए।

(vii) नैतिक कार्य– कौटिल्य का राज्य एक नैतिक संस्था है। कौटिल्य नागरिकों में सदगुणों का विकास करके उन्हें सदाचारी बनाता है। कौटिल्य के राज्य में शराब, जहरीली वस्तुओं, जुआरियों तथा वेश्याओं पर नियन्त्रण लगाया गया है।

(viii) सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था की सुनिश्चितता– कौटिल्य का राज्य वर्ण व्यवस्था को बनाए रखने में सहायक था। वह प्रत्येक समुदाय की रक्षा करके उसे प्रोत्साहित करता है। कौटिल्य जहाँ राज्य को विजित प्रदेशों के उचित रीति-रिवाजों को बनाए रखने की बात करता है वहीं वहाँ के निवासियों के जीवनयापन के ढंग, पहनावे एवं भाषा को अपना लेने की बात भी करता है।

(ix) व्यापार एवं वाणिज्य की प्रगति– व्यापार तथा वाणिज्य की रक्षा एवं विकास राज्य का एक प्रमुख कर्त्तव्य है। कौटिल्य के अनुसार व्यापार एवं वाणिज्य का कार्य **पण्याध्यक्ष** के हाथ में होना चाहिए। व्यापार में किन वस्तुओं से अधिक तथा किनसे कम लाभ होता है, इसकी जानकारी पण्याध्यक्ष को रहनी चाहिए। यदि राज्य को किसी व्यापार से अधिक लाभ होता है तथा व्यापारी को कम तो कौटिल्य के मतानुसार राज्य को ऐसे व्यापार का त्याग कर देना चाहिए।

(x) सुदृढ़ एवं सुनिश्चित अर्थव्यवस्था– कौटिल्य का राज्य सुदृढ़ एवं सुनिश्चित अर्थव्यवस्था की स्थापना करता है। इसके लिए वह धर्मपूर्वक संचित कोष पर जोर देता है।

(xi) लोक-कल्याणकारी कार्य– कौटिल्य ने राज्य को लोकहित तथा सामाजिक कल्याण के कार्य सौपें है। लोक-कल्याण संबंधी जिन कार्यों को राजासम्पन्न करता है उनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(क) जीविकोपार्जन के साधनों का नियमन
(ख) चिकित्सालयों का निर्माण
(ग) वृद्ध, असहाय, अनाथ, विधवा, दु:खियों तथा रोगियों की सहायता
(घ) कृषि, पशुपालन, उद्योग, वाणिज्य इत्यादि का विकास
(ङ) बाँधों का निर्माण, जलमार्ग, जलाशय, स्थलमार्ग एवं बाजार बनाना
(च) दुर्भिक्ष के समय जन साधारण की सहायता
(छ) विद्वानों का आदर एवं सम्मान
(ज) ज्ञान के अनुसन्धान कार्य में लगे गुरुकुलवासियों एवं विद्यार्थियों की रक्षा
(झ) आवश्यक होने पर धनवानों से अधिक कर वसलूकर गरीबों में वितरित करना
(ञ) जंगलों की रक्षा करना
(ट) मानव के चारों उद्देश्यों— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि में सहायता करना।

(xii) राज्य का विस्तार– कौटिल्य के अनुसार राज्य का एक कार्य राज्य विस्तार भी है। उसके अनुसार राज्य को विस्तार की एक योजना तैयार करके शत्रु देश पर आक्रमण करके उसे अपने राज्य में मिला लेना चाहिए।

(xiii) कृषि की व्यवस्था– कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में कृषि की व्यवस्था पर बल दिया है। उसके मतानुसार कृषि का प्रधान अधिकारी **सीताध्यक्ष** होना चाहिए जो एक अनुभवी एवं योग्य व्यक्ति हो। इस अधिकारी का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह अनुभवी एवं योग्य कर्मचारियों की सहायता लेकर खाद्य पदार्थों इत्यादि की उन्नति हेतु उनके श्रेष्ठ बीजों का संग्रह करे।

इकाई-2

3

स्वतन्त्रता एवं समानता
(Liberty and Equality)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 56 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 56 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. स्वतंत्रता का महत्व बताइए।

उ०– मनुष्य का सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक, नैतिकता, राजनीतिक तथा मानसिक विकास स्वतंत्रता के वातावरण में ही सम्भव है। स्वतंत्रता मानव जीवन का मूल आधार है। स्वतंत्रता के अत्यधिक महत्व के कारण ही विभिन्न देशों में लाखों व्यक्तियों ने इसकी रक्षार्थ हेतु अपने प्राणों को न्यौछावर कर दिया। स्वतंत्रता समाज और राष्ट्र की प्रगति के लिए आवश्यक है। स्वतंत्रता के महत्व को निम्नलिखित प्रकार से समझा जा सकता है—

(i) स्वतंत्रता अधिकार दिलाने में आवश्यक है।
(ii) स्वतंत्रता आर्थिक प्रगति में सहायक है।
(iii) स्वतंत्रता नैतिक गुणों के विकास में सहायक है।
(iv) स्वतंत्रता व्यक्तित्व के विकास में सहायक है।
(v) स्वतंत्रता समाज एवं राष्ट्र की प्रगति में सहायक है।
(vi) स्वतंत्रता राष्ट्रीय सम्मान में सहायक है।

2. स्वतंत्रता कितने प्रकार की होती है? संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उ०– स्वतंत्रता का प्रयोग हम विभिन्न अर्थों में करते हैं। अत: इसके अनेक प्रकार हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(i) प्राकृतिक स्वतंत्रता
(ii) नागरिक स्वतंत्रता
(iii) राजनीतिक स्वतंत्रता
(iv) आर्थिक स्वतंत्रता
(v) व्यक्तिगत स्वतंत्रता
(vi) धार्मिक स्वतंत्रता
(vii) सामाजिक स्वतंत्रता
(viii) नैतिक स्वतंत्रता
(ix) राष्ट्रीय स्वतंत्रता

3. ''स्वतंत्रता उचित प्रबन्धों की व्यवस्था है।'' विवेचना कीजिए।

उ०– स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ मानव के मूल अधिकारों की सुरक्षा तथा ऐसे नियंत्रण का अभाव है जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में बाधक हो। नकारात्मक रूप से स्वतंत्रता का अर्थ अनुचित प्रबन्धों को हटाने से है तथा सकारात्मक रूप से इसका अर्थ उन सुविधाओं व प्रबन्धों को प्रस्तुत करने से है, जिनकी व्यवस्था से मानव के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होता है। मानव अधिकारों की सुरक्षा में ही स्वतंत्रता की रक्षा निहित है। राज्य की शान्ति, बाहरी आक्रमणों से सुरक्षा आदि कार्यों के अतिरिक्त व्यक्तियों की उचित व्यवस्था ही वास्तविक स्वतंत्रता है, जो मनुष्य की उन्नति में सहायक है।

4. समानता के विभिन्न प्रकारों को स्पष्ट कीजिए। कौन-सा अधिक महत्वपूर्ण है?

उ०– समानता के विभिन्न प्रकार निम्नलिखित हैं—

(i) प्राकृतिक समानता
(ii) सामाजिक समानता
(iii) सांस्कृतिक एवं शिक्षा संबंधी समानता
(iv) नागरिक समानता
(v) धार्मिक समानता
(vi) आर्थिक समानता
(vii) राजनीतिक समानता

प्रजातंत्र में राजनीतिक समानता अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह प्रजातंत्र की आधारशिला है।

5. स्वतंत्रता और समानता का संबंध स्पष्ट कीजिए।

उ०– स्वतंत्रता एवं समानता के आपसी संबंधों के संदर्भ में विभिन्न विद्वानों के अलग-अलग विचार हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार स्वतंत्रता एवं समानता परस्पर विरोधी हैं तथा समानता स्थापित करने के लिए किए गए प्रयासों के द्वारा स्वतंत्रता नष्ट होती है। दूसरी और अन्य विद्वानों का मत है कि स्वतंत्रता तथा समानता एक-दूसरे की सहयोगी हैं। इनको एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। दोनों मतों को निम्न प्रकार से प्रकट किया जा सकता है—

(i) स्वतंत्रता तथा समानता परस्पर विरोधी हैं– इस मत के समर्थक इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क देते हैं—

(क) समान स्वतंत्रता का सिद्धान्त गलत है।
(ख) प्रकृति ने सभी मानवों को समान नहीं बनाया है।
(ग) आर्थिक स्वतंत्रता एवं समानता विरोधी हैं।
(घ) योग्य व्यक्तियों को अपनी क्षमता प्रदर्शित करने का अवसर नहीं मिलता है।

(ii) स्वतंत्रता तथा समानता परस्पर पूरक हैं– इस मत के समर्थन में निम्न तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

(क) नागरिक स्वतंत्रता हेतु कानून के समक्ष समानता आवश्यक है।
(ख) दोनों का उद्देश्य समान है।

(ग) स्वतंत्रता के उपभोग हेतु समानता आवश्यक है।
(घ) स्वतंत्रता एवं समानता का विकास साथ-साथ हुआ।
(ङ) राजनीतिक स्वतंत्रता हेतु समान अवसर आवश्यक हैं।

6. कानून और स्वतंत्रता के मध्य संबंधों की विवेचना कीजिए।

उ०– कानून एवं स्वतंत्रता दोनों शब्द एक-दूसरे के परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। कानून व्यक्ति की कार्यशीलता को नियमित करता है तथा उसको मनमानी करने से रोकता है, इसीलिए अराजकतावादी एवं व्यक्तिवादी विद्वानों की मान्यता है कि कानून, सत्ता, प्रभुसत्ता इत्यादि स्वतंत्रता के शत्रु हैं। इसके विपरीत आदर्शवादी विद्वानों का मत है कि कानून एवं स्वतंत्रता एक दूसरे के विरोधी न होकर सहयोगी है क्योंकि स्वतंत्रता अवरोध में रह कर ही प्राप्त की जा सकती है। राज्य के कानून स्वतंत्रता की प्राप्ति हेतु उचित वातावरण तैयार करते हैं। इस प्रकार कानून, व्यक्ति तथा स्वतंत्रता के संबंधों के सन्दर्भ में अलग-अलग विचार है तथा वास्तविकता जानने के लिए दोनों पक्षों का अध्ययन आवश्यक है।

(i) स्वतंत्रता तथा कानून परस्पर विरोधी हैं– कुछ विद्वानों का विचार है कि स्वतंत्रता तथा कानून परस्पर विरोधी हैं क्योंकि कानून स्वतंत्रता पर अनेक बन्धन लगाता है। इस विचार को मान्यता देने वालों में व्यक्तिवादी, अराजकतावादी श्रमसंघवादी आदि विद्वान हैं।

(ii) स्वतंत्रता तथा कानून परस्पर विराधी नहीं हैं– इस विचारों के पक्ष में समर्थकों के निम्न तर्क हैं—
(क) कानून वास्तविक स्वतंत्रता की उत्पत्ति करता है।
(ख) कानून स्वतंत्रता का रक्षक है।
(ग) कानून स्वतंत्रता में वृद्धि करते हैं।
(घ) स्वतंत्रता की उत्पत्ति कानून द्वारा होती है।

7. ''कानून स्वतंत्रता का पूरक है।'' व्याख्या कीजिए। अथवा
कानून एवं स्वतंत्रता के मध्य संबंधों की विवेचना कीजिए।

उ०– यदि मानव सभ्यता के विकास की कथा पर एक दृष्टि डाली जाए तो हम देखेंगे कि कानून के निर्माण के मूल में मानव स्वंतत्रता की भावना रही है। मनुष्य अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए कानूनों का निर्माण करता है। अत: कानून के बिना स्वतंत्रता की कल्पना नहीं की जा सकती है। व्यक्ति की स्वतंत्रता पर कानून का नियंत्रण अनिवार्य है; अन्यथा व्यक्ति की स्वतंत्रता सुरक्षित नहीं रह सकती हैं कानून और स्वतंत्रता एक सिक्के के दो पहलू हैं। वे एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं। अत: हम कह सकते हैं कि कानून और स्वतंत्रता एक-दूसरे के पूरक हैं।

कानून एवं स्वतंत्रता के मध्य सम्बन्ध– इसके लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या— 6 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. स्वतंत्रता से आप क्या समझते हैं? क्या स्वतंत्रता और समानता परस्पर विरोधी सिद्धान्त हैं?

उ०– **स्वतंत्रता–** स्वतंत्रता का तात्पर्य उस वातावरण से है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक हितों को समझते हुए अपने जीवन का आर्थिक, सामाजिक एवं अध्यात्मिक विकास कर सके। दूसरे शब्दों में ''स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ राज्य की ओर से ऐसे वातावरण का निर्माण करना है, जिसमें कि व्यक्ति आदर्श नागरिक जीवन व्यतीत करने योग्य बन सके तथा अपने व्यक्तित्व का पूर्ण निर्माण कर सके।

स्वतंत्रता एवं समानता का संबंध– स्वतंत्रता एवं समानता के आपसी संबंधों के सन्दर्भ में विभिन्न विद्वानों के अलग-अलग विचार हैं। कुछ विद्वान मानते हैं कि स्वतंत्रता एवं समानता परस्पर विरोधी है तथा समानता स्थिर करने के लिए किए गए प्रयासों के द्वारा स्वतंत्रता नष्ट होती है । दूसरी ओर अन्य विद्वानों का मत है कि स्वतंत्रता तथा समानता एक-दूसरे की सहयोगी हैं। इनको एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। दोनों मतों को निम्न प्रकार से प्रकट किया जा सकता है—

(i) स्वतंत्रता तथा समानता परस्पर विरोधी हैं– इस विचारधारा के समर्थकों में **डी. टॉकविल**, **लॉर्ड एक्टन** तथा **क्रोचे** प्रमुख हैं। इनके अनुसार स्वतंत्रता एवं समानता एक-दूसरे के विरोधी है। स्वतंत्रता समानता को नष्ट करती है तथा समानता स्वतंत्रता का विनाश करती है। इस विचारधारा के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ व्यक्ति की इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति है। व्यक्ति के ऊपर सभी प्रकार के बन्धनों तथा नियंत्रणों का अभाव ही स्वतंत्रता है। समानता का आशय सभी क्षेत्रों में बराबरी से है। अत: स्वतंत्रता से समानता का हनन होता है तथा समानता से स्वतंत्रता का अन्त हो जाता है, ऐसी स्थिति में स्वतंत्रता एवं समानता में से एक की स्थापना की सम्भव है, अत: ये दोनों परस्पर विरोधी हैं।

''समानता की अभिलाषा ने स्वतंत्रता की आशा को व्यर्थ कर दिया है।' **–लार्ड एक्टन**

इस मत के समर्थक इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क देते हैं—

(क) समान स्वतंत्रता का सिद्धान्त गलत– सभी व्यक्तियों का एक ही स्तर पर रखना, एक जैसी समानता देना गलत ही नहीं बल्कि अनैतिक भी है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति समान नहीं होता। बुद्धिमान-मूर्ख, ज्ञानी-अज्ञानी, देशद्रोही-

देशभक्त इत्यादि सभी को समान पद देना मौलिक रूप से त्रुटिपूर्ण है। डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, वैज्ञानिक, मजदूर तथा बेकारों को समान समझना अन्याय ही होगा।

(ख) प्रकृति ने सभी मानवों को समान नहीं बनाया है– समाज में असमानता प्रकृति की ही देन है क्योंकि प्रकृति ने सभी लोगों को समान नहीं बनाया है। कुछ लोग बुद्धिमान होते हैं तो कुछ बुद्धिहीन, कुछ सुन्दर होते है तो कुछ कुरूप। इसके विरुद्ध हम शक्ति प्रयोग द्वारा बुद्धिहीनों और विवेकशीलों में समानता स्थापित करने का प्रयास करते हैं तो प्रकृति के असमानता के सिद्धान्त के विरुद्ध कार्य करते हैं।

(ग) आर्थिक स्वतंत्रता एवं समानता विरोधी हैं– व्यक्तिवादियों की मान्यता है कि आर्थिक क्षेत्र में खुली प्रतियोगिता एवं स्वतंत्र व्यापार होना चाहिए, जिससे प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्रता से अपनी आर्थिक प्रगति कर सके। लेकिन आज जब हम आर्थिक क्षेत्र में समानता स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं तो इससे हम आर्थिक स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक बनते हैं जिसके फलस्वरूप व्यक्ति की आर्थिक स्वतंत्रता सीमित हो जाती है।

(घ) योग्य व्यक्तियों को अपनी क्षमता प्रदर्शित करने का अवसर नहीं मिलता– जब हम योग्य तथा अयोग्य व्यक्ति को समान अधिकार एवं अवसर देते हैं तो इससे योग्य व्यक्ति को अपनी क्षमता प्रदर्शित करने का अवसर नहीं मिलता। उदाहरणार्थ, लोकतंत्र में योग्य तथा अयोग्य व्यक्ति को समान राजनीतिक अधिकार प्रदान किए जाते हैं जिससे योग्य तथा अयोग्य व्यक्तियों का अन्तर करना कठिन हो जाता है।

(ii) स्वतंत्रता तथा समानता परस्पर पूरक हैं– इस विचारधारा के अनुसार स्वतंत्रता एवं समानता परस्पर पूरक हैं तथा दोनों में घनिष्ठ संबंध है। इस मत के समर्थक **लास्की, सी०ई०एम० जोड**, **पोलार्ड**, **आर०एच० टोनी** तथा **जी०ए० स्मिथ** हैं। इस विद्वानों का विचार है कि स्वतंत्रता एवं समानता को परस्पर विरोधी मानने वाले इनका गलत अर्थ समझते हैं। वास्तव में स्वतंत्रता बन्धनों तथा नियंत्रणों का अभाव नहीं अपितु समाज तथा राज्य के विवेकशील कानूनों का पालन है। स्वतंत्रता व्यक्तित्व विकास के लिए उचित अवसर प्रदान करती है। इस प्रकार स्वतंत्रता और समानता का लक्ष्य एक ही है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक समानता के अभाव में असम्भव है।

''समानता की प्रचुर मात्रा स्वतंत्रता की विरोधी नहीं है, बल्कि उसके लिए आवश्यक है।'' **–टॉनी**

''स्वतंत्रता की समस्या का सिर्फ एक समाधान है और वह यह है कि इसका निवास समानता में हैं।'' **–पोलार्ड**

इस मत के समर्थन में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं–

(क) नागरिक स्वतंत्रता हेतु कानून के समक्ष समानता आवश्यक है– नागरिक स्वतंत्रता से अभिप्राय वह स्वतंत्रता होती है, जिसका उपभोग व्यक्ति राज्य का सदस्य होने के कारण उपभोग करता है। ऐसी स्वतंत्रता का उपभोग तभी किया जा सकता है जब व्यक्ति को कानून के सम्मुख समान पद दिया जाए। यदि ऐसा नहीं होता तो नागरिक स्वतंत्रता निरर्थक बन जाती है।

(ख) दोनों का उद्देश्य समान– यदि सूक्ष्म रूप में अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होगा कि स्वतंत्रता एवं समानता का उद्देश्य व्यक्ति की प्रगति हेतु उचित वातावरण तैयार करना है। जब दोनों के उद्देश्य समान है तो विरोध किस प्रकार हो सकता है?

''फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने जब स्वतंत्रता समानता तथा भ्रातृत्व का उद्घोष किया, तब वे न तो मूर्ख थे और न ही पागल।'' **–डॉ० आशीर्वादम्**

(ग) स्वतंत्रता के उपभोग हेतु समानता की आवश्यकता– समानता की अनुपस्थिति में स्वतंत्रता का उपभोग नहीं किया जा सकता। अत: स्वतंत्रता के लिए समानता का स्थापित किया जाना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

(घ) स्वतंत्रता एवं समानता का विकास साथ-साथ हुआ– यदि हम दोनों के इतिहास का अध्ययन करें तो इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि दोनों की प्राप्ति हेतु मानव ने समान प्रयत्न किए हैं। फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने जहाँ स्वतंत्रता की माँग की थी वहीं उन्होंने समानता की भी माँग की थी क्योंकि उनको पता था कि इनमें से किसी एक की कमी में दूसरी निरर्थक हो जाएगी।

(ङ) राजनीतिक स्वतंत्रता हेतु समान अवसर आवश्यक हैं– इससे हमारा अभिप्राय यह है कि प्रत्येक नागरिक को राज्य के कार्य में भाग लेने के समान अवसर दिए जाएँ। यदि ऐसा नहीं होगा तो राजनीतिक स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं होगा। आज निर्धन व्यक्ति पूँजीपति की तुलना में राजनीतिक स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर सकता। इसलिए प्रत्येक क्षेत्र में समानता आवश्यक है।

2. स्वतंत्रता की परिभाषा दीजिए और उसका कानून के साथ संबंध स्थापित कीजिए।

उ०– स्वतंत्रता की परिभाषा– स्वतंत्रता उस वातावरण की स्थापना है, जिसमें लोगों को अपने पूर्ण विकास के अवसर प्राप्त होते हैं।

स्वतंत्रता तथा कानून का संबंध– कानून एवं स्वतंत्रता दोनों शब्द एक-दूसरे के परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। कानून व्यक्ति की कार्यशीलता को नियमित करता है तथा उसको मनमानी करने से रोकता है, इसीलिए अराजकतावादी एवं व्यक्तिवादी विद्वानों की मान्यता है कि कानून, सत्ता, प्रभुसत्ता इत्यादि स्वतंत्रता के शत्रु हैं। इसके विपरीत आदर्शवादी विद्वानों का मत है कि कानून

एवं स्वतंत्रता एक दूसरे के विरोधी न होकर सहयोगी है क्योंकि स्वतंत्रता अवरोध में रह कर ही प्राप्त की जा सकती है। राज्य के कानून स्वतंत्रता की प्राप्ति हेतु उचित वातावरण तैयार करते हैं। इस प्रकार कानून, व्यक्ति तथा स्वतंत्रता के संबंधों के सन्दर्भ में अलग-अलग विचार है तथा वास्तविकता जानने के लिए दोनों पक्षों का अध्ययन आवश्यक है।

(i) स्वतंत्रता तथा कानून परस्पर विरोधी हैं– कुछ विद्वानों का विचार है कि स्वतंत्रता तथा कानून परस्पर विरोधी हैं क्योंकि कानून स्वतंत्रता पर अनेक प्रकार के बन्धन लगाता है। इस विचार को मान्यता देने वालों में व्यक्तिवादी, अराजकतावादी, श्रमसंघवादी तथा कुछ अन्य विद्वान हैं। इस मत के अलग-अलग विचार निम्नलिखित हैं—

(क) अराजकतावादियों के विचार– अराजकतावादियों की मान्यता है कि राज्य अपनी शक्ति के प्रयोग से व्यक्ति की स्वतंत्रता को नष्ट करता है। अराजकतावादी राज्य को समाप्त कर देने के समर्थक हैं। अराजकतावादी विचारक **विलियम गाडविन** के मतानुसार— ''कानून सर्वाधिक घातक प्रकृति की संस्था है।'' वह आगे कहता है— ''राज्य का कानून दमन तथा उत्पीड़न का एक नवीन यंत्र है।''

(ख) श्रम संघवादियों के विचार– मजदूर संघवादियों की मान्यता है कि राज्य के कानून व्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित करते हैं। इन कानूनों का प्रयोग सदैव ही पूँजीपतियों के हितों को बढ़ावा देने हेतु किया गया है। इससे मजदूरों की स्वतंत्रता नष्ट होती है। राज्य के कानून मजदूरों के हितों का विरोध कर पूँजीपतियों का समर्थन करते है इसलिए मजदूर संघवादी भी राज्य को समाप्त करने के पक्षधर हैं।

(ग) बहुलवादियों के विचार– बहुलवादियों की मान्यता है कि राज्य के पास जितनी अधिक सत्ता होगी, व्यक्ति को उतनी ही कम स्वतंत्रता प्राप्त होगी। इसीलिए राज्य सत्ता को अलग-अलग समूहों में विभाजित कर दिया जाना चाहिए।

(घ) व्यक्तिवादियों के विचार– व्यक्तिवादी विचारधारा राज्य के कार्यों को सीमित करने के पक्ष में है। **व्यक्तिवादियों** के अनुसार— ''वही शासन-प्रणाली श्रेष्ठ है, जो सबसे कम शासन करती है।'' जितने कम कानून होंगे, उतनी की अधिक स्वतंत्रता होगी।

(ii) स्वतंत्रता तथा कानून परस्पर विरोधी नहीं है– स्वतंत्रता एवं कानून परस्पर विरोधी न होकर सहयोगी है। जो लोग स्वतंत्रता का सही अर्थ नहीं जानते वहीं लोग इन्हें परस्पर विरोधी मानते हैं। स्वतंत्रता का तात्पर्य कभी भी प्रतिबंधों की अनुपस्थिति नहीं होता। स्वतंत्रता प्रतिबन्धों में रहकर ही प्राप्त की जा सकती है।

प्रतिबन्धों की अनुपस्थिति अर्थात् कानूनों की अनुपस्थिति में सिर्फ बलशाली ही स्वतंत्रता प्राप्त कर सकेंगे। स्वतंत्रता से अभिप्राय व्यक्ति पर अनुचित, अनैतिक तथा अन्यायपूर्ण प्रतिबन्धों का नहीं होना है। स्वतंत्रता एवं कानून के परस्पर संबंधों को प्रकट करने हेतु निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं—

(क) स्वतंत्रता के लिए कानून परमावश्यक है– कानून प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को नियमित करता है तथा एक-दूसरे को असहज हस्तक्षेप से बचाता है। इसलिए कानून स्वतंत्रता की प्रथम शर्त है।

(ख) स्वतंत्रता का अभिप्राय प्रतिबन्धों की अनुपस्थिति नहीं– स्वतंत्रता का अभिप्राय प्रतिबन्धों की अनुपस्थिति नहीं है, बल्कि यह प्रतिबन्धों में रहकर ही प्राप्त की जा सकती है।

(ग) कानून के अभाव में अराजकता का राज्य होगा– राज्य कानूनों द्वारा ही व्यक्ति के जीवन को नियमबद्ध करता है। कानून के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति मनमानी करेगा, जिसके परिणामस्वरूप अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

(घ) कानून सरकार की शक्तियों को भी सीमित करते हैं– कानून से सरकार की शक्तियों को भी सीमित किया जाता है और उसे मनमानी करने से रोका जाता है। इससे व्यक्ति की स्वतंत्रता सुरक्षित रहती है।

(ङ) कानून, स्वतंत्रता की प्राप्ति हेतु उचित वातावरण निर्मित करता है– कानून एक ऐसा वातावरण तैयार करता है जो व्यक्ति की प्रगति के लिए परमावश्यक है। उदाहरणार्थ, राज्य कानून द्वारा श्रमिकों के कार्य करने के घण्टे निश्चित करता है, मजदूरी तय करता है तथा उनके स्वास्थ्य की रक्षा हेतु कानून निर्मित करता है। इसके फलस्वरूप श्रमिकों की स्वतंत्रता की रक्षा होती है।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि प्रत्येक कानून व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा नहीं करता। तानाशाही राज्यों में कानून व्यक्ति की स्वतंत्रता को कुचलने के लिए निर्मित किए जाते हैं, केवल लोकतान्त्रिक राज्यों में ही कानून व्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रहरी होते हैं।

3. स्वतंत्रता के विभिन्न प्रकारों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

उ०– स्वतंत्रता के प्रकार– स्वतंत्रता का प्रयोग हम विभिन्न अर्थों में करते हैं। अत: इसके अनेक प्रकार हैं, जिनमे निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(i) प्राकृतिक स्वतंत्रता– प्राकृतिक स्वतंत्रता से आशय मनुष्यों को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतंत्रता से है। इस स्वतंत्रता का प्रचार समझौतावासियों ने किया था। समझौतावासियों के मतानुसार राज्य के अस्तित्व में आने से पूर्व व्यक्ति

प्रकृति के राज्य में रहता था जहाँ वह पूरी तरह स्वतंत्र था। **रूसो** के शब्दो, ''मनुष्य जन्म से स्वतंत्र हैं, किन्तु सर्वत्र जंजीरों में जकड़ा हुआ है।''

इसलिए अब सभ्य समाज में प्राकृतिक स्वतंत्रता के विचार को स्वीकार नहीं किया जाता हैं प्राकृतिक स्वतंत्रता, स्वतंत्रता न होकर आज्ञा-पत्र है उचित स्वतंत्रता केवल राज्य द्वारा निर्धारित अवरोधों में रहकर ही भोगी जा सकती है यदि प्राकृतिक स्वतंत्रता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाए तो इसमें 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के सिद्धान्त को बल मिलेगा तथा शक्तिहीन की स्वतंत्रता छिन जाएगी।

(ii) नागरिक स्वतंत्रता– समाज का सदस्य होने के कारण व्यक्ति को जो स्वतंत्रता प्राप्त होती है उसको नागरिक स्वतंत्रता कहते हैं। इस प्रकार की स्वतंत्रता की रक्षा राज्य करता है। इसमें नागरिकों की निजी स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता, सम्पत्ति का अधिकार, विचार तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, इकट्ठे होने तथा संघ इत्यादि बनाने की स्वतंत्रता सम्मिलित है।

विभिन्न राज्यों में नागरिक स्वतंत्रता अलग-अलग रूपों में होती है। वहीं लोकतान्त्रिक राज्यों में यह स्वतंत्रता अधिक होती है, तथा तानाशाही राज्यों में कम। भारत के संविधान में नागरिक स्वतंत्रता का उपबन्ध मिलता है।

(iii) राजनीतिक स्वतंत्रता– राजनीतिक स्वतंत्रता का आशय नागरिकों का राज्य के कार्यो में सक्रिय भाग लेने की स्वतंत्रता से है। राजनीतिक स्वतंत्रता के अन्तर्गत मताधिकर, निर्वाचित होने का अधिकार, शासकीय पद प्राप्त करने का अधिकार तथा विचार अभिव्यक्ति का अधिकार इत्यादि सम्मिलित किए जाते हैं।

व्यक्ति के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता का अत्यधिक महत्व है। इसके अभाव में नागरिक स्वतंत्रता का कोई मूल्य नहीं रह जाता क्योंकि राजनीतिक स्वतंत्रता के उपयोग से ही ऐसे समाज का अस्तित्व सम्भव होता है, जिससे नागरिक स्वतंत्रताएँ अक्षुण्ण बनी रहती हैं।

(iv) आर्थिक स्वतंत्रता– आर्थिक स्वतंत्रता का आशय आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी उस स्थिति से हैं, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए अपना जीवनयापन कर सके।

जिस राज्य में भूख, गरीबी, दीनता, नग्नता तथा आर्थिक अन्याय होगा, वहाँ व्यक्ति कभी भी स्वतंत्र नहीं होगा। व्यक्ति को पेट की भूख, अपने बच्चों की भूख तथा भविष्य में दिखाई देने वाली आवश्यकताएँ प्रत्येक पल दु:खी करती रहेंगी। व्यक्ति भी स्वयं को स्वतंत्र अनुभव नहीं करेगा तथा न ही वह नागरिक एवं राजनीतिक स्वतंत्रता का भली-भांति उपयोग कर सकेगा। अत: राजनीतिक एवं नागरिक स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिए स्वतंत्रता का होना आवश्यक है।

(v) व्यक्तिगत स्वतंत्रता– व्यक्तिगत स्वतंत्रता से आशय है— व्यक्ति को ऐसे कार्य करने की स्वतंत्रता प्रदान करना है जो सिर्फ उसी तक सीमित हो तथा अन्य लोगों पर उसके इन कार्यों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता हो। यहाँ स्मरणीय यह बात है कि आज व्यक्ति का कोई कार्य ऐसा नहीं है जो अन्य लोगों को प्रभावित न करता हो। इसलिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी कुछ सीमाओं में रहकर ही प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार की स्वतंत्रता के अन्तर्गत वस्त्र, धर्म, भोजन तथा पारिवारिक जीवन को सम्मिलित किया जाता है।

(vi) धार्मिक स्वतंत्रता– अपने धर्म पर व्यक्ति किसी प्रकार का बन्धन स्वीकार नहीं करता। यही कारण है कि आज विश्व के अधिकांश राज्यों में व्यक्ति को कोई भी धर्म मानने, धर्म का प्रचार करने तथा धारण करने की स्वतंत्रता प्रदान की गई है। भारतीय संविधान में भी धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार प्रदान किया गया है।

धर्मतंत्र राज्यों में राज्य का एक धर्म होता है तथा उसी धर्म के अनुयायियों को विशेष सुविधाएँ दी जाती है जबकि धर्मनिरपेक्ष राज्य में व्यक्ति को अपनी इच्छा का कोई भी धर्म धारण करने की स्वतंत्रता प्राप्त होती है तथा सभी धर्म एकसमान होते हैं।

(vii) सामाजिक स्वतंत्रता– इस स्वतंत्रता का तात्पर्य समस्त व्यक्तियों को समाज से अपना विकास करने की सुविधा प्राप्त होने से है।

(viii) नैतिक स्वतंत्रता– नैतिक स्वतंत्रता का आशय अन्तरात्मा के अनुसार सत्य का पालन करते हुए आचरण करने की स्वतंत्रता से है। यह स्वतंत्रता सत्य परोपकार, अहिंसा तथा नैतिक आचरण पर बल देती है।

यह कथन स्वतंत्रता के समर्थक **काण्ट** के द्वारा दिया गया है— ''इस प्रकार आचरण करो कि तुम्हारी इच्छा से सार्वजनिक नियमों का प्रतिपादन किया जा सके।'' प्राकृतिक दृष्टि से परतंत्र व्यक्ति को स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता तथा इसके अभाव में मानव व्यक्तित्व का विकास अभी असम्भव है। अत: समाज में प्रत्येक व्यक्ति के साथ सहयोग, सदभावना तथा विनम्रतापूर्वक व्यवहार करना ही नैतिक स्वतंत्रता है।

(ix) राष्ट्रीय स्वतंत्रता– यह स्वतंत्रता सभी प्रकार की स्वतंत्रताओं तथा अधिकारों की आधारशिला है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता का आशय राष्ट्र की स्वतंत्रता से हैं। जिस प्रकार व्यक्ति को स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए, ठीक उसी प्रकार से एक राष्ट्र को भी अपने पूर्ण विकास के लिए स्वतंत्रता का होना आवश्यक है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता राज्य की आन्तरिक एवं बाह्य स्वाधीनता है। जो राष्ट्र अपने आन्तरिक प्रशासन तथा बाहरी संबंधों की स्थापना में स्वतंत्र होता है, किसी दूसरे देश के अधीन नहीं होता, वह स्वतंत्र और सम्प्रभु राष्ट्र होता है। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों तथा नियमों के अधीन प्रत्येक राष्ट्र की स्वतंत्रता पर कुछ प्रतिबन्ध रहता है।

4. स्वतंत्रता से आप क्या समझते हैं? नागरिकों को प्राप्त विभिन्न स्वतंत्रताओं का उल्लेख कीजिए।

उ०– **स्वतंत्रता–** इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या–1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

नागरिकों को प्राप्त विभिन्न स्वतंत्रताएँ– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या–3 के उत्तर में स्वतंत्रता के प्रकार का अवलोकन कीजिए।

5. ''स्वतंत्रता व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है।'' विवेचना कीजिए। अथवा स्वतंत्रता क्यों आवश्यक है? सकारात्मक स्वतंत्रता तथा नकारात्मक स्वतंत्रता की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

उ०– मनुष्य का सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, राजनीतिक तथा मानसिक विकास स्वतंत्रता के वातावरण में ही सम्भव है। **जे० एस० मिल** ने अपनी पुस्तक 'On Liberty' में स्वतंत्रता को मानव जीवन का मूलाधार बताया है। स्वतंत्रता के अत्यधिक महत्व के कारण ही विभिन्न देशों में लाखों व्यक्तियों ने इसकी रक्षार्थ हेतु अपने प्राणों को न्यौछावर कर दिया। स्वतंत्रता समाज एवं राष्ट्र की प्रगति के लिए आवश्यक है। स्वतंत्रता के आवश्यकता को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

(i) **स्वतंत्रता नैतिक गुणों के विकास में सहायक–** स्वतंत्रता व्यक्ति में प्रेम, दया, सहानुभूति, त्याग एवं सहयोग इत्यादि नैतिक गुणों को विकसित करके सामाजिक सभ्यता का विकास करती है, जो मानवीय मूल्यों के लिए आवश्यक है।

(ii) **स्वतंत्रता व्यक्तित्व के विकास में सहायक–** स्वतंत्रता के बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो सकतां स्वतंत्रता के माध्यम से ही वह साधन उपलब्ध कराए जाते हैं, जिनसे व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास का मार्ग प्रशस्त होता है।

(iii) **स्वतंत्रता अधिकार दिलाने में सहायक–** व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास के लिए अनेक परिस्थितियाँ आवश्यक होती हैं। यह समस्त परिस्थितियाँ ही वास्तव में अधिकार हैं, जिन्हें स्वतंत्रता द्वारा ही निर्मित किया जाता है।

(iv) **स्वतंत्रता समाज एवं राष्ट्र की प्रगति में सहायक–** जब व्यक्ति स्वतंत्र होता है तो उसके मस्तिष्क में नवीन विचारों का उदय होता है। इसके आधार पर नए-नए आविष्कार होते हैं, जिससे राष्ट्र की वैज्ञानिक प्रगति होती है। अत: कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता समाज एवं राष्ट्र की प्रगति में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है।

(v) **स्वतंत्रता आर्थिक प्रगति में सहायक–** व्यक्ति की आर्थिक प्रगति में भी स्वतंत्रता का महत्वपूर्ण योगदान है। स्वतंत्रता प्रगति में भी स्वतंत्रता का महत्वपूर्ण योगदान है। स्वतंत्रता के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति को दैनिक जीविका उपार्जित करने की सुरक्षा प्राप्त होती है।

(vi) **स्वतंत्रता राष्ट्रीय सम्मान में सहायक–** स्वतंत्रता राष्ट्र के सम्मान में गौरव में अभिवृद्धि करती है। इसी कारण अनेक देशों में लाखों देशभक्तों ने स्वतंत्रता प्राप्त करने हेतु अपने प्राणों का बलिदान कर दिया तथा देश को स्वतंत्र कराया। इटली के देशभक्त **मैजिनी** ने कहा, ''स्वतंत्रता के अभाव में आप अपना कोई कर्त्तव्य पूरा नहीं कर सकते। अत: आपको स्वतंत्रता का अधिकार दिया जाता है तथा जो भी शक्ति आपको इस अधिकार से वंचित रखना चाहती है कि उससे जैसे भी बने, अपनी स्वतंत्रता छीन लेना आपका कर्त्तव्य है।'' प्रसिद्ध विधिवेत्ता **नानी पालकीवाला** के कथानुसार— ''व्यक्ति सदैव स्वतंत्रता की बलिवेदी पर सर्वाधिक मूल्यवान बलिदान देते रहे हैं। वे भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और आत्मा एवं धर्म की स्वतंत्रता के लिए अपने प्राणों को न्यौछावर करते रहे हैं।''

स्वतंत्रता की आवश्यकता– इसके लिए उपर्युक्त उत्तर का अवलोकन करें।

(i) **स्वतंत्रता का सकारात्मक अथवा वास्तविक पहलू–** स्वतंत्रता के सकारात्मक पहलू से अभिप्राय है कि व्यक्ति को ऐसे कार्य करने देना जो उसकी प्रगति के लिए आवश्यक है, किन्तु समाज के हितों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचाते हों। स्वतंत्रता के इस पहलू के विचारकों में **ग्रीन**, **गाँधी**, **मैकेन्जी**, **लास्की** आदि का नाम उल्लेखनीय है।

''सकारात्मक स्वतंत्रता एक पूर्ण मानव के रूप में कार्य करने की स्वतंत्रता है। यह मानव को अपना विकास करने की शक्ति है। एक व्यवस्थित समाज की अव्यवस्थित सामाजिक परिस्थितियों में स्वतंत्रता की कल्पना नहीं की जा सकती।''

–मैक्फरसन का कथन

इस प्रकार सकारात्मक स्वतंत्रता का तात्पर्य उस वातावरण से हैं, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक हितों को समझते हुए अपने जीवन का आर्थिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास कर सके। आज के युग में स्वतंत्रता के निषेधात्मक स्वरूप को स्वीकार नहीं किया जाता है बल्कि स्वतंत्रता के सकारात्मक स्वरूप को ही उचित माना जाता है।

(ii) **स्वतंत्रता का नकारात्मक अथवा निषेधात्मक पहलू–** निषेधात्मक रूप से स्वतंत्रता का अभिप्राय सम्पूर्ण तथा बाधारहित स्वतंत्रता से लिया है और व्यक्ति बिना किसी बाधा की चिन्ता किए जो चाहे वह कर सकता है। साधारण शब्दों में, हम इसी को 'बाधारहित स्वतंत्रता' कहते हैं। स्वतंत्रता के इस पहलू के विचारकों में **हॉब्स**, **रूसो**, **कोल** तथा **सीले** का नाम उल्लेखनीय हैं।

मानव स्वभाव को देखते हुए स्वतंत्रता का निषेधात्मक रूप सभ्य समाज में सम्भव नहीं है। मनुष्य समाज में रहते हुए कोई ऐसा कार्य नहीं सकता जो अन्य लोगों को हानि पहुँचाता हो अथवा उनकी स्वतंत्रता में रुकावट पैदा करता हो । इस संबंध

में **लॉस्की** ने भी ठीक कथन दिया है– ''समाज में रहते हुए मनुष्य जो चाहे वह नहीं कर सकता। स्वतंत्रता कभी भी आज्ञापत्र नहीं बन सकती है।''

तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति को चोरी करने अथवा किसी की हत्या करने की छूट नहीं दी जा सकती हैं।

6. समानता के अर्थ को स्पष्ट कीजिए तथा प्रजातान्त्रिक राज्य में इसके महत्व का विवेचन कीजिए।

उ०– **समानता–**समानता का तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों के अस्तित्व से है जिनमें सभी व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु अवसर प्राप्त हो सके तथा जिनसे उसके व्यक्तित्व के विकास में आने वाली रुकावटे तथा सामाजिक-आर्थिक विषमताओं को दूर किया जा सके। जाति, धर्म, लिंग इत्यादि के आधार पर नागरिकों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। अर्थात् व्यक्ति को उसकी क्षमतानुसार प्रगति के समान अवसर प्रदान करना ही समानता है।

प्रजातांत्रिक राज्य में समानता का महत्व–

(i) स्वतंत्रता के लिए समानता का होना आवश्यक है।
(ii) समानता होने से नागरिकों के मध्य जाति, धर्म, भाषा, लिंग, वंश, रंग आदि के आधार पर कोई भेदवभाव नहीं होता है।
(iii) सामाजिक न्याय और स्वतंत्रता के लिए समानता का होना बहुत आवश्यक है।
(iv) प्रजातंत्र में अच्छी कानून व्यवस्था के लिए समानता आवश्यक है अन्यथा प्रजातंत्र का कोई मूल्य नहीं है।
(v) मौलिक आधारों की सार्थकता भी समानता से ही है।
(vi) सभी के विकास के लिए समानता होना अति आवश्यक है।
(vii) आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समानता आवश्यक है।

7. ''समानता के आवेश ने स्वतंत्रता की आशा को व्यर्थ कर दिया है।'' इस कथन का परीक्षण कीजिए।

उ०– ''समानता के आदेश ने स्वतंत्रता की आशा को व्यर्थ कर दिया है'' इस मत के समर्थक इसके पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(i) समान स्वतंत्रता का सिद्धान्त गलत– सभी व्यक्तियों का एक ही स्तर पर रखना, एक जैसी समानता देना गलत ही नहीं बल्कि अनैतिक भी है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति समान नहीं होता। बुद्धिमान-मूर्ख, ज्ञानी-अज्ञानी, देशद्रोही-देशभक्त इत्यादि सभी को समान पद देना मौलिक रूप से त्रुटिपूर्ण है। डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, वैज्ञानिक, मजदूर तथा बेकारों को समान समझना अन्याय ही होगा।

(ii) प्रकृति ने सभी मानवों को समान नहीं बनाया है– समाज में असमानता प्रकृति की ही देन है क्योंकि प्रकृति ने सभी लोगों को समान नहीं बनाया है। कुछ लोग बुद्धिमान होते हैं तो कुछ बुद्धिहीन, कुछ सुन्दर होते है तो कुछ कुरूप। इसके विरुद्ध हम शक्ति प्रयोग द्वारा बुद्धिहीनों और विवेकशीलों में समानता स्थापित करने का प्रयास करते हैं तो प्रकृति के असमानता के सिद्धान्त के विरुद्ध कार्य करते हैं।

(iii) आर्थिक स्वतंत्रता एवं समानता विरोधी हैं– व्यक्तिवादियों की मान्यता है कि आर्थिक क्षेत्र में खुली प्रतियोगिता एवं स्वतंत्र व्यापार होना चाहिए, जिससे प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्रता से अपनी आर्थिक प्रगति कर सके। लेकिन आज जब हम आर्थिक क्षेत्र में समानता स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं तो इससे हम आर्थिक स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक बनते हैं जिसके फलस्वरूप व्यक्ति की आर्थिक स्वतंत्रता सीमित हो जाती है।

(iv) योग्य व्यक्तियों को अपनी क्षमता प्रदर्शित करने का अवसर नहीं मिलता– जब हम योग्य तथा अयोग्य व्यक्ति को समान अधिकार एवं अवसर देते हैं तो इससे योग्य व्यक्ति को अपनी क्षमता प्रदर्शित करने का अवसर नहीं मिलता। उदाहरणार्थ, लोकतंत्र में योग्य तथा अयोग्य व्यक्ति को समान राजनीतिक अधिकार प्रदान किए जाते हैं जिससे योग्य तथा अयोग्य व्यक्तियों का अन्तर करना कठिन हो जाता है।

8. ''स्वतंत्रता और समानता एक दूसरे के पूरक हैं।'' इस कथन की विवेचना कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

9. स्वतंत्रता और समानता के पारस्परिक संबंधों की विवेचना कीजिए। अथवा
स्वतंत्रता की समस्या का केवल एक ही समाधान है और वह समाधान समानता में निहित है। परीक्षण कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

10. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–

(i) स्वतंत्रता की आवश्यकता व रूप **(ii) समानता के विविध रूप**

उ०– **(i) स्वतंत्रता की आवश्यकता व रूप–** स्वतंत्रता शब्द का वास्तविक अर्थ समझ लेने के उपरान्त यह प्रश्न उठता है कि स्वतंत्रता की क्या आवश्यकता है? क्या इसके अभाव में व्यक्ति की उन्नति सम्भव है? इन प्रश्नों का वास्तविक उत्तर यही है कि स्वतंत्रता मानव जीवन की एक आवश्यक शर्त है और इसके बिना जीवन शून्य है। इस स्वतंत्रता का उपयोग समाज के अन्तर्गत ही किया जा सकता है। स्वतंत्रता की आवश्यकता के विषय में विभिन्न दृष्टिकोण है, जिनका संक्षिप्त विवरण देना परम आवश्यक है।

फासिस्ट दृष्टिकोण– इस विचारधारा के लोगों का मत है कि स्वतंत्रता के द्वारा मनुष्य अपनी उन्नति नहीं कर सकता। वह स्वतंत्रता का इच्छुक भी नहीं है, क्योंकि इससे मानव के विकास में बाधा पड़ती है। इस विचार के समर्थकों का कथन है कि मनुष्य मूर्ख होते हैं, इसलिए स्वतंत्रता का उपभोग ठीक प्रकार से नहीं कर सकते। उनका दृष्टिकोण संकुचित होता है और वे अपने स्वार्थ की ही सोचते है। स्वतंत्रता उन्हीं लोगों को मिलनी चाहिए जिसके हाथ में शासन की बागड़ोर हो। स्वतंत्रता विचार के सिद्धान्त में उनका विश्वास नहीं है। फासिस्ट शासन में जनता का कोई महत्व नहीं होता। उसमें एक नेता तथा उसके अधीन कार्य करने वाले कुछ व्यक्ति ही सम्पूर्ण समाज एवं राष्ट्र के कार्यों का संचालन करते हैं।

जनतन्त्रात्मक दृष्टिकोण– स्वतंत्रता के संबंध में फासिस्ट दृष्टिकोण ठीक नहीं। यह विचार समाज एवं व्यक्ति दोनों के लिए ही अहितकर है। प्रजातंत्रवादी यह कहते हैं कि स्वतंत्रता मानव हित का साधन है और इसके अभाव में व्यक्ति अपनी उन्नति नहीं कर सकता। उनके विचार में स्वतंत्रता एक अपूर्ण शक्ति है जो व्यक्ति को पशुता से पृथक करके उसको उन्नति के लिए प्रेरित करती है। व्यक्ति और समाज के लिए स्वतंत्रता बहुत महत्वपूर्ण तत्व है। मानव जीवन में स्वतंत्रता का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। मानव का विकास स्वतंत्रता पर ही निर्भर है और उसके लिए स्वतंत्रता की परम आवश्यकता है। मनुष्य में विविध गुणों का समावेश इसी के द्वारा होता है।

स्वतंत्रता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है और उसका अपहरण वह कभी सहन नहीं कर सकता। वह कानूनों का पालन भी तभी तक करता है जब तक कि कानून उसकी स्वतंत्रता में बाधक नहीं होता। व्यक्ति स्वतंत्रता का प्रेमी है और वे दासता को पसन्द नहीं करता।

(ii) समानता के विविध रूप– समानता के विविध रूप और उनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

(क) प्राकृतिक समानता– इस प्रकार की समानता का आशय यह है कि मानव जन्म से ही समान है तथा उनमें किसी प्रकार की असमानता स्वीकार नहीं की जानी चाहिए। संविदाकारी विचारकों ने प्राकृतिक समानता पर अत्यधिक जोर दिया है, लेकिन वर्तमान में इसे काल्पनिक माना जाता है। आधुनिक विचारकों की मान्यता है कि प्रकृति स्वयं मनुष्यों को असमान वृद्धि, बल, प्रतिभा इत्यादि प्रदान करती है अत: यह सिद्धान्त अनुचित है। यह सिद्धान्त अपने आदर्श रूप में इस बात पर जोर देता है कि समस्त व्यक्तियों के व्यक्तित्व को समान समझा जाना चाहिए।

(ख) सामाजिक समानता– सामाजिक समानता का अभिप्राय है कि समाज से विशेष अधिकारों का अन्त हो जाए तथा सामाजिक दृष्टिकोण से समस्त व्यक्ति समान समझे जाने लगे। समाज में जाति, वंश, नस्ल, लिंग तथा सम्प्रदाय के आधार पर भेदभाव नहीं होना चाहिए। उदाहरणार्थ, भारत में जाति प्रथा तथा अस्पृश्ता और अमेरिका एवं अफ्रीका के कुछ देशों में रंग के आधार पर भेदभाव सामाजिक विषमता के ही प्रतीक हैं।

(ग) सांस्कृतिक एवं शिक्षा सम्बन्धी समानता– इसका तात्पर्य यह है कि सांस्कृतिक दृष्टि से समाज के समस्त वर्गों को अपनी भाषा, लिपि तथा संस्कृति को सुरक्षित बनाए रखने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए । इसके साथ ही सभी व्यक्तियों को बिना किसी भेदभाव के शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए।

(घ) नागरिक समानता– नागरिक समानता का तात्पर्य उस दृष्टि से है, जिसमें कानून के लिए सभी लोग समान हों। राज्य का सदस्य होने के कारण प्रत्येक नागरिक को समुचित विकास हेतु नागरिक सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए।

शिक्षा, सम्पत्ति, भाषण की स्वतंत्रता इत्यादि को प्रदान करने में राज्य को जाति, धर्म, लिंग, सम्पत्ति इत्यादि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करना चाहिए। हॉब्स ने तो नागरिक समानता को मूलभूत अधिकार तथा कर्त्तव्यों की समानता कहा है।

(ङ) धार्मिक समानता– धार्मिक समानता का अभिप्राय यह है कि सभी धर्म समान हैं तथा सभी व्यक्तियों को समान रूप से अपने-अपने धर्म का पालन करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। राज्य द्वारा धार्मिक आधार पर किसी व्यक्ति या सम्प्रदाय के साथ भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य में ही धार्मिक समानता सम्भव होती है। इस दृष्टि से भारतीय समाज आदर्श है क्योंकि यहाँ पूर्ण धार्मिक समानता है।

(च) आर्थिक समानता– आर्थिक समानता का आशय यह है कि व्यक्तियों की आय में बहुत अधिक समानता नहीं होनी चाहिए। उनकी आय के मध्य इतना अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए कि एक व्यक्ति अपने धन के आधार पर दूसरे का शोषण करे। समाज में धन का उचित वितरण होना चाहिए तथा समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए।

''मुझे केक खाने का कोई अधिकार नहीं है, जब मेरे पड़ोसी को बिना रोटियों के गुजारा करना पड़ता है।'' **–लास्की**

लास्की आगे चलकर कहता है— ''कुछ व्यक्तियों के पास आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ होने से पूर्व सभी व्यक्तियों के पास आवश्यक पदार्थ हो जाने चाहिए।''

(छ) राजनीतिक समानता– राजनीतिक समानता का तात्पर्य है कि सभी व्यक्तियों को समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए। वोट देने, संसद तथा विधानमण्डलों में निर्वाचित होने तथा शासकीय पद प्राप्त करने जैसे क्षेत्रों में सभी समान अवसर और सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। राज्य को इन अधिकारों को प्रदान कराने में किसी भी

आधार पर पक्षपात नहीं करना चाहिए। लेकिन इन अधिकारों की प्राप्ति में पागल, कोढ़ी, दिवालिया एवं अपराधी अपवाद होते हैं। आधुनिक लोकतान्त्रिक देशों में राजनीतिक समानता पर विशेष जोर दिया जाता है।

11. ''कानून और स्वतंत्रता एक-दूसरे के पूरक हैं।'' इस कथन की विवेचना कीजिए।

उ०– कानून और स्वतंत्रता एक-दूसरे के पूरक हैं। यह कथन निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट होता है—

(i) कानून वास्तविक स्वतंत्रता की उत्पत्ति करता है– अनेक विचारकों की यह धारणा है कि कानून वास्तविक स्वतंत्रता का जन्मदाता है। राज्य कानून का निर्माण करता है, परन्तु राज्य व्यक्ति की ही भावनाओं का प्रतीक होता है। राज्य की आज्ञा के पालन में व्यक्ति अपनी ही आज्ञा का पालन करता है।

वस्तुत: स्वतंत्रता राज्य में ही संभव है। स्वतंत्रता का अस्तित्व इसलिए है कि राज्य का अस्तित्व है। स्वतंत्रता के लिए यह आवश्यक होता है कि उसकी रक्षा हो। राज्य इस आवश्यकता की पूर्ति करता है। यह कानून द्वारा ऐसी अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करता है, जिससे व्यक्ति स्वतंत्रता के अधिकार का रसास्वादन कर सकें।

(ii) कानून स्वतंत्रता का संरक्षक है– कानून स्वतंत्रता का जनक नहीं वह उसका संरक्षक भी है। कल्पना कीजिए उस स्थिति की जबकि कोई व्यवस्था नहीं है, न अपराधियों को दण्ड देने के लिए कानून है और न उनका पालन कराने के लिए सरकार। ऐसी स्थिति में मत्स्य न्याय या जिसकी लाठी उसकी भैंस की कहावत चरितार्थ होगी। ऐसी दशा में स्वतंत्रता की आशा व्यर्थ है। इस प्रकार कानून से ही स्वतंत्रता की सुरक्षा होती है।

(iii) कानून और स्वतंत्रता एक-दूसरे के पूरक हैं– कानून और स्वतंत्रता एक-दूसरे के पूरक हैं। यदि मानव सभ्यता के विकास की कथा पर एक दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि कानून के निर्माण के मूल में मानव स्वतंत्रता की भावना रही। मनुष्य अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए कानूनों का निर्माण करता है। वस्तुत: कानून के बिना स्वतंत्रता की कल्पना नहीं की जा सकती और कानून तथा स्वतंत्रता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वे एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं— "Law and Liberty are thus-dependent and complementary to each other."

(iv) कानून स्वतंत्रता में वृद्धि करते हैं– अधिकार पत्र (Bill of Rights) जैसे अनेक कानून मानव स्वतंत्रता की वृद्धि में सहायक हुए हैं। इस संबंध में **लॉक** ने ठीक ही लिखा है कि, ''कानूनों का उद्देश्य स्वतंत्रता का उन्मूलन करना अथवा उसको रोकना नहीं हैं, अपितु इसका उद्देश्य स्वतंत्रता की रक्षा तथा वृद्धि करना है।''

(v) स्वतंत्रता पर कानून का नियंत्रण अनिवार्य है– व्यक्ति की स्वतंत्रता पर कानून का नियंत्रण अनिवार्य है, अन्यथा व्यक्ति की स्वतंत्रता सुरक्षित नहीं रह सकती। **हाइट** का कथन है कि, ''केवल स्वतंत्रता ही एक ऐसी वस्तु है, जिसमें तुम तब तक प्राप्त नहीं कर सकते हो, जब तक तुम इसे दूसरे को देने के लिए तत्पर न हो।''

समाज में रहकर कोई भी व्यक्ति स्वेच्छानुसार कार्य नहीं कर सकता है। उसे दूसरों के हितों का ध्यान रखना भी आवश्यक है। कानून इस बात पर नियंत्रण रखते हैं कि व्यक्ति को कौन से कार्य करने चाहिए और कौन से नहीं। इसलिए स्वतंत्रता पर कानून का नियंत्रण होना अनिवार्य माना जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कानून मनुष्य की स्वतंत्रता का मित्र है। वास्तव में स्वतंत्रता की उत्पत्ति कानून द्वारा होती है।

4 अधिकार एवं कर्त्तव्य (Right and Duties)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 69-70 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 70 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अधिकारों के प्रमुख लक्षण लिखिए।

उ०– अधिकारों के प्रमुख लक्षण और विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) अधिकार सिर्फ समाज में ही सम्भव है।
(ii) अधिकार समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं।
(iii) अधिकार असीमित नहीं हैं।
(iv) अधिकार राज्य द्वारा स्वीकृत व निर्धारित होते हैं।
(v) अधिकार सर्वव्यापक अथवा सार्वभौमिक होते हैं।
(vi) अधिकार तथा कर्त्तव्य परस्पर संबंधित हैं।
(vii) अधिकार व्यक्ति की माँग अथवा दावा है।
(viii) अधिकारों का स्वरूप कल्याणकारी है।
(ix) अधिकार राज्य द्वारा संरक्षित होते हैं।
(x) अधिकार निरन्तर विकासशील एवं परिवर्तनशील होते हैं।

2. किन्हीं चार राजनीतिक अधिकारों का वर्णन कीजिए। अथवा
नागरिकों के दो महत्वपूर्ण राजनीतिक अधिकार बताइए।

उ०– चार राजनीतिक अधिकारों का वर्णन निम्नलिखित है—

(i) राजनीतिक दल बनाने का अधिकार– लोकतंत्र में नागरिकों को अलग-अलग राजनीतिक दल बनाने का अधिकार प्राप्त होता है। ये राजनीतिक दल चुनावों में हिस्सा लेते है, सरकार बनाते हैं तथा सरकार की आलोचना इत्यादि करते हैं।

(ii) विदेशों में सुरक्षा का अधिकार– संसार के समस्त नागरिक जिस समय विदेशों में जाते हैं उस समय उनकी सुरक्षा की जिम्मेदारी राष्ट्र अपने ऊपर लेता है। इस कार्य के लिए राष्ट्रों के राजदूतों द्वारा परस्पर संबंध स्थापित किए जाते हैं।

(iii) आवेदन-पत्र और सम्पत्ति देने का अधिकार– इस अधिकार के अन्तर्गत नागरिकों को यह अवसर दिया जाता है कि वे वैयक्तिक अथवा सामूहिक रूप में सरकार को शासन संबंधी शिकायतें दूर करने के लिए अथवा शासन को अधिकाधिक लोक-कल्याणकारी बनाने के लिए आवेदन पत्र दे सकते हैं। इस प्रकार वे शासन की नीतियों के समर्थन में अपनी सम्मति भी प्रकट कर सकते हैं। **गुरुमुख निहाल सिंह** ने कहा है, ''यह अधिकार व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से व्यक्ति की कठिनाईयों एवं शिकायतों को दूर करने का प्राचीन तथा बहुमूल्य अधिकार है।''

(iv) सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार– राज्य के समस्त सार्वजनिक पदों पर व्यक्तियों को योग्यता के आधार पर नियुक्ति पाने का अधिकार दिया जाना चाहिए।

3. नागरिकों के कर्त्तव्य पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उ०– कर्त्तव्य– कर्त्तव्य से साधारणत: आशय उन कार्यों से होता है कि जिन्हें करने के लिए नागरिक नैतिक रूप से प्रतिबन्धित होते हैं। इस प्रकार साधारणत: कर्त्तव्य वे होते हैं, जिनके लिए कहा जाता है कि उन्हें नागरिकों को करना ही चाहिए तथा जिनके लिए यह नहीं कहा जाता है कि उन्हें नागरिकों को करना ही पड़ेगा अर्थात् किसी विशेष कार्य करने के संबंध में नागरिकों के उत्तरदायित्व को ही कर्त्तव्य कहा जा सकता है। इस प्रकार जिन कार्यों के संबंध में समाज एवं राज्य सामान्य रूप से नागरिकों से यह आशा करते हैं कि उन्हें वे कार्य करने चाहिए, वे ही नागरिकों के कर्त्तव्य कहे जा सकते हैं।

क्षेत्र और व्यापकता के आधार पर कर्त्तव्यों को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है—

(i) नैतिक कर्त्तव्य
(ii) वैधानिक कर्त्तव्य

4. नागरिकों के चार वैधानिक अधिकारों का उल्लेख कीजिए।

उ०– नागरिकों के चार वैधानिक अधिकार निम्न प्रकार हैं—

(i) धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार
(ii) आर्थिक स्वतंत्रता का अधिकार
(iii) मत देने का अधिकार
(iv) न्याय प्राप्त करने का अधिकार

5. राज्य के प्रति नागरिकों के चार कर्त्तव्यों पर प्रकाश डालिए।

उ०– राज्य के प्रति नागरिकों के चार कर्त्तव्य निम्नवत् हैं—

(i) कानूनों का पालन करना
(ii) देश प्रेम की भावना
(iii) करों का भुगतान करना
(iv) सरकारी कर्मचारियों की सहायता करना

6. अधिकारों के प्राकृतिक सिद्धान्त पर टिप्पणी लिखिए।

उ०– अधिकारों का प्राकृतिक सिद्धान्त– टॉमस पेन, ब्लैकस्टोन, हरबर्ट स्पेन्सार, रूसो, मिल्टन, वॉल्टेयर, लॉक, हॉब्स आदि विद्वानों ने अधिकारों के प्राकृतिक सिद्धान्त का समर्थन किया है। यह सिद्धान्त अति प्राचीन है। इसके अनुसार अधिकार प्रकृति द्वारा प्रदान किए गए है और वे व्यक्ति को जन्म के साथ ही प्राप्त हो जाते हैं। व्यक्ति प्राकृतिक अधिकारों का प्रयोग राज्य के उदय के पूर्व से ही करता चला आ रहा है। राज्य इन अधिकारों को न तो छीन सकता है और न ही वह इनका जन्मदाता है।

''प्राकृतिक अधिकार वे हैं, जो मनुष्य के अस्तित्व को स्थायित्व प्रदान करने के लिए आवश्यक है।'' इस दृष्टिकोण से अधिकार जन्मजात, असीमित, निरपेक्ष तथा स्वयंसिद्ध है। राज्य इन अधिकारों में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। **–टॉमस पेन**

आलोचना– इस सिद्धान्त के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(i) यह सिद्धान्त अनैतिहासिक है क्योंकि जिस प्राकृतिक अवस्था के अन्तर्गत इन अधिकारों के प्राप्त होने का उल्लेख किया गया है, वह काल्पनिक है।
(ii) **ग्रीन** का मत है कि समाज से पृथक कोई भी अधिकार सम्भव नहीं है।
(iii) यह सिद्धान्त राज्य को कृत्रिम संस्था मानता है, जो अनुचित है।
(iv) प्राकृतिक अधिकारों में परस्पर विरोधाभास पाया जाता है।
(v) यह सिद्धान्त कर्त्तव्यों के प्रति मौन है, जबकि कर्त्तव्य के अभाव में अधिकारों का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

महत्व– प्राकृतिक सिद्धान्त की कमियों के बावजूद इसके महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती है क्योंकि अमेरिका, भारत, रूस, चीन आदि देशों के संविधानों में वर्णित मूल अधिकारों की व्यवस्था इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

7. अधिकार और कर्त्तव्य एक-दूसरे के पूरक हैं। दो कारण बताइए।

उ०– अधिकार और कर्त्तव्य एक-दूसरे के पूरक हैं। इसके दो कारण निम्नवत् हैं—

(i) व्यक्ति का अधिकार समाज तथा राज्य का कर्त्तव्य– व्यक्ति अपने अधिकारों का उपभोग तभी कर सकता है, जब समाज और राज्य अपने कर्त्तव्यों का पालन करें। अधिकारों का अस्तित्व समाज की सहमति तथा राज्य के संरक्षण पर आधारित है। यदि राज्य कानूनों से नागरिकों के अधिकारों को संरक्षण प्रदान नहीं करेगा तो नागरिकों के अधिकार महत्वहीन हो जाएँगे।

(ii) कर्त्तव्य पालन से ही अधिकारों की प्राप्ति सम्भव है– यदि समाज के समस्त व्यक्ति सहयोग करेंगे तभी अधिकारों का अस्तित्व रह पाएगा तथा जब सहयोग की भावना का विकास होता है तभी कर्त्तव्य आ जाते हैं। कर्त्तव्यों के पालन में अधिकारों के उपभोग का रहस्य छिपा हुआ है।

''संसार में ऐसा कोई आदमी ऊँचा नहीं उठा जिसने सिर्फ अधिकारों को विषय में ही सोचा हो, वही लोग ऊपर उठ पाए है जिन्होंने कर्त्तव्यों को ही प्रमुखता दी।'' **–महात्मा गाँधी**

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. अधिकार की परिभाषा दीजिए। ''अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।'' इस कथन को सिद्ध कीजिए।

उ०– अधिकार की परिभाषा– अधिकार समुदाय के कानून द्वारा स्वीकृत वह व्यवस्था, नियम या रीति है, जो नागरिक के सर्वोच्च नैतिक कल्याण में सहायक है।

अधिकार तथा कर्त्तव्यों का परस्पर संबंध– अधिकार तथा कर्त्तव्य यद्यपि दो अलग-अलग शब्द है, लेकिन दोनों में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। अधिकार तथा कर्त्तव्य के बीच वही संबंध है जो शरीर एवं आत्मा का है। एक के अभाव में हम दूसरे की कल्पना नहीं कर सकते हैं। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

एक व्यक्ति का जो अधिकार है, वह दूसरे व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

''मेरा अधिकार तुम्हारे कर्त्तव्य के साथ बँधा हुआ है।'' **–प्रो० लास्की**

प्राय: अधिकार एवं कर्त्तव्य को परस्पर विरोधी समझा जाता है। एक सामान्य व्यक्ति यह सोचता है कि अधिकार उपभोग की वस्तु है, अत: लाभदायक है तथा कर्त्तव्य त्याग की माँग करते है अत: हानिकारक एवं कष्टदायक हैं। लेकिन ऐसा दृष्टिकोण एक मूर्ख एवं अज्ञानी व्यक्ति का ही हो सकता है राजनीतिक चेतनासम्पन्न नागरिक का नहीं। मूल रूप से व्यक्ति एवं समाज अथवा नागरिक एवं राज्य परस्पर विरोधी न होकर सहयोगी हैं। एक नागरिक का वास्तविक हित अन्य नागरिकों के वास्तविक हितों के विरुद्ध नहीं हो सकता। मानव एक राजनीतिक-सामाजिक प्राणी है अत: उसके हित अन्य लोगों के हितों के विरुद्ध सम्भव नहीं हैं।

''अधिकार तथा कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि व्यक्ति उन्हें अपने दृष्टिकोण से देखता है तो अधिकार हैं तथा इसी को दूसरों के दृष्टिकोण से देखता है तो वे कर्त्तव्य हो जाते हैं।'' **–डा० बेनीप्रसाद**

''अधिकार तथा कर्त्तव्य एक दूसरे के पूरक है।'' **–टी०एच० ग्रीन**

''अधिकारों का वास्तविक स्रोत कर्त्तव्य हैं।'' **–महात्मा गाँधी**

अधिकार तथा कर्त्तव्यों का परस्पर संबंध निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—

(i) व्यक्ति का अधिकार समाज तथा राज्य का कर्त्तव्य– व्यक्ति अपने अधिकारों का उपभोग तभी कर सकता है, जब समाज और राज्य अपने कर्त्तव्यों का पालन करें। अधिकारों का अस्तित्व समाज की सहमति तथा राज्य के संरक्षण पर आधारित है। यदि राज्य कानूनों से नागरिकों के अधिकारों को संरक्षण प्रदान नहीं करेगा तो नागरिकों के अधिकार महत्वहीन हो जाएँगे।

(ii) अधिकार तथा कर्त्तव्य दार्शनिक दृष्टिकोण से संबंधित– हिन्दू धर्मशास्त्र के अनुसार— अधिकार तथा कर्त्तव्य में वही संबंध है, तो कार्य तथा उसके परिणाम के बीच है।

(iii) कर्त्तव्य पालन से ही अधिकारों की प्राप्ति सम्भव है– यदि समाज के समस्त व्यक्ति सहयोग करेंगे तभी अधिकारों का अस्तित्व रह पाएगा तथा जब सहयोग की भावना का विकास होता है तभी कर्त्तव्य आ जाते हैं। कर्त्तव्यों के पालन में अधिकारों के उपभोग का रहस्य छिपा हुआ है।

महात्मा गाँधी के अनुसार ''संसार में ऐसा कोई आदमी ऊँचा नहीं उठा जिसने सिर्फ अधिकारों को विषय में ही सोचा हो, वही लोग ऊपर उठ पाए है जिन्होंने कर्त्तव्यों को ही प्रमुखता दी।''

(iv) अधिकार तथा कर्त्तव्य दोनों ही माँगे हैं– अधिकार तथा कर्त्तव्य दोनों ही व्यक्ति तथा समाज की अनिवार्य माँगे हैं। जहाँ अधिकार व्यक्ति की माँग हैं जिन्हें समाज स्वीकार कर लेता है तो वही कर्त्तव्य समाज की माँगे हैं जिन्हें व्यक्ति सार्वजनिक हित में स्वीकार करता है।

वाइल्ड ने कहा— ''अधिकार का महत्व, कर्त्तव्यों के संसार में ही है।''

(v) मानवता के प्रति कर्त्तव्य– आधुनिक काल में व्यक्ति अपने राज्य का ही नहीं अपितु विश्व का नागरिक है। विश्व

नागरिकता का विचार दिन-प्रतिदिन प्रबल रूप धारण कर रहा है। श्रेष्ठ नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह सम्पूर्ण विश्व-शान्ति कायम करने के लिए राष्ट्रीय सहयोग तथा सुरक्षा में भागीदारी करे।

(vi) नागरिक के अधिकार राज्य के प्रति कर्त्तव्य उत्पन्न करते हैं– राज्य नागरिकों की प्रगति के लिए विविध सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार प्रदान करता है। अत: नागरिकों का पुनीत कर्त्तव्य है कि वे राज्य के प्रति कर्त्तव्यों का पालन करे। राज्य के प्रति भक्तिभाव रखना, राज्य द्वारा निर्मित कानूनों का पालन करना तथा उसके द्वारा लगाए गए करों का भुगतान करना नागरिकों का पुनीत कर्त्तव्य है। आपातकाल के समय स्वयं को राज्य के प्रति समर्पित करना भी नागरिकों का ही कर्त्तव्य है। नागरिक के कर्त्तव्य पालन पर ही राज्य नागरिक को सुविधाएँ प्रदान करने में सक्षम होता है।

(vii) व्यक्ति का अधिकार स्वयं उसका कर्त्तव्य– समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार स्वयं उसका कर्त्तव्य है यदि एक व्यक्ति चाहता है कि वह अपने अधिकारों का उपभोग बिना किसी रुकावट के करे तथा समाज के लोग उसके अधिकार में रोड़ा न अटकाएँ तो उसका कर्त्तव्य है कि वह उसी प्रकार के दूसरें व्यक्तियों के अधिकारों को मान्यता प्रदान करे तथा उनके अधिकारों के उपभोग में रुकावट पैदा न करे।

''यदि प्रत्येक व्यक्ति सिर्फ अपने अधिकार का ही ध्यान रखें तथा दूसरों के प्रति कर्त्तव्यों का पालन न करें तो शीघ्र ही किसी के लिए अधिकार नहीं रहेंगें।''
–डा० बेनीप्रसाद

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि समाज में हमे कुछ अधिकार मिलते हैं तथा उनके बदले में हम जो ऋण चुकाते हैं वे हमारे कर्त्तव्य हैं। इस प्रकार अधिकारों में कर्त्तव्य निहित हैं। वर्तमान में व्यक्ति अधिकारों की अधिक कामना करते हैं। लेकिन वे भूल जाते हैं कि अधिकारों के साथ-साथ कर्त्तव्यपालन भी आवश्यक है। वस्तुत: अधिकार एवं कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

2. अधिकार से क्या तात्पर्य है? लोकतंत्र में उपलब्ध नागरिकों के अधिकारों का वर्णन कीजिए।

उ०– **अधिकार का अर्थ–** राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन को सुखमय बनाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक राज्य व्यक्ति को कुछ सुविधाएँ प्रदान करता है। ये सुविधाएँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए अति आवश्यक होती हैं। राज्य द्वारा दी जाने वाली इन सुविधाओं को सामान्य बोलचाल की भाषा में अधिकार कहा जाता है। अधिकार समाज द्वारा दी गई व राज्य द्वारा रक्षित वे सुविधाएँ हैं, जिनके आधार पर व्यक्ति अपना चहुँमुखी विकास कर सकता है।

अधिकार शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा के दो शब्दों— अधि तथा कार से मिलकर हुई है, जिनके क्रमश: अर्थ हैं— प्रभुत्व और कार्य। इस प्रकार शाब्दिक अर्थ में अधिकार का आशय उस कार्य से हैं, जिस पर व्यक्ति का प्रभुत्व होता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में बहुत से व्यक्ति निवास करते है, जिनके स्वभाव और विचार एक दूसरे से भिन्न होते हैं। अत: समाज का संगठन ऐसा होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास एवं अपनी उन्नति करने की अधिक-से-अधिक सुविधा प्राप्त हो सके। इन्ही सुविधाओं को नागरिक शास्त्र में अधिकार कहा जाता है।

लोकतंत्र में उपलब्ध नागरिकों के अधिकार– लोकतंत्र में उपलब्ध अधिकारों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

(i) सामाजिक अथवा नागरिक अधिकार
(ii) राजनीतिक अधिकार
(iii) आर्थिक अधिकार
(iv) राज्य के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार

(i) सामाजिक अथवा नागरिक अधिकार– ये अधिकार व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए तथा सामाजिक जीवन के सभ्य, सुसंस्कृत कुशल संचालन के लिए आवश्यक होते हैं। राज्य इन अधिकारों को कानूनी मान्यता प्रदान करता है। सामाजिक अथवा नागरिक अधिकारों में सम्मिलित प्रमुख अधिकार निम्नलिखित हैं—

(क) जीवन का अधिकार– जीवन का अधिकार एक प्रारम्भिक अधिकार है, जिसके बिना न तो व्यक्ति और न ही समाज सुरक्षित रह सकता है। यदि राज्य मानवीय जीवन की रक्षा नहीं करेगा तो व्यक्ति को सदैव अपने जीवन की चिन्ता लगी रहेगी।

''यदि मनुष्य को जीवन का अधिकार प्राप्त नहीं होगा तो वह सम्पूर्ण जीवन अपनी सुरक्षा में ही व्यतीत कर देगा।''
–प्रो० लास्की

जीवन के अधिकार में आत्म सुरक्षा की स्वतंत्रता भी निहित है। इसका तात्पर्य यह है कि एक व्यक्ति अपने जीवन की सुरक्षा हेतु हमलावर पर घातक वार कर सकता है। उसका यह कार्य अपराध नहीं माना जाएगा।

(ख) व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार– व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अर्थ है कि व्यक्ति अपने निजी क्षेत्र में पूर्ण रूप से स्वतंत्र है, लेकिन वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता राज्य द्वारा निर्मित कानूनों की सीमाओं में रहकर ही प्राप्त कर सकता है।

(ग) शिक्षा का अधिकार– शिक्षा के अभाव में व्यक्ति पशु की भाँति होता है। अत: नागरिकों को शिक्षा का अधिकार प्राप्त किया जाता है तथा इस अधिकार के उपभोग हेतु वाचनालय, पुस्तकालय तथा संग्रहालयों आदि अनेक प्रकार की सुविधाएँ दी जाती हैं। इसके अतिरिक्त प्रारम्भिक शिक्षा की अनिवार्य तथा नि:शुल्क रूप में व्यवस्था भी की जाती है।

(घ) परिवार का अधिकार– मनुष्य जाति को बनाए रखने के लिए परिवार का अधिकार परमावश्यक है। व्यक्ति अपनी इच्छानुसार विवाह कर सकता है तथा बच्चों को जन्म दे सकता है। इस अधिकार द्वारा व्यक्ति की काम प्रवृत्ति की पूर्ति होती है, लेकिन इस अधिकार का प्रयोग सिर्फ समाज के कल्याण हेतु ही किया जाए इसलिए सरकार विवाह, तलाक, पत्नियों की संख्या तथा परिवार के सदस्यों में सम्पत्ति का विभाजन संबंधी कानून बना देती है।

(ङ) संघ-निर्माण का अधिकार– मानव अपने जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अनेक प्रकार के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक संगठन निर्मित करता है तथा राज्य उसके इस अधिकार को मान्यता देता है। लेकिन राज्य ऐसे संघ बनाने की अनुमति नहीं देता है, जो राज्य के हितों के विरुद्ध हों। राज्य ऐसे संघों को समाप्त कर सकता है।

(च) समझौते का अधिकार– राज्य व्यक्ति को अन्य नागरिकों के साथ संबंध स्थापित करने का अधिकार भी प्रदान करता है। इससे व्यक्ति के परस्पर संबंध दृढ़ होते हैं तथा उनकी अनेक समस्याओं का समाधान भी हो सकता है।

(छ) आवागमन का अधिकार– इस अधिकार के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को राज्य की सीमा के भीतर स्वतंत्रतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने की सुविधा प्राप्त होती है। राज्य उन स्थानों पर, जो कि राज्य की सुरक्षा हेतु महत्वपूर्ण होते हैं, जाने की आज्ञा नहीं देता। यदि व्यक्ति को यह अधिकार न दिया जाए तो वह गुलाम बनकर रह जाएगा।

(ज) विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार– व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास हेतु विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार का अत्यधिक महत्व है। इसे लोकतंत्र का मुख्य आधार भी कहा जाता है। लोकतान्त्रिक राज्य में राज्य की नीति का आधार जनसाधारण की इच्छा होनी चाहिए, परन्तु राज्य जनसाधारण की इच्छा को तभी कार्यरूप दे सकता है जबकि वह उसे निर्भीक रूप से अभिव्यक्त करें।

''एक व्यक्ति को अपने विचार के अनुसार भाषण की स्वतंत्रता देना उसके व्यक्तित्व के विकास की एकमात्र तथा अन्तिम सुविधा तथा उसकी नागरिकता को नैतिक पूर्णता का एकमात्र साधन देना है।'' **–प्रो० लास्की**

''राज्यों की शक्ति द्वारा विचारों की शक्ति को नहीं दबाना चाहिए। विचारों का विचारों के साथ ही संघर्ष हो सकता है तथा सिर्फ इसी प्रकार ही सत्य का अनुमान लग सकता है।'' **–मैकाइवर**

(झ) समानता का अधिकार– समानता का अधिकार लोकतंत्र की आत्मा है। इस अधिकार का अभिप्राय है कि सार्वजनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानवीय समानता की स्थापना की जानी चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को अन्य मनुष्यों के समान सम्मान एवं महत्व प्राप्त होना चाहिए। व्यक्ति के मध्य धर्म, नस्ल, जाति, भाषा, लिंग, जन्म-स्थान तथा धन इत्यादि के आधार पर अन्तर नहीं किया जाना चाहिए। इस अधिकार को मूर्त रूप देने के लिए भारत के संविधान में छुआछूत को गैर-कानूनी घोषित किया गया है तथा अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों इत्यादि को सार्वजनिक जीवन में संरक्षण दिया गया है।

(ञ) धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार– लोकतन्त्रीय राज्यों में व्यक्ति को धार्मिक स्वतंत्रता अर्थात् किसी भी धर्म में आस्था रखने, उसका प्रचार करने तथा गुरुद्वारा, मन्दिर, मस्जिद एवं चर्च इत्यादि बनवाने की स्वतंत्रता है। कोई भी धर्म किसी पर थोपा नहीं जा सकता, लेकिन साम्यवादी राष्ट्र धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार को कोई महत्व नहीं देते हैं।

(ट) न्याय प्राप्त करने का अधिकार– गरीब एवं निर्बल लोगों को अत्याचार से बचाने के लिए न्याय प्राप्ति के अधिकारों का प्रबन्ध किया जाता है। यदि मानव को यह अधिकार न दिया जाए तो उसके अनेक अधिकार व्यर्थ हो जाएँगे। इसलिए संविधान द्वारा न्यायालयों मे जाने का तथा न्याय प्राप्त करने का अधिकार दिया जाता है।

(ii) राजनीतिक अधिकार– डॉ० बेनीप्रसाद के शब्दों में— ''राजनीतिक अधिकारों का आशय उन व्यवस्थाओं से है, जिनमें नागरिकों को शासन के कार्यों में हिस्सा लेने का अवसर प्राप्त होता है अथवा नागरिक शासन प्रबन्ध को प्रभावित कर सकते हैं। राजनीतिक अधिकार व्यक्ति को राज्य का सदस्य होने के परिणामस्वरूप मिलते हैं। इनके द्वारा व्यक्ति राज्य के शासन कार्यों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से हिस्सा लेने का अवसर पाता है।'' साधारणतया एक लोकतान्त्रिक राज्य में अपने नागरिकों को निम्नलिखित अधिकार प्रदान किए जाते हैं—

(क) राजनीतिक दल बनाने का अधिकार– लोकतंत्र में नागरिकों को अलग-अलग राजनीतिक दल बनाने का अधिकार प्राप्त होता है। ये राजनीतिक दल चुनावों में हिस्सा लेते है, सरकार बनाते हैं तथा सरकार की आलोचना इत्यादि करते हैं।

(ख) विदेशों में सुरक्षा का अधिकार– संसार के समस्त नागरिक जिस समय विदेशों में जाते हैं उस समय उनकी सुरक्षा की जिम्मेदारी राष्ट्र अपने ऊपर लेता है। इस कार्य के लिए राष्ट्रों के राजदूतों द्वारा परस्पर संबंध स्थापित किए जाते हैं।

(ग) आवेदन-पत्र और सम्पत्ति देने का अधिकार– इस अधिकार के अन्तर्गत नागरिकों को यह अवसर दिया जाता है कि वे वैयक्तिक अथवा सामूहिक रूप में सरकार को शासन संबंधी शिकायतें दूर करने के लिए अथवा शासन को

अधिकाधिक लोक-कल्याणकारी बनाने के लिए आवेदन पत्र दे सकते हैं। इस प्रकार वे शासन की नीतियों के समर्थन में अपनी सम्मति भी प्रकट कर सकते हैं। **गुरुमुख निहाल सिंह** ने कहा है, ''यह अधिकार व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से व्यक्ति की कठिनाईयों एवं शिकायतों को दूर करने का प्राचीन तथा बहुमूल्य अधिकार है।''

(घ) सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार– राज्य के समस्त सार्वजनिक पदों पर व्यक्तियों को योग्यता के आधार पर नियुक्ति पाने का अधिकार दिया जाना चाहिए।

(ङ) निर्वाचित होने का अधिकार– इस अधिकार का अर्थ है कि निर्धारित योग्यताएँ रखने वाला प्रत्येक वयस्क नागरिक संसद, विधानमण्डल अथवा स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं की सदस्यता के लिए चुनाव में भाग ले सकता है तथा विजयी होने पर निर्वाचित हो सकता है।

(च) मत देने का अधिकार– लोकतंत्र शासन का यह प्रमुख अधिकार है। आधुनिक समय में विश्व के अधिकांश देशों में लोकतंत्रात्मक शासन-व्यवस्था है। अत: राष्ट्रों की विशाल जनसंख्या के कारण प्रत्यक्ष लोकतंत्र असम्भव हो गया है, अत: प्रतिनिधिमूलक या अप्रत्यक्ष लोकतंत्र प्रचलित है। इसमें राज्य के नागरिक अपने प्रतिनिधियों का चयन कर संसद और विधानमण्डल में भेजते हैं। लोकतंत्र की सफलता के लिए अनिवार्य है कि देश के अधिकतम नागरिकों को जाति, वर्ण, धर्म, सम्प्रदाय तथा लिंग इत्यादि के भेद के बिना मताधिकार या अधिकार प्राप्त होने चाहिए। इस दृष्टि से प्राय: सभी देशों में वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।

''प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार सभी व्यक्तियों को होना चाहिए, सिवाय उनके जो ऐसी स्थिति में हों (पागल, दिवालिया और बच्चे) कि वे उचित ढंग से सोच-विचार न कर सकें।'' **–माण्टेस्क्यू**

(iii) आर्थिक अधिकार– राज्य द्वारा व्यक्ति को निम्नलिखित आर्थिक अधिकार प्रदान किए जाते हैं—

(क) उचित पारिश्रमिक प्राप्त करने का अधिकार– प्रत्येक नागरिक सिर्फ कार्य ही नहीं माँगता अपितु काम के बदले उचित पारिश्रमिक भी माँगता है। यदि उसे उचित पारिश्रमिक मिलेगा तो वह कार्य में अधिक रूचि लेगा। इससे उत्पादन में वृद्धि होगी तथा देश की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा।

''एक व्यक्ति को सिर्फ काम पाने का ही अधिकार नहीं है, अपितु उसे यह अधिकार भी है कि कार्य करने के लिए उपयुक्त पारिश्रमिक मिले।'' **–प्रो० लास्की**

(ख) विश्राम का अधिकार– मानव एक यंत्र नहीं है, जिसका कि लगातार प्रयोग किया जा सके इसलिए वर्तमान में राज्य व्यक्ति को आराम करने का अधिकार भी देता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही राज्य काम करने का समय निश्चित करता है तथा अवकाश का प्रबन्ध करता है।

(ग) काम का अधिकार– प्रत्येक राज्य नागरिक को अपनी इच्छानुसार कार्य करने का अधिकार देता है क्योंकि अच्छा जीवन यापन करने हेतु एवं प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रोजगार आवश्यक है। काम का अधिकार व्यक्ति को अपनी एवं परिवार की भौतिक आवश्यकताओं— भोजन, कपड़ा, निवास-स्थान, दवा, शिक्षा, मनोरंजन इत्यादि—की पूर्ति में सहायता देता है। चीन तथा यूगोस्लाविया जैसे राज्यों में काम के अधिकार को संवैधानिक मान्यता दी गई है। अमेरिका तथा ब्रिटेन जैसे समृद्ध राज्यों ने इसे मौलिक अधिकारों के रूप में मान्यता नहीं दी है, लेकिन उन्होंने व्यवहार रूप में इसे स्वीकार किया है। कई राज्य आर्थिक कठिनाइयों के कारण अपनी जनता को यह अधिकार नहीं दे पाए हैं, परन्तु वे इसे नैतिक दायित्व मानते है तथा इस दिशा में अग्रसर हैं।

(घ) सम्पत्ति का अधिकार– आधुनिक काल में सम्पत्ति का अधिकार बड़े वाद-विवाद वाला अधिकार बन गया है। अरस्तू तथा लॉक इसे प्राकृतिक अधिकार मानते हैं इसके विपरीत, प्लेटो सम्पत्ति के अधिकार का विरोध करते हैं। कार्ल मार्क्स ने सम्पत्ति को 'लूट के माल' की संज्ञा दी है। इसी कारण समाजवादी राष्ट्र रूस, चीन इत्यादि सम्पत्ति के अधिकार के विरोधी है।

राज्य अथवा सरकार को किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति को समुचित मुआवजा दिए बिना छीनने का अधिकार नहीं है क्योंकि सम्पति ही वह प्रेरणास्त्रोत है, जो मानव को आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है।

वर्तमान समय में सम्पत्ति के अधिकार को अनियमित एवं अनियन्त्रित रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि जहाँ एक ओर सम्पत्ति व्यक्ति की प्रेरणास्त्रोत है वहीं दूसरी ओर सम्पत्ति घमण्ड, शोषण, उत्पीड़न एवं अकर्मण्यता को प्रोत्साहित करती है।

''धनवान तथा निर्धन में विभाजित समाज रेत की नींव पर टिका होता है।'' **–प्रो० लास्की**

(ङ) आर्थिक समानता का अधिकार– आर्थिक समानता से आशय है कि समाज में गम्भीर आर्थिक विषमताएँ नहीं होनी चाहिए। अर्थव्यवस्था का संचालन सार्वजनिक हित में इस प्रकार से किया जाए कि सम्पत्ति एवं उत्पादन के साधनों का न्यायसंगत वितरण हो सके।

(च) आर्थिक सुरक्षा का अधिकार– आधुनिक कल्याणकारी राज्य में आर्थिक सुरक्षा का अत्यधिक महत्व है। इस अधिकार का तात्पर्य है कि व्यक्ति को वृद्धावस्था बीमारी, बेरोजगारी, अपंगता इत्यादि की स्थिति होने की दशा में

आर्थिक सुरक्षा प्रदान की जाए। आज ऐसे अनेक राज्य हैं, जो वृद्धावस्था में व्यक्ति के लिए पेंशन इत्यादि की व्यवस्था करते हैं।

(iv) राज्य के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार– राज्य तथा सरकार का गठन जनकल्याण के लिए हुआ है । अत: ऐसी सरकारें जो इस उद्देश्य की पूर्ति करने में विफल रहती है या निरंकुश रूप से शासन करने लगती है तो ऐसी सरकार को जनविद्रोह या क्रान्ति द्वारा सत्ता से हटाया जाना वैधानिक है।

3. अधिकारों का वर्गीकरण कीजिए।

उ०– अधिकारों का वर्गीकरण– प्रमुख रूप से अधिकारों को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(i) प्राकृतिक अधिकार– जो अधिकार प्रकृति द्वारा मिलते हैं, वे प्राकृतिक कहलाते हैं। **जॉन लॉक** के मतानुसार राज्य के अस्तित्व में आने से पूर्व व्यक्ति प्रकृति के राज्य में रहता था। वहाँ उसे जीवन का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार तथा सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त था। ये प्राकृतिक अधिकार थे। राज्य इन अधिकारों को समाप्त नहीं कर सकता, अपितु इनकी रक्षा करता है। **ग्रीन** ने प्राकृतिक अधिकारों को आदर्श अधिकारों के रूप में माना है। उनके अनुसार ये वे अधिकार हैं जो व्यक्ति के नैतिक विकास हेतु आवश्यक हैं तथा जिनकी प्राप्ति समाज में ही सम्भव है।

वर्तमान में प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जाता क्योंकि अधिकार समाज और राज्य के बिना प्राप्त ही नहीं किए जा सकते। व्यक्ति सिर्फ वही अधिकार प्राप्त कर सकता है, जो राज्य उसे प्रदान करता है।

(ii) नैतिक अधिकार– नैतिक अधिकार उन अधिकारों को कहते हैं जिनका संबंध व्यक्ति के नैतिक आचरण से होता है इस प्रकार के अधिकार समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं तथा समाज अपनी नैतिक शक्ति के आधार पर इनकी रक्षा करता है। इनका निर्माण धर्मशास्त्र एवं सामाजिक चेतना के आधार पर होता है। इनके पीछे समाज की नैतिक शक्ति होती है, किन्तु कानूनी शक्ति नहीं होती है। राज्य न तो ऐसे अधिकारों को स्वीकार करता है और न ही इनका विरोध करता है। इनका मानना अथवा न मानना व्यक्तिगत इच्छा पर अधिक निर्भर करता है।

(iii) मौलिक अधिकार– वे अधिकार जो मानव जीवन के लिए मौलिक तथा अपरिहार्य होने के कारण संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किए जाते हैं, मौलिक अधिकार कहे जाते हैं। इन अधिकारों को राज्यों के संविधान में वर्णन कर दिया जाता है। न्यायपालिका इन अधिकारों की रक्षा करती है। सर्वप्रथम मौलिक अधिकार अमेरिकी संविधान में सम्मिलित किए गए। भारतीय संविधान द्वारा भी मौलिक अधिकार प्रदान किए गए हैं।

(iv) कानूनी अधिकार– ये वे अधिकार हैं, जिन्हें राज्य मान्यता प्रदान करता है तथा जिनकी रक्षा राज्य के कानूनों द्वारा होती है। कानूनी अधिकारों का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को राज्य द्वारा दण्डित किया जाता है।

कानूनी अधिकारों को तीन भागों मे बाँटा जा सकता है—

(क) साामाजिक अथवा नागरिक अधिकार
(ख) राजनीतिक अधिकार
(ग) आर्थिक आधार

उपर्युक्त तीनों कानूनी अधिकार के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या-2 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

4. नागरिकों के कर्त्तव्यों पर टिप्पणी लिखिए।

उ०– कर्त्तव्य से साधारणत: आशय उन कार्यों से होता है कि जिन्हें करने के लिए नागरिक नैतिक रूप से प्रतिबन्धित होते हैं। इस प्रकार साधारणत: कर्त्तव्य वे होते हैं, जिनके लिए कहा जाता है कि उन्हें नागरिकों को करना ही चाहिए तथा जिनके लिए यह नहीं कहा जाता है कि उन्हें नागरिकों को करना ही पड़ेगा अर्थात् किसी विशेष कार्य करने के संबंध में नागरिकों के उत्तरदायित्व को ही कर्त्तव्य कहा जा सकता है। इस प्रकार जिन कार्यों के संबंध में समाज एवं राज्य सामान्य रूप से नागरिकों से यह आशा करते हैं कि उन्हें वे कार्य करने चाहिए, वे ही नागरिकों के कर्त्तव्य कहे जा सकते हैं।

कर्त्तव्यों का वर्गीकरण– क्षेत्र एवं व्यापकता के आधार पर नागरिकों के कर्त्तव्यों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

(i) नैतिक कर्त्तव्य तथा (ii) वैधानिक या कानूनी कर्त्तव्य

(i) नैतिक कर्त्तव्य– नैतिक कर्त्तव्य उसे कहते हैं, जिनका संबंध व्यक्ति की नैतिक भावना, अन्त:करण तथा उचित कार्य की प्रवृति से होता है। वस्तुत: नैतिक कर्त्तव्य का संबंध व्यक्ति के अन्त:करण से होता है। इनका पालन न करने पर राज्य की ओर से किसी भी प्रकार का दण्ड नहीं दिया जाता है।

नैतिक कर्त्तव्यों के अन्तर्गत निम्नलिखित कर्त्तव्य सम्मिलित किए गए है—

(क) अपने प्रति कर्त्तव्य– प्रत्येक व्यक्ति का अपने प्रति पहला कर्त्तव्य यह है कि वह अपने जीवन की रक्षा करें तथा अपना सर्वांगीण विकास करे। इस कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए व्यक्ति को अपने शारीरिक और मानसिक विकास की दिशा में निरन्तर सचेष्ट रहना चाहिए। उसे अपनी चिन्तन और मनन शक्ति को विकास करके अपने मनोबल और चरित्र को ऊँचा उठाना चाहिए।

(ख) परिवार के प्रति कर्त्तव्य– परिवार मनुष्य के सामाजिक जीवन की आधारशिला है। अत: प्रत्येक व्यक्ति को अपने

परिवार के प्रति कर्त्तव्यपालन का उत्तरदायित्व ग्रहण करना चाहिए। उसे परिवार के सभी सदस्यों के साथ सद्भावना, सहानुभूति, प्रेम व सहयोग का भाव प्रदशित करना चाहिए।

(ग) ग्राम, नगर तथा प्रदेश के प्रति कर्त्तव्य– परिवार के बाद नागरिक के अपने ग्राम, नगर तथा प्रदेश के प्रति अनेक कर्त्तव्य होते हैं। इन कर्त्तव्यों के अन्तर्गत नागरिक को शिक्षा, स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा सफाई की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। इस प्रकार के कर्त्तव्यों के पालन के लिए प्रत्येक नागरिक में सार्वजनिक सेवा भाव की भावना का जाग्रत होना परम आवश्यक है।

(घ) समाज के प्रति कर्त्तव्य– समाज के लिए भी मनुष्य के अनेक कर्त्तव्य है। सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन करना, विभिन्न संघों और समुदायों के प्रति अपने दायित्वों का पालन करना, अधिकारों का समुचित उपयोग करना तथा समाज के दीन-दुखियों व असहायों की सहायता करना आदि सामाजिक कर्त्तव्यों के प्रमुख उदाहरण हैं। इन कर्त्तव्यों का पालन करके ही व्यक्ति समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकता है।

(ङ) मानवता के प्रति कर्त्तव्य– इसके अन्तर्गत दो प्रमुख कर्त्तव्य सम्मिलित हैं—

(अ) समस्त मानव-समाज की भलाई के लिए कार्य करना।

(ब) विश्व शान्ति की स्थापना में वांछित योगदान देना।

(ii) वैधानिक या कानूनी कर्त्तव्य– वैधानिक या कानूनी कर्त्तव्य वे हैं जिनका पालन करना प्रत्येक नागरिक के लिए आवश्यक है। कानूनी कर्त्तव्य का पालन न करने पर मनुष्य दण्ड का भागी होता है। प्रमुख कानूनी कर्त्तव्य निम्नलिखित हैं—

(क) कानूनों का पालन करना– कानून, राज्य द्वारा निर्मित नियम हैं जिनका उद्देश्य राज्य में व्यवस्था और शान्ति बनाए रखना है। उनके अभाव में अराजकता और अव्यवस्था का बोलबाला हो जाएगा। कानून का उल्लंघन करने से हमारी स्वतंत्रता का लोप होता है, हमारे अधिकारों का अन्त होता है। इसलिए हमारा सबसे पहला कर्त्तव्य है कि हम कानूनों का स्वेच्छा से पालन करें। कानूनों का पालन करने में हमारा और हमारे समाज का कल्याण निहित है। यदि कानून अन्यायपूर्ण अथवा अत्याचारी है तो कानून का हमें शान्ति पूर्ण एवं संवैधानिक ढंग से विरोध भी करना चाहिए।

(ख) देशप्रेम की भावना– देशप्रेम की भावना आदर्श नागरिकता का एक चिरन्तन गुण है। प्रत्येक नागरिक का यह परम कर्त्तव्य है कि वह अपने देश के प्रति पूरी भक्ति और श्रृद्धा रखें। देश की रक्षा के लिए, देश की सेवा के लिए नागरिकों को तन-मन-धन से हमेशा तैयार रहना चाहिए। वे व्यक्ति जिनमें देशभक्ति की भावना नहीं है घृणा के पात्र हैं वे कृतध्न होते हैं।

(ग) करों का भुगतान करना– राज्य की व्यवस्था के लिए धन की नितान्त आवश्यकता होती है राज्य का खर्च बिना आय के नहीं चल सकता । राज्य की आय के अनेक स्रोत हैं, कर संग्रह उनमें से मुख्य हैं। राज्य इन करों के बदले में नागरिकों को अनेक सुविधाएँ प्रदान करता है। इसलिए नागरिकों को चाहिए कि वे यथासमय निश्चित करों को चुकाने का प्रयास करें। प्राय: कुछ व्यक्ति करों से बचने की कोशिश करते हैं। इसके लिए वे भ्रष्ट साधनों का सहारा लेते हैं जो सामाजिक हित के विरुद्ध हैं। ये लोग राष्ट्रद्रोही हैं और समाज के भयंकर शत्रु हैं।

(घ) मत का उचित प्रयोग करना– लोकतान्त्रिक देशों में सरकार का निर्माण मतदान के आधार पर होता है। इसलिए प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने इस अधिकार का बड़ी तत्परता, ईमानदारी तथा निष्ठा से पालन करें। इसलिए मतदान के महत्वपूर्ण कर्त्तव्य के पालन के समय यह ध्यान रखना चाहिए कि जिन व्यक्तियों को हम अपना मत दें, वे योग्य ईमानदार हों। हमें जात-पात, धर्म-सम्प्रदाय, संबंधियों या पड़ोसियों के दबाव में पड़कर गलत आदमियों को अपना मत नहीं देना चाहिए। जो लोग ऐसा करते हैं। वे समाज के भयंकर शत्रु हैं।

(ङ) सरकारी कर्मचारियों की सहायता करना– सरकारी कर्मचारियों को सरकारी कार्य में सहायता प्रदान करना नागरिक का परम कर्त्तव्य है।

कर्त्तव्यों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक नागरिक के कर्त्तव्य अनन्त हैं। कर्त्तव्य पालन का क्रम ऐसा रखना चाहिए कि जिससे उनके निज के हित के साथ ही साथ सारे संसार का कल्याण हो। हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि कर्त्तव्यों का पालन करने से ही हमारे अधिकार सुरक्षित होते हैं।

5. ''अधिकार एवं कर्त्तव्य एक-दूसरे के पूरक हैं।'' विवेचना कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

6. अधिकारों और कर्त्तव्यों के बीच संबंध स्थापित कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न-संख्या— 1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

7. अधिकारों से संबंधित विभिन्न सिद्धान्तों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

उ०– अधिकारों से संबंधित विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना निम्नलिखित है—

(i) अधिकारों का प्राकृतिक सिद्धान्त– टॉमस पेन, ब्लैकस्टोन, हरबर्ट स्पेन्सार, रूसो, मिल्टन, वॉल्टेयर, लॉक,

हॉब्स आदि विद्वानों ने अधिकारों के प्राकृतिक सिद्धान्त का समर्थन किया है। यह सिद्धान्त अति प्राचीन है। इसके अनुसार अधिकार प्रकृति द्वारा प्रदान किए गए है और वे व्यक्ति को जन्म के साथ ही प्राप्त हो जाते हैं। व्यक्ति प्राकृतिक अधिकारों का प्रयोग राज्य के उदय के पूर्व से ही करता चला आ रहा है। राज्य इन अधिकारों को न तो छीन सकता है और न ही वह इनका जन्मदाता है।

''प्राकृतिक अधिकार वे हैं, जो मनुष्य के अस्तित्व को स्थायित्व प्रदान करने के लिए आवश्यक है।'' इस दृष्टिकोण से अधिकार जन्मजात, असीमित, निरपेक्ष तथा स्वयंसिद्ध है। राज्य इन अधिकारों में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। **–टॉमस पेन**

महत्व– प्राकृतिक सिद्धान्त की कमियों के बावजूद इसके महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती है क्योंकि अमेरिका, भारत, रूस, चीन आदि देशों के संविधानों में वर्णित मूल अधिकारों की व्यवस्था इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

गिलक्राइस्ट का मत है कि– ''प्राकृतिक अधिकारों को जिस उचित अर्थ में लिखा जा सकता है, वह केवल यही है कि व्यक्ति को नीतिशास्त्र के अनुसार आदर्श व्यक्ति बनने के लिए जो कुछ भी आवश्यक है, वह सब कुछ उसे प्राप्त होना चाहिए।'' इसकी पुष्टि करते हुए **लॉर्ड ब्राइस** ने लिखा है— ''प्राकृतिक सिद्धान्त वे शर्तें हैं, जो मानवीय संस्था द्वारा प्रदान की गई है अथवा नहीं, किन्तु जो व्यक्तित्व के विकास के लिए अति आवश्यक है।''

(ii) अधिकारों का कानूनी या वैधानिक सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के प्रवर्तक **जरेमी बेन्थम**, **हॉलैण्ड**, **ऑस्टिन** आदि विचारक हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार राज्य की इच्छा का परिणाम हैं और राज्य ही अधिकारों का जन्मदाता है। यह सिद्धान्त प्राकृतिक सिद्धान्त के विपरीत है। व्यक्ति राज्य के संरक्षण में रहकर ही अधिकारों का प्रयोग कर सकता है। राज्य ही कानून द्वारा ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करता है, जहाँ कि व्यक्ति अपने अधिकारों का स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग कर सके। राज्य ही अधिकारों को मान्यता प्रदान करता है। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि अधिकारों का अस्तित्व केवल राज्य के अन्तर्गत ही सम्भव है।

महत्व– यद्यपि इस सिद्धान्त की काफी आलोचना की गई है, तथापि इस सिद्धान्त में यह सत्य निहित है कि व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए जो दावे अनिवार्य है, उन्हें उस समय तक अधिकार नहीं माना जा सकता, जब तब कि उन्हें राज्य द्वारा मान्यता प्रदान न कर कर दी जाए।

(iii) अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकारों की उत्पत्ति प्राचीन रीति-रिवाजों के परिणामस्वरूप हुई है। जिन रीति-रिवाजों को समाज स्वीकृति दे देता है, वे अधिकार का रूप ग्रहण कर लेते है। इस सिद्धान्त के समर्थकों **रिची**, **बर्क** आदि के अनुसार अधिकार परम्परागत है तथा सतत विकास का परिणाम हैं। इसके अतिरिक्त इनका आधार ऐतिहासिक है। इंग्लैण्ड के संवैधानिक इतिहास में परम्परागत अधिकारों का बहुत अधिक महत्व रहा है।

महत्व– इन आलोचनाओं के बावजूद इस सिद्धान्त की महत्ता इस बात में है कि व्यक्ति के अनेक अधिकार परम्पराओं और रीति-रिवाजों पर आधारित हैं।

(iv) अधिकारों का समाज-कल्याण संबंधी सिद्धान्त– जे०एस० मिल, **जेरमी बेन्थम**, **डीन पास्को**, **पाउण्ड**, **चेफर**, **लास्की** आदि ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। इस सिद्धान्त का प्रमुख लक्ष्य उपयोगिता या समाज कल्याण है।

''अधिकारों का औचित्य उनकी उपयोगिता के आधार पर आँकना चाहिए।'' **–प्रो० लास्की**

इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार वे साधन हैं, जिनसे समाज का कल्याण होता है।

''लोक-कल्याण के विरुद्ध मेरे अधिकार नहीं हो सकते क्योंकि ऐसा करना मुझे उस कल्याण के विरुद्ध अधिकार प्रदान करता है जिसमें मेरा कल्याण घनिष्ठ तथा अविच्छिन रूप से जुड़ा हुआ है।'' **–प्रो० लास्की**

इस सिद्धान्त की निम्नलिखित मान्यताएँ हैं—

(क) व्यक्ति केवल उन्हीं अधिकारों का प्रयोग कर सकता है, जो समाज के हित में हों।
(ख) अधिकारों का अस्तित्व समाज-कल्याण पर आधारित है।
(ग) अधिकार समाज की देन है, प्रकृति की नहीं।
(घ) कानून, रीति-रिवाज तथा अधिकार सभी का उद्देश्य समाज कल्याण है।

महत्व– इस सिद्धान्त का महत्व इस बात में है कि अधिकार का अस्तित्व समाज कल्याण के लिए होता है और उसका उपयोग भी समाज कल्याण के लिए ही किया जाना चाहिए।

(v) अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धान्त– इस सिद्धान्त की मान्यता है कि अधिकार वे बाहरी साधन तथा दशाएँ है, जो व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक होती हैं। इस सिद्धान्त का समर्थन **क्रॉसमैन**, **हेनरी मैन**, **टी०एच० ग्रीन**, **ब्रैडले**, **बोसांके** आदि विचारकों ने किया है।

''अधिकार विवेकपूर्ण जीवन के विकास के लिए आवश्यक बाह्य परिस्थितियाँ है।'' **–क्रॉस**

''अधिकार वह शक्ति है, जो कि किसी व्यक्ति के लिए नैतिक जीवन के रूप में अनेक व्यवसाय और कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए आवश्यक है।'' **–ग्रीन**

महत्व– आदर्शवादी सिद्धान्त की आलोचना सार्थक नहीं मानी जा सकती है क्योंकि व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास बाहरी परिस्थितियों पर ही निर्भर होता है।

''समाज और राज्य नैतिक जीवन के मार्ग की बाधाओं को बाधित करके व्यक्ति के जीवन को नैतिक बना सकते हैं।'' **–ग्रीन**

इस प्रकार आदर्शवादी सिद्धान्त एक ऐसा मापदण्ड प्रस्तुत करता है, जो अन्य सिद्धान्त नहीं बना पाते हैं, इसीलिए अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धान्त सर्वोत्तम माना जा सकता है।

इन सभी सिद्धान्तों में आदर्शवादी सिद्धान्त सर्वमान्य और तर्कसंगत है क्योंकि इसके आधार पर यह स्पष्ट होता है कि–

(i) अधिकारों का स्वरूप नैतिक होता है।
(ii) अधिकार व्यक्ति की माँग है।
(iii) अधिकारों का उद्देश्य समाज का वास्तविक हित है।
(iv) ये माँग समाज द्वारा स्वीकृत होती है।
(v) अधिकार व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक साधन हैं।

इस प्रकार अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धान्त ही सर्वोत्तम है क्योंकि यह इस अवधारणा पर आधारित है कि अधिकारों की उत्पत्ति व्यक्ति के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए है। राज्य तथा समाज तो केवल व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा तथा व्यवस्था करने के साधन मात्र हैं। व्यक्ति समाज के कल्याण में ही अपने अधिकारों का प्रयोग कर सकता है।

8. नागरिकों के अधिकार एवं कर्त्तव्यों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

उ०– नागरिकों के अधिकार एवं कर्त्तव्य– हम एक सामाजिक प्राणी हैं, समाज और देश में विकास, समृद्धि और शान्ति लाने के लिए हमारी बहुत सी जिम्मेदारियाँ हैं। अपनी जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिए, भारत के संविधान के द्वारा हमें कुछ अधिकार दिए गए हैं। वैयक्तिक विकास और सामाजिक जीवन में सुधार के लिए नागरिकों को अधिकार देना बहुत ही आवश्यक है। देश की लोकतंत्र प्रणाली पूरी तरह से देश के नागरिकों की स्वतंत्रता पर आधारित होती है। संविधान द्वारा दिए गए अधिकारों को मौलिक अधिकार कहा जाता है, जिन्हें हम से सामान्य समय में वापस नहीं लिया जा सकता है। हमारा संविधान हमें छ: मौलिक अधिकार प्रदान करता है। जो निम्नलिखित हैं–

(i) स्वतंत्रता का अधिकार– यह बहुत ही महत्वपूर्ण मौलिक अधिकार है, जो लोगों को अपने विचारों को भाषणों के द्वारा, लिखने के द्वारा या अन्य साधनों के द्वारा प्रकट करने में सक्षम बनाता है। इस अधिकार के अनुसार, व्यक्ति समालोचना, आलोचना या सरकारी नीतियों के खिलाफ बोलने के लिए स्वतंत्र है। वह देश के किसी भी कोने में कोई भी व्यवसाय करने के लिए स्वतंत्र हैं।

(ii) धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार– देश में ऐसे कई राज्य हैं, जहाँ विभिन्न धर्मों के लोग एक साथ रहते हैं। हममें से सभी अपनी पसंद के किसी भी धर्म को मानने, अभ्यास करने, प्रचार करने और अनुकरण करने के लिए स्वतंत्र हैं। कोई भी किसी के धार्मिक विश्वास में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं रखता है।

(iii) समानता का अधिकार– भारत में रहने वाले नागरिक समान हैं और अमीर व गरीब, उच्च-नीच में कोई भेदभाव और अन्तर नहीं है। किसी भी धर्म, जाति, जनजाति, स्थान का व्यक्ति किसी भी कार्यालय में उच्च पद को प्राप्त कर सकता है, वह केवल आवश्यक अहर्ताओं और योग्यताओं को रखता हो।

(iv) शिक्षा और संस्कृति का अधिकार– प्रत्येक बच्चे को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है और वह बच्चा किसी भी संस्था में किसी भी स्तर तक शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

(v) शोषण के विरुद्ध अधिकार– कोई भी किसी को उसका/उसकी इच्छा के विरुद्ध या 14 साल से कम उम्र के बच्चे से, बिना किसी मजदूरी या वेतन के कार्य करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता है।

(vi) संवैधानिक उपचारों का अधिकार– यह सबसे महत्वपूर्ण अधिकार है। इस अधिकार को संविधान की आत्मा कहा जाता है, क्योंकि यह संविधान के सभी अधिकारों की रक्षा करता है। यदि किसी को किसी भी स्थिति में ऐसा महसूस होता है, कि उसके अधिकारों को हानि पहुँची है तो वह न्याय के लिए न्यायालय में जा सकता है।

जैसा कि हम सभी जानते हैं कि, अधिकार और कर्त्तव्य साथ-साथ चलते हैं। हमारे अधिकार बिना कर्त्तव्यों के अर्थहीन हैं, इस प्रकार दोनों ही प्रेरणादायक है। यदि हम देश को प्रगति के रास्ते पर आसानी से चलाने के लिए अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते हैं, तो हमें अपने मौलिक अधिकारों के लाभ को प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं है। देश का नागरिक होने के नाते हमारे कर्त्तव्य और जिम्मेदारियाँ निम्नलिखित हैं–

(क) हमें अपने राष्ट्रीय ध्वज और राष्ट्रगान का सम्मान करना चाहिए।
(ख) हमें देश के कानून का पालन और सम्मान करना चाहिए।
(ग) हमें अपने अधिकारों का आनंद दूसरों की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप किए बिना लेना चाहिए।

(घ) हमें हमेशा आवश्यकता पड़ने पर अपने देश की रक्षा के लिए तैयार रहना चाहिए।

(ङ) हमें राष्ट्रीय धरोहर और सार्वजनिक सम्पत्ति (रेलवे, डाकघर, पुल, रास्ते, स्कूलों, विश्वविद्यालयों, ऐतिहासिक इमारतों, स्थलों, वनों, जंगलों आदि) का सम्मान और रक्षा करनी चाहिए।

(च) हमें अपने करों (टैक्स) का भुगतान समय पर सही तरीके से करना चाहिए।

9. एक आदर्श नागरिक के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की विवेचना कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या– 8 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

इकाई-3

5 सरकार के अंग– व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका (Organs of Government : Legislature, Executive and Judiciary)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या– 89 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या– 89 व 90 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सरकार के किन्हीं दो महत्वपूर्ण अंगों के नाम लिखिए।

उ०– सरकार के दो महत्वपूर्ण अंगों के नाम निम्नलिखित हैं–

(i) व्यवस्थापिका– इसे हम विधायिका के नाम से भी जानते हैं। इसका मुख्य कार्य कानून बनाना है।

(ii) कार्यपालिका– इसका मुख्य कार्य व्यवस्थापिका द्वारा बनाए गए कानूनों को लागू करना है।

2. व्यवस्थापिका के दो कार्यों का वर्णन कीजिए।

उ०– व्यवस्थापिका के दो कार्य निम्नलिखित हैं–

(i) कानूनों का निर्माण– व्यवस्थापिका का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य कानूनों का निर्माण करना है। यह आवश्यकतानुसार नए कानून बनाती है, पुराने कानूनों में संशोधन करती है और आवश्यक कानूनों को रद्द करती है।

(ii) वित्तीय कार्य– व्यवस्थापिका देश की सम्पूर्ण वित्त व्यवस्था पर नियंत्रण रखती है। वह नए कर लगाती है और निरर्थक करों को समाप्त करती है। इसके अतिरिक्त वह ऋणों की व्यवस्था करती है और राजकीय व्ययों को स्वीकृति प्रदान करती है।

3. व्यवस्थापिका के आधारभूत कार्यों का वर्णन कीजिए और संसदात्मक शासन-प्रणाली में इसकी विशिष्ट भूमिका पर प्रकाश डालिए। अथवा
व्यवस्थापिका के कार्यों का वर्णन कीजिए।

उ०– व्यवस्थापिका के आधारभूत कार्य निम्नलिखित हैं–

(i) विचार-विमर्श कार्य
(ii) कानून बनाने संबंधी कार्य
(iii) प्रशासन संबंधी कार्य
(iv) आर्थिक अथवा वित्तीय कृत्य
(v) न्यायिक कार्य
(vi) निर्वाचन संबंधी कार्य
(vii) वैदेशिक नीति संबंधी कार्य
(viii) जन भावनाओं की अभिव्यक्ति

संसदात्मक शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका का महत्व– संसदात्मक शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका की भूमिका सरकार के दूसरे अंगों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। व्यवस्थापिका न केवल कानूनों का ही निर्माण करती वरन् प्रशासन की नीति भी निश्चित करती है और संसदात्मक शासन-प्रणाली में तो कार्यपालिका पर प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण भी रखती है। संविधान संशोधन का कार्य भी व्यस्थापिका के द्वारा ही किया जाता है।

4. व्यवस्थापिका के दो कार्यों का उल्लेख कीजिए तथा किन्हीं दो तरीकों का वर्णन कीजिए जिनसे व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियंत्रण स्थापित करती है।

उ०– व्यवस्थापिका के दो कार्य– इसके लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या–2 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका पर नियंत्रण स्थापित करने के दो तरीके निम्नवत् हैं—

(i) पूरक-प्रश्न पूछकर (ii) काम रोको प्रस्ताव रखकर।

5. द्विसदनात्मक विधानमण्डल (व्यवस्थापिका) की दो विशेषताएँ बताइए।

उ०– द्विसदनात्मक विधानमण्डल (व्यवस्थापिका) की दो विशेषताएँ निम्नवत् हैं—

(i) स्वतंत्रता की रक्षा का साधन– द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका जनता की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह नीतियों में सन्तुलन स्थापित करती व अल्पसंख्यकों की रक्षा करती है। **लॉर्ड एक्टन** ने दूसरे सदन को स्वतंत्रता की रक्षा का सबसे प्रमुख साधन माना है।

(ii) संघ राज्य के लिए उपयुक्त– एक संघ राज्य में जो विभिन्न इकाइयाँ होती हैं, उनमें क्षेत्र और जनसंख्या की दृष्टि से बहुत अधिक अन्तर होता है। ऐसी परिस्थिति में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के द्वारा प्रथम सदन में जनसंख्या के आधार पर और दूसरे सदन में इकाइयों की समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व प्रदान किया जा सकता है। इस प्रकार संघ की सभी इकाइयों को सन्तुष्ट रखा जा सकता है और छोटी इकाइयों के हितों की रक्षा सम्भव होती है।

6. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में दो तर्क दीजिए।

उ०– उत्तर के लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या-5 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

7. ''व्यवस्थापिका में दूसरे सदन का होना आवश्यक है।'' इस कथन की विवेचना कीजिए।

उ०– व्यवस्थापिका में दूसरे सदन की आवश्यकता– एकसदनात्मक व्यवस्थापिका में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि रहते हैं, अत: वे जनता की क्षणिक भावनाओं या आवेशों से प्रभावित होकर कानून बनाने में अधिक जल्दबाजी कर सकते हैं। परिणामस्वरूप एकपक्षीय और तर्कहीन कानूनों के बनने की आशंका बनी रहती है। इसके विपरीत जहाँ द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका है, वहाँ दूसरे सदन में निचले सदन द्वारा बनाए गए विधेयकों पर विवेकपूर्ण विचार कर उनकी त्रुटियों को दूर कर दिया जाता है।

''नियंत्रण करने, संशोधन करने तथा रुकावट पैदा करने में जो कार्य द्वितीय सदन करता है, उसकी आवश्यकता स्वयंसिद्ध है। यह कानून पर सुधारात्मक निरोधात्मक तथा क्रमबद्धात्मक प्रभाव डालता है।'' **–लेकी**

''द्विसदनात्मक सिद्धान्त न केवल विधानमण्डलों की अपने उतावलेपन और भावुकता से रक्षा करता है, बल्कि यह व्यक्ति को एक सदन की निरंकुशता से भी बचाता है।'' **–गार्नर**

8. व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका पर नियंत्रण के कोई चार साधन लिखिए।

उ०– व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका पर नियंत्रण के चार साधन निम्नलिखित हैं—

(i) पूरक-प्रश्न पूछकर (ii) काम रोको प्रस्ताव रखकर

(iii) अविश्वास प्रस्ताव रखकर

(iv) महत्वपूर्ण राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार-विमर्श करके

9. व्यवस्थापिका में उच्च सदन होने के दो लाभों का उल्लेख कीजिए।

उ०– व्यवस्थापिका में उच्च सदन होने के दो लाभ निम्नवत् हैं—

(i) कार्य-विभाजन से लाभ (ii) जनमत निर्माण में सहायक

10. एक सदनात्मक व्यवस्थापिका के दो लाभ स्पष्ट कीजिए।

उ०– एक सदनात्मक व्यवस्थापिका के दो लाभ निम्नवत् हैं—

(i) एक सदनात्मक व्यवस्थापिका पद्धति कम खर्चीली है।

(ii) एक सदनात्मक व्यवस्थापिका में गत्यारोध की सम्भावना कम है।

11. कार्यपालिका के विविध रूपों का उल्लेख कीजिए।

उ०– कार्यपालिका के विविध रूप निम्नलिखित हैं—

(i) नाममात्र की तथा वास्तविक कार्यपालिका (ii) संसदीय तथा अध्यक्षात्मक कार्यपालिका

(iii) एकल तथा बहुल कार्यपालिका (iv) राजनीतिक और अराजनीतिक कार्यपालिका

(v) वंशानुगत और निर्वाचित कार्यपालिका

12. कार्यपालिका के चार कार्यों का वर्णन कीजिए।

उ०– कार्यपालिका के चार कार्य निम्न प्रकार हैं—

(i) सैनिक कार्य (ii) प्रशासनिक कार्य

(iii) कानून बनाने संबंधी कार्य (iv) न्यायिक कार्य

13. कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि के चार कारण दीजिए।

उ०– कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि के चार कारण निम्नलिखित हैं—

(i) कार्यपालिका को लोकसभा में बहुमत दल का समर्थन प्राप्त होता है।

(ii) कार्यपालिका लोकसभा को कार्यकाल पूरा होने से पहले राष्ट्रपति द्वारा भंग करने में सक्षम है।

(iii) कार्यपालिका कानून निर्माण की आधारशिला है। यह विधेयकों को तैयार कराके उन्हें विधानमंडल में प्रस्तुत करती है और बहुमत के आधार पर उन्हें पारित भी करा सकती है।

14. कार्यपालिका के दो कार्य लिखिए।

उ०– कार्यपालिका के दो कार्य निम्नवत् हैं—

(i) सैनिक कार्य

(ii) प्रशासनिक कार्य

15. बहुल कार्यपालिका की मुख्य विशेषताएँ बताइए।

उ०– बहुल कार्यपालिका की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) बहुल कार्यपालिका की शक्तियाँ एक ही व्यक्ति में निहित न होकर कुछ व्यक्तियों की एक समिति में निहित होती हैं।

(ii) बहुल कार्यपालिका की संघीय परिषद् अपने सदस्यों में से एक सदस्य को एक वर्ष के लिए राष्ट्रपति निर्वाचित करती है।

16. आधुनिक राज्यों में कार्यपालिका के किन्हीं चार कार्यों का उल्लेख कीजिए।

उ०– आधुनिक राज्यों में कार्यपालिका के चार कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) शिक्षा संबंधी कार्य

(ii) स्वास्थ्य संबंधी कार्य

(iii) राजकीय कार्यों का प्रबन्ध करना

(iv) उपाधियों तथा सम्मान का वितरण करना

17. आधुनिक लोकतंत्रों में कार्यपालिका के बढ़ते हुए प्रभाव के चार कारण लिखिए।

उ०– आधुनिक लोकतंत्रों में कार्यपालिका के बढ़ते हुए प्रभाव के चार कारण निम्नलिखित हैं—

(i) दलीय पद्धति

(ii) कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के विघटन का अधिकार

(iii) लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा

(iv) अंतर्राष्ट्रीय संबंध तथा विदेश व्यापार

18. लोकतंत्र में न्यायपालिका की स्वतंत्रता का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उ०– **न्यायपालिका की स्वतंत्रता–** वर्तमान लोकतान्त्रिक युग में स्वतंत्र न्यायपालिका की आवश्यकता को अत्यन्त महत्व दिया गया है। स्वतंत्र न्यायपालिका से तात्पर्य है कि यह व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के नियंत्रण से स्वतंत्र रहकर नागरिकों के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन की रक्षा करने में समर्थ हो। न्यायाधीशों के कार्यकाल, वेतन तथा उनके कार्य की दशाओं पर कोई ऐसा नियंत्रण नहीं होना चाहिए जिससे निष्पक्ष न्याय के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा पड़े। यदि न्यायपालिका स्वतंत्र नहीं होगी और उस पर कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका का अनावश्यक अंकुश होगा तो यह आशा करना कि नागरिकों की स्वतंत्रता तथा अधिकारों की रक्षा हो सकेगी, मात्र भ्रम ही होगा। स्वतंत्र न्यायपालिका के महत्व को **डॉ० गार्नर** ने निम्नवत् स्पष्ट किया है, ''यदि न्यायाधीशों में प्रतिभा, सत्यता और निर्णय देने की स्वतंत्रता न हो तो न्यायपालिका का वह सारा ढाँचा खोखला प्रतीत होगा और उस उद्देश्य की प्राप्ति न हो सकेगी जिसके लिए उसका निर्माण किया गया है।''

स्पष्ट है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति, उनके कार्यकाल, वेतन तथा पद की सुरक्षा पर जब शासन के अन्य किसी भी अंग का अंकुश नहीं होता है तो उसे स्वतंत्र न्यायपालिका की संज्ञा दी जाती है।

19. लोकतंत्र में न्यायपालिका के महत्व को इंगित कीजिए।

उ०– लोकतंत्र की सफलता के लिए स्वतंत्र न्यायपालिका का होना अनिवार्य है। लोकतंत्र के अनिवार्य तत्व स्वतंत्रता और समानता हैं। अत: नागरिकों को स्वतंत्रता और समानता के अवसर उसी समय प्राप्त हो सकेंगे, जब न्यायपालिका निष्पक्षता के साथ अपने कार्य का समापन करेगी। प्रत्येक देश में न्यायपालिका कानून और नागरिक अधिकारों की रक्षक होती है। यदि संसद कोई ऐसा कानून बनाती है जो संविधान के विरुद्ध हो तो न्यायपालिका उसे अवैधानिक घोषित करके रद्द कर सकती है। अत: आधुनिक युग में एक स्वतंत्र और प्रभावशाली न्यायपालिका का होना अत्यन्त आवश्यक है।

20. न्यायपालिका के दो कार्यों का उल्लेख कीजिए तथा स्वतंत्र न्यायपालिका के पक्ष में दो तर्क दीजिए।

उ०– न्यायपालिका के दो कार्य निम्न प्रकार हैं—

(i) संविधान की सुरक्षा– उच्चतम न्यायालय संविधान का रक्षक है। वह संसद के कानूनों तथा शासक वर्ग के नियमों को यदि वे संविधान के विरुद्ध हों, असंवैधानिक घोषित करता है। भारत और अमेरिका में उच्चतम न्यायालय को संविधान की सुरक्षा के लिए पूरी शक्ति प्रदान कर गई हैं।

(ii) संघात्मक व्यवस्था का रक्षक– संघ का गठन कई स्वतंत्र इकाइयों के संगठन द्वारा होता है। शासन की शक्तियों को संघीय सरकार तथा इकाइयों में विभक्त किया जाता है। कभी-कभी संघीय इकाइयों में पारस्परिक संघर्ष तथा इकाइयों व केन्द्र में संघर्ष हो जाता है। इन विवादों को निपटाने के लिए उच्चतम न्यायालय अनिवार्य हैं।

स्वतंत्र न्यायपालिका के पक्ष में दो तर्क–

(i) स्वतंत्र न्यायपालिका से मिलने वाला न्याय निष्पक्ष न्याय है।

(ii) स्वतंत्र न्यायपालिका व्यवस्थापिका और कार्यपालिका पर नियंत्रण रख शासन की कार्य-कुशलता में वृद्धि करती है।

21. न्यायपालिका की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने के दो उपायों का उल्लेख कीजिए।

उ०– न्यायपालिका की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने के दो उपाय निम्न प्रकार हैं—

(i) कानून की उच्च योग्यता आवश्यक– उच्चतम् योग्यता वाला न्यायाधीश ही अपने विचार स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट करने की क्षमता रखता है। अयोग्य न्यायाधीश योग्य अधिवक्ताओं की कठपुतली बन जाता है।

(ii) निष्पक्ष तथा योग्य न्यायाधीशों की नियुक्ति– न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति निष्पक्ष की जाए ताकि वे अपनी स्वतंत्रता बनाए रख सकें, साथ ही योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति हो सके।

22. ''न्यायिक सक्रियतावाद'' से क्या आशय है?

उ०– न्यायिक सक्रियतावाद वह सक्रियता है जिसमें न्यायपालिका संविधान कानून और अपने दायित्वों की पूर्ति कानूनी व्याख्याओं से आगे बढ़कर सामाजिक, आर्थिक एवं न्याय की आवश्यकता को देखते हुए स्वयं या किसी के माध्यम से मामले का संज्ञान लेते हुए करती है। जब कार्यपालिका और व्यवस्थापिका अपने मूल कर्त्तव्यों से विचलित हो जाती है तो परिस्थितियों से प्रेरित एवं बाध्य होकर ही न्यायपालिका न्यायिक सक्रियता के मार्ग को अपनाती है।

23. न्यायपालिका के कार्यों का उल्लेख कीजिए।

उ०– न्यायपालिका के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) संविधान की सुरक्षा
(ii) संघात्मक व्यवस्था की रोक
(iii) न्याय करना
(iv) कानूनों की व्याख्या करना
(v) अधिकारों का पोषक
(vi) कानून बनाना
(vii) परामर्श संबंधी कार्य
(viii) प्रशासनिक कार्य
(ix) घोषणात्मक निर्णय देने का कार्य

24. कार्यपालिका और न्यायपालिका में संबंध बताइए।

उ०– कार्यपालिका और न्यायपालिका में संबंध– लोकतंत्र की सफलता के लिए कार्यपालिका और न्यायपालिका को एक-दूसरे से पृथक रहना आवश्यक माना जाता है, किन्तु व्यवहार में इनका पारस्परिक संबंध घनिष्ठ होता है, क्योंकि न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार कार्यपालिका के हाथ में ही होता है। इन दोनों का संबंध निम्नलिखित रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है—

(i) कार्यपालिका व्यवस्थापिका द्वारा बनाए गए कानूनों को लागू करती है और न्यायपालिका कानूनों का उल्लंघन करने वालों को दण्डित करती है तथा शक्ति का अतिक्रमण करने से कार्यपालिका को रोकती है।

(ii) न्यायपालिका के दण्डात्मक निर्णयों का कार्यान्वयन कार्यपालिका ही करती है।

(iii) न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका के प्रधान द्वारा ही की जाती है।

(iv) न्यायपालिका के निर्णयों की आलोचना करने का अधिकार कार्यपालिका को नहीं है।

(v) न्यायपालिका कार्यपालिका के भ्रष्ट कर्मचारियों को भी दण्डित करने का अधिकार रखती है तथा कर्त्तव्यविमुख होने की अवस्था में किसी भी विभाग के विभागाध्यक्ष से आख्या माँग सकती है तथा तत्संबंधित आदेश दे सकती है।

25. शक्ति-पृथक्करण के विपक्ष में चार तर्क दीजिए।

उ०– शक्ति-पृथक्करण के विपक्ष में चार तर्क निम्नलिखित हैं—

(i) ऐतिहासिक दृष्टि से गलत
(ii) शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण सम्भव नहीं
(iii) शक्ति पृथककरण अवांछनीय भी है
(iv) सरकार के तीनों अंगों की असमान स्थिति

26. संघीय सर्वोच्चता से आप क्या समझते हैं?

उ०– संसदीय शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका (संसद) कानून निर्माण करती है। कार्यपालिका उन कानूनों के आधार पर शासन करती है और न्यायपालिका उन कानूनों के आधार पर नागरिकों को न्याय प्रदान करती है। संसदीय शासन-प्रणाली में संसद (व्यवस्थापिका) कार्यपालिका पर प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण करती है और संविधान संशोधन का कार्य भी करती है। अत: संसदीय शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका (संसद) कार्यपालिका और न्यायपालिका से ऊपर होने के कारण सर्वोच्च स्थान रखती है। संसदीय प्रणाली की इस विशेषता को संसदीय सर्वोच्चता कहते हैं।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. सरकार के प्रमुख अंग कौन-कौन से हैं? व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर किस प्रकार नियंत्रण रखती है?

उ०– सरकार के तीन प्रमुख अंग हैं—

(i) व्यवस्थापिका– इसे हम विधायिका के नाम से भी जानते हैं। इस अंग का मुख्य कार्य कानून बनाना है।

(ii) **कार्यपालिका–** इस अंग का मुख्य कार्य व्यवस्थापिका द्वारा बनाए गए कानूनों को लागू करना है।

(iii) **न्यायपालिका–**राज्य में न्याय का समुचित प्रबन्ध न्यायपालिका द्वारा किया जाता है। न्यायपालिका द्वारा ऐसे व्यक्तियों को दण्ड दिया जाता है जो विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों का उल्लंघन करते हैं।

व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका पर नियंत्रण– व्यवस्थापिका का प्रमुख कार्य कार्यपालिका का गठन तथा नियंत्रण करना होता है। जिन देशों में संसदीय प्रणाली की सरकार है, वहाँ की कार्यकारिणी सभी कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है तथा व्यवस्थापिका उस पर प्रत्यक्ष नियंत्रण रखती है। व्यवस्थापिका ही कार्यपालिका तथा मन्त्रिमण्डल के कार्यों पर पूरक-प्रश्न, काम रोको प्रस्ताव, निन्दा प्रस्ताव, महत्वपूर्ण राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार-विमर्श, अविश्वास प्रस्ताव आदि द्वारा नियंत्रण रखती है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका को पृथक-पृथक तथा एक-दूसरें के समकक्ष माना जाता है। शक्ति का विभाजन भी दोनों के मध्य स्पष्ट रूप से किया जाता है।

अमेरिका में राष्ट्रपति द्वारा जितनी भी प्रशासनीय नियुक्तियाँ अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ की जाती हैं, सबको कार्यरूप में परिणत होने के पूर्व सीनेट का अनुमोदन आवश्यक होता है। इस प्रकार आधुनिक युग की प्रजातान्त्रिक प्रणालियों में व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर पूर्ण नियंत्रण रखती है।

''व्यवस्थापिका का वास्तविक कार्य यह देखना है कि कार्यपालिका अपना कार्य ठीक ढंग से कर रही है।'' **–प्रो० लास्की**

2. व्यवस्थापिका क्या है? द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण बताइए।

उ०– **व्यवस्थापिका का अर्थ–** सरकार का वह अंग जो कानूनों का निर्माण करता है व्यवस्थापिका कहलाता है। कानून के निर्माण के साथ-ही-साथ आवश्यक कानूनों को निरस्त करने तथा संवैधानिक तरीकों से उनमें संशोधन करने का कार्य भी व्यवस्थापिका द्वारा ही किया जाता है।

शासन के तीन अंगों में व्यवस्थापिका का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है।

''व्यवस्थापिका शासन का प्रमुख आधार है।'' **–गिलक्राइस्ट**

''आधुनिक संवैधानिक राज्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग व्यवस्थापिका अर्थात् कानून बनाने वाली संस्था होती है।'' **–सी०एफ० स्ट्राँग**

कार्यपालिका कानूनों को लागू करती है और न्यायपालिका कानूनों की व्याख्या करती है तथा इनका उल्लंघन करने वालों को दण्ड देती है। समाज में शान्ति एवं व्यवस्था बनाए रखने के लिए कानून बनाना आवश्यक है, अन्यथा समाज में अराजकता फैल जाएगी।

लगभग सभी शासन प्रणालियों में कानून बनाना, धन पर नियंत्रण, पद तथा सेवाओं की स्थापना तथा संविधान-संशोधन व्यवस्थापिका के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। संसदीय शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका सर्वोच्च होती है तथा कार्यपालिका उसके प्रति उत्तरदायी होती है। इंग्लैण्ड तथा भारत इसके अच्छे उदाहरण हैं, जहाँ संसद कार्यपालिका से ऊपर है तथा मन्त्रिपरिषद, संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। व्यवस्थापिका एकसदानात्मक अथवा द्विसदनात्मक हो सकती है।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण– द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण निम्नलिखित हैं—

(i) **द्विसदनात्मक पद्धति प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों के अनुकूल–** प्रजातान्त्रिक व्यवस्था की रक्षा के लिए वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा अनिवार्य है। इसके लिए यह आवश्यक है कि सम्प्रभुता का केन्द्रीकरण किसी एक अंग या सभा के हाथ में न होने पाए। इसी उद्देश्य से यह भी आवश्यक है कि व्यवस्थापिका के अन्तर्गत एक सदन के हाथों में शक्ति को केन्द्रित होने से बचाने के लिए द्विसदनात्मक प्रणाली अपनाई जाए।

''हमें ऐसा संविधान बनाना है कि जो ऐसे उपाय खोज निकाले जिससे सरकार शासितों के ऊपर नियंत्रण रख सके तथा पहले ऐसा उपाय खोजे जिससे शासन स्वयं अपने ऊपर नियंत्रण रखे।'' **–मेडिसन**

(ii) **निम्न सदन को योगदान–** आज प्रजातान्त्रिक युग में राज्य के कार्यों में पर्याप्त वृद्धि हुई है। व्यवस्थापिका के निम्न सदन के कार्य इतने बढ़ गए हैं कि उन्हें अकेले नहीं सँभाला जा सकता। इसके अलावा इसके सदस्य निरन्तर बदलते रहते हैं और शासन की जटिलता से परिचित होने का अवसर उन्हें नहीं मिल पाता। इसके विपरीत, उच्च सदन एक स्थायी सभा होती है, उसमें अनुभवी और योग्य व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है। अत: प्रशासन के कार्यों के संचालन में वह निम्न सदन को अपना महत्वपूर्ण योगदान देती है।

(iii) **सभी विशिष्ट वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व–** निम्न सदन के प्रतिनिधि केवल बहुमत के प्रतिनिधि होते हैं। अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि चुनाव में पीछे छूट जाते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि बहुत से अनुभवी और योग्य व्यक्ति निर्वाचन के झमेले में नहीं पड़ना चाहते। इसलिए वे प्रतिनिधि भी नहीं होना चाहते। इन त्रुटियों की पूर्ति उच्च सदन द्वारा होती है। इसमें देश के अनुभवी, योग्य, कुशल एवं बुद्धिमान व्यक्तियों को मनोनीत कर लिया जाता है। उच्च सदन ज्ञान-बुद्धि, परम्परा और राजनीतिक अनुभव का कोष होता है क्योंकि उसमें प्राय: बुद्धिमान और अनुभवी राजनीतिज्ञों को प्राथमिकता दी जाती है।

(iv) **द्विसनात्मक पद्धति कानून बनाने में जल्दबाजी और उतावलेपन को रोककर उन पर सुधारात्मक प्रभाव डालती है–** एकसदनात्मक व्यवस्थापिका में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि रहते हैं, अत: वे जनता की क्षणिक भावनाओं या आवेशों से प्रभावित होकर कानून बनाने में अधिक जल्दबाजी कर सकते हैं। परिणामस्वरूप एकपक्षीय और तर्कहीन कानूनों के

बनने की आशंका बनी रहती है। इसके विपरीत जहाँ द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका है, वहाँ दूसरे सदन में निचले सदन द्वारा बनाए गए विधेयकों पर विवेकपूर्ण विचार कर उनकी त्रुटियों को दूर कर दिया जाता है।

(v) द्विसदनात्मक पद्धति स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता पर रोक लगाती है– राज-शक्ति प्राय: मनुष्य को घमण्डी, महत्वाकांक्षी तथा स्वेच्छाचारी बना देती है। व्यवस्थापिका के प्रथम सदन के सदस्य यद्यपि जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि होते है, किन्तु ऐसा भी सम्भव है कि एक बार निर्वाचित होने के बाद वे निरंकुशता की ओर अग्रसर हों। वे भावावेश तथा जोशीले भाषणों के प्रभाव में बहकर अनुत्तरदायी और स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना कर नागरिकों की स्वतंत्रता का हनन कर सकते हैं।

(vi) संघात्मक शासन-व्यवस्था के लिए अनिवार्य– संघात्मक शासन व्यवस्था के लिए द्विसदनात्मक प्रणाली का होना आवश्यक है। संघ शासन में अनिवार्यत: दो तत्वों का प्रतिनिधित्व होता है— एक जनता का और दूसरे संघीभूत इकाइयों का। अत: जनता के प्रतिनिधित्व के लिए निम्न या प्रथम सदन तथा संघीभूत इकाइयों के लिए उच्च या द्वितीय सदन की व्यवस्था की जाती है। उदाहरण के लिए अमेरिका, भारत आदि संघ-राज्यों में द्वितीय सदन राज्य का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(vii) पुनरावलोकन का कार्य– बेजहॉट का कथन है— ''उच्च सदन विधेयकों का पुनरावलोकन करता है।'' अत: निम्न सदन द्वारा जो विधेयक पारित होकर आता है, उसमें बहुत-सी त्रुटियों की सम्भावना बनी रहती है। उच्च सदन में उन दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। यह निम्न सदन से आए विधेयकों को शीघ्रता से पारित नहीं करता, संशोधन करने का उसे पर्याप्त अवसर मिल जाता है तथा विधेयकों के संबंध में लोकमत का अनुमान लग जाता है। अत: इस अर्थ में दूसरा सदन अत्यन्त उपयोगी माना जाता है।

3. व्यवस्थापिका के मुख्य कार्यों का उल्लेख कीजिए।

उ०– व्यवस्थापिका के कार्य– विभिन्न देशों की व्यवस्थापिकाएँ भिन्न-भिन्न कार्य करती हैं, तथापि कुछ ऐसे हैं, जिनका सम्पादन सभी देशों के व्यवस्थापिकाएँ करती हैं। इन कार्यों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

(i) कानूनों का निर्माण– व्यवस्थापिका का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कानूनों का निर्माण करना है। यह आवश्यकता के अनुसार नए कानून बनाती है, पुराने कानूनों में संशोधन करती है और अनावश्यक कानूनों को रद्द करती है।

(ii) संविधान में संशोधन– व्यवस्थापिका को संविधान में संशोधन करने का अधिकार भी प्राप्त होता है। संविधान में संशोधन करने की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार की है। इंग्लैण्ड में व्यवस्थापिका (ब्रिटिश संसद) ही सर्वोपरि है। वह साधारण कानूनों के समान ही संविधान में संशोधन कर सकती है। परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका और भारत में संशोधन की विशेष प्रक्रिया अपनाई जाती है।

(iii) निर्वाचन संबंधी कार्य– व्यवस्थापिका निर्वाचन संबंधी कार्यों का संपादन करती है। हमारे देश में संसद के दोनों सदनों के सदस्य राज्यों के विधानमण्डलों के साथ मिलकर राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए निर्वाचक-मंडल का निर्माण करते हैं।

(iv) वित्तीय कार्य– व्यवस्थापिका देश की सम्पूर्ण वित्त व्यवस्था पर नियंत्रण रखती है। वह नए कर लगाती है और निरर्थक करों को समाप्त करती है। इसके अतिरिक्त वह ऋणों की व्यवस्था करती है। और राजकीय व्ययों को स्वीकृति प्रदान करती है।

(v) कार्यपालिका पर नियंत्रण– विश्व के सभी देशों में व्यवस्थापिका किसी-न-किसी रूप से कार्यपालिका पर नियंत्रण स्थापित करती है। संसदीय शासन-प्रणाली में तो कार्यपालिका व्यवस्थापिका के नियंत्रण में रहकर ही कार्य करती है। इसके साथ-ही-साथ व्यवस्थापिका प्रश्न पूछकर, काम रोको प्रस्ताव रखकर भी कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है। इसके अतिरिक्त संसदात्मक शासन-प्रणाली वाले देशों में व्यवस्थापिका के सदस्य ही कार्यपालिका के सदस्य बनते हैं। यदि किसी ऐसे व्यक्ति को कार्यपालिका का सदस्य बना लिया जाता है, जो व्यवस्थापिका का सदस्य न हो, तो उसे किसी-न-किसी रूप मे निर्धारित अवधि के अन्तर्गत व्यवस्थापिका की सदस्यता ग्रहण करनी होती है।

(vi) राज्य के नीति संबंधी कार्य– व्यवस्थापिका ही राज्य की गृह-नीति का निर्धारण करती है और उसके द्वारा स्वीकृत नीति ही कार्यपालिका द्वारा क्रियान्वित की जाती है।

(vii) वैदेशिक नीति संबंधी कार्य– राज्य की विदेश नीति पर भी व्यवस्थापिका का नियंत्रण होता है। वह युद्ध, शान्ति, सन्धि तथा अंतराष्ट्रीय संबंधों के विषय में निर्णय लेने का अधिकार रखती है।

(viii) लोकमत का निर्माण– लोकमत का निर्माण करने वाली प्रमुख संस्थाओं में व्यवस्थापिका को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। व्यवस्थापिका के सदनों में राष्ट्रीय-हित के मामलों पर वाद-विवाद होता है। इन वाद-विवादों पर आधारित विचारों का ज्ञान जनता टेलीविजन, रेडियो तथा समाचार-पत्रों द्वारा प्राप्त करती हैं। इसके परिणामस्वरूप ही देश में स्वस्थ लोकमत का निर्माण होता है।

(ix) न्याय संबंधी कार्य– अनेक देशों में व्यवस्थापिका न्याय संबंधी कार्य भी करती है; उदाहरणार्थ— अमेरिका की 'कांग्रेस' और भारत की 'संसद' आवश्यकता के समय राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाती है और उपराष्ट्रपति, न्यायमूर्ति आदि को समय से पूर्व पद से हटाने के सन्दर्भ में निर्णय करती है। इंग्लैण्ड में तो 'लॉर्ड सभा' अपील के उच्चतम न्यायालय के रूप में भी कार्य करती है।

(x) **समिति और आयोगों की नियुक्ति–** विधानमंडल समय-समय पर किन्हीं विशेष कार्यों की जाँच करने के लिए उन समितियों और आयोगों की नियुक्ति करता है। जिनके माध्यम से शासन के कार्यों की जाँच की जाती है।

(xi) **जनभावनाओं की अभिव्यक्ति–** लोकतान्त्रिक व्यवस्थापिका में जनता के प्रतिनिधि सरकार का ध्यान जनता के कष्टों के प्रति आकर्षित करते हैं। इस प्रकार व्यवस्थापिका के माध्यम से जनभावनाओं की अभिव्यक्ति होती है।

व्यवस्थापिका के उपर्युक्त कार्यों से स्पष्ट हो जाता है कि व्यवस्थापिका सरकार के तीनों अंगों में सबसे महत्वपूर्ण है।

4. लोकतंत्र में व्यवस्थापिका का क्या महत्व है? इसके कार्यों का वर्णन कीजिए।

उ०– **व्यवस्थापिका का महत्व–** सरकार के तीनों ही अंगों द्वारा महत्वपूर्ण कार्य किए जाते हैं, लेकिन इन तीनों में व्यवस्थापन विभाग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। व्यवस्थापन विभाग व्यवस्थापिका ही उन कानूनों का निर्माण करती है। जिनके आधार पर कार्यपालिका शासन करती है और न्यायपालिका न्याय प्रदान करने का कार्य करती है। इस प्रकार व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के कार्य के लिए आवश्यक आधार प्रदान करती है व्यवस्थापन विभाग केवल कानूनों का ही निर्माण नहीं करता, वरन् प्रशासन की नीति भी निश्चित करता है और संसदात्मक शासन-व्यवस्था में तो कार्यपालिका पर प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण भी रखता है। संविधान में संशोधन का कार्य भी व्यवस्थापिका के द्वारा ही किया जाता है। अत: यह कहा जा सकता है कि व्यवस्थापन विभाग सरकार के दूसरे अंगों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थिति रखता है।

वर्तमान युग लोकतंत्रात्मक शासन-व्यवस्था का युग है। विश्व के प्राय: सभी महत्वपूर्ण देशों ने लोकतंत्रात्मक व्यवस्था को अपना लिया है। लोकतंत्रात्मक व्यवस्था में व्यवस्थापिका के महत्व को निम्नवत स्पष्ट किया जा सकता है—

(i) **व्यवस्थापिका जन-प्रतिनिधियों की सभा है–** व्यवस्थापिका जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों की सभा है, अत: जनता के निकट सम्पर्क में रहने के कारण यह जनता की कठिनाईयों तथा इच्छाओं से भली-भाँति परिचित होती है। व्यवस्थापिका द्वारा जनता की इच्छाओं को कार्यपालिका के समक्ष प्रस्तुत कर इसे जनभावना के अनुरूप कार्य करने को प्रेरित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है। बड़े क्षेत्रफल वाले राज्यों में तो इसका महत्व और भी अधिक हो जाता है।

(ii) **प्रत्यक्ष लोकतंत्र की कठिनाई को दूर करती है–** प्रत्यक्ष लोकतंत्र केवल कम जनसंख्या तथा छोटे क्षेत्रफल वाले राज्यों में ही सफल हो सकता है क्योंकि बड़ी जनसंख्या का दूर-दूर से आकर एक स्थान पर एकत्रित होना प्राय: असम्भव ही है। अत: प्रत्यक्ष लोकतंत्र की इस समस्या का निवारण भी व्यवस्थापिका द्वारा हो जाता है।

(iii) **कानून-निर्माण के क्षेत्र में शक्ति का विकेन्द्रीकरण आवश्यक–** राजतंत्र तथा अधिनायक तंत्र में शासन की शक्ति के केन्द्रीकरण की आवश्यक बुराई को दूर करने के प्रयोजन से लोकतंत्र में सत्ता के विकेन्द्रीकरण की नीति अपनायी गई और उसी के अनुरूप व्यवस्थापिका अपने वर्तमान स्वरूप में आई। व्यवस्थापिका कानून-निर्माण की प्रक्रिया में कार्यपालिका पर अपना अंकुश लगाकर उसे स्वेच्छाचारी होने से रोके रहती है। लोकतंत्र में व्यवस्थापिका द्वारा किया जाने वाला यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है।

व्यवस्थापिका के कार्य– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 3 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

5. व्यवस्थापिका के कार्यों का वर्णन कीजिए तथा इसका कार्यपालिका से संबंध बताइए। अथवा
संसदात्मक शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के मध्य संबंधों का वर्णन कीजिए।

उ०– **व्यवस्थापिका के कार्य–** इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 3 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में संबंध– कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के संबंध की प्रकृति ही शासन की प्रमुख प्रणालियों-संसदात्मक प्रणाली और अध्यक्षात्मक प्रणाली में भेद स्थापित करती है। संसदात्मक प्रणाली में कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के मध्य संबंध बहुत घनिष्ठ होता है। कार्यपालिका को व्यवस्थापिका की एक समिति कहा जा सकता है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका सिद्धान्त रूप से सर्वथा एक-दूसरे से अलग होती है, परन्तु शासन की आवश्यकताएँ इन्हें पूर्णरूपेण पृथक् नहीं रहने देती हैं। इस प्रकार व्यवहार रूप में दोनों एक-दूसरे को नियंत्रित और मर्यादित करती हैं। प्रत्येक राज्य में कार्यपालिका को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कुछ विधायी कार्य करने पड़ते हैं और व्यवस्थापिका को कुछ कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य करने पड़ते हैं। कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के संबंध का अध्ययन दो रूपों में किया जा सकता है—

(i) कार्यपालिका की विधायी शक्तियाँ और उसका व्यवस्थापिका पर नियंत्रण।

(ii) व्यवस्थापिका की प्रशासकीय शक्तियाँ और उसका कार्यपालिका पर नियंत्रण।

(क) **कार्यपालिका की विधायी शक्तियाँ और उसका व्यवस्थापिका पर नियंत्रण–** कार्यपालिका कई प्रकार से विधायी अर्थात् कानून-निर्माण संबंधी कार्यों में भाग लेती हैं। संसदीय शासन-प्रणाली वाले देशों में कार्यपालिका को व्यवस्थापिका का अधिवेशन बुलाने, उसको स्थगित करने तथा समाप्त करने का अधिकार होता है। वह निम्न सदन को भंग करके नये चुनाव के लिए आदेश दे सकती है, परन्तु अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली वाले देशों में कार्यपालिका व्यवस्थापिका को समय-समय पर देश की कानून संबंधी आवश्यकताओं से अवगत कराती रहती है और उसका उचित नेतृत्व और पथ प्रदर्शन करती है। कार्यपालिका समस्त विधेयकों का प्रारूप तैयार करती है और

व्यवस्थापिका में उन्हें प्रस्तुत करती है तथा विपक्ष की आलोचनाओं को सहन करती हुई पारित कराती है। अध्यक्षात्मक प्रणाली में कार्यपालिका अप्रत्यक्ष रूप से विधायी कार्य को प्रभावित करती है। दूसरे शब्दो में, इस प्रणली में राष्ट्रपति को केवल सन्देशों के माध्यम से ही व्यवस्थापिका का ध्यान आलोचनाओं की ओर आकर्षित करने का अधिकार होता है। अमेरिका के राष्ट्रपति को व्यवस्थापिका (कांग्रेस) को सन्देश भेजने का अधिकार है।

संसदात्मक तथा अध्यक्षात्मक दोनों प्रकार की प्रणलियों में कार्यपालिका को अध्यादेश जारी करने तथा व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयकों के संबंध में निषेधाधिकार प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त होता है। ब्रिटेन की संसद सम्राट के निषेधाधिकार की उपेक्षा नहीं कर सकती। बहुत से राज्यों में व्यवस्थापिका बहुमत के आधार पर इसे अस्वीकार कर सकती है। **हैमिल्टन** के अनुसार, ''निषेधाधिकार कार्यपालिका के लिए कवच का काम करता है।'' कुछ देशों में प्रतिनिध्यात्मक विधायी प्रणाली का प्रयोग किये जाने लगा है, जिसके कारण कार्यपालिका की विधायी शक्तियों का क्षेत्र और अधिक विकसित हो गया है।

(ख) व्यवस्थापिका की प्रशासनिक शक्तियाँ और उसका कार्यपालिका पर नियंत्रण– दूसरी ओर कार्यपालिका भी कई प्रकार से व्यवस्थापिका द्वारा नियन्त्रित होती है। संसदीय प्रणाली में यह नियंत्रण अध्यक्षात्मक प्रणाली की अपेक्षा अधिक होता है। संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका का जीवन व्यवस्थापिका की इच्छा पर निर्भर होता है। दूसरे शब्दों में, कार्यपालिका उस समय तक अपने पद पर बनी रहती है जब तक कि उसे व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त है। व्यवस्थापिका अविश्वास प्रस्ताव पारित करके, कार्यपालिका के शासन संबंधी आचरण की निन्दा का प्रस्ताव स्वीकृत करके, अनुदान करके अथवा सरकार द्वारा प्रस्तुत किसी प्रस्ताव को अस्वीकृत करके मन्त्रिमण्डल को अपने पद से हटा सकती है।

अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में इस प्रकार के नियंत्रण उपलब्ध नहीं होते हैं। इसमें कार्यपालिका को नियन्त्रित करने के दूसरे साधन हैं। अमेरिका में लोक सदन राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा पद से हटा सकता है। इसी प्रकार सीनेट को कार्यपालिका द्वारा की गयी उच्च नियुक्तियों को स्वीकृत प्रदान करने का अधिकार है तथा राष्ट्रपति द्वारा प्रत्येक सन्धि के लिए उसकी अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होता है।

कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के संबंधों में उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ही एक-दूसरे पर नियंत्रण रखती हैं। ऐसी स्थिति में यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि इन दोनों के संबंध परस्पर सहयोगपूर्ण होने चाहिए। यदि पारस्परिक सहयोग नहीं रहेगा तो शासन कार्य सुचारू रूप से चलना असम्भव हो जायेगा।

6. व्यवस्थापिका के कार्यों की व्याख्या कीजिए। वर्तमान युग में व्यवस्थापिका के ह्रास के क्या कारण है?

उ०– व्यवस्थापिका के कार्य– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 3 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

वर्तमान युग में व्यवस्थापिका के ह्रास के कारण– व्यवस्थापिका के महत्व में कमी और इसकी शक्तियों के ह्रास के लिए कई कारण हैं। संक्षेप में व्यवस्थापिका के ह्रास के निम्नलिखित कारण हैं—

(i) युद्ध और संकट की स्थिति– प्राय: सभी लोकतान्त्रिक देशों में राज्याध्यक्ष ही सेना का प्रधान होता है, सैनिक मामलों में विधायिका कुछ भी नहीं कर सकती है। अत: युद्ध या अन्य संकटकाल के समय विधायिका नहीं अपितु कार्यपालिका सर्वेसर्वा बन जाती है, ऐसी कठिन परिस्थितियों में तुरन्त निर्णय लेने की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए सन् 1971 ई० के युद्ध में भारत की तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने स्वतंत्र रूप से युद्ध-नीति का संचालन किया था। अमेरिका में भी राष्ट्रपति निक्सन ने वियतनाम युद्ध के दौरान कई बार कांग्रेस की अवहेलना की थी। फॉकलैण्ड युद्ध में भी ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्रीमती मार्गरेट थैचर ने देश का नेतृत्व स्वयं किया था। अत: युद्ध या संकट के समय कार्यपालिका ऐसी स्थिति ला देती है, जिससे विधायिका के समक्ष उसे स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं रह जाता है। यह प्रक्रिया 20वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई।

(ii) परामर्शदात्री समितियों और विशेषज्ञ समितियों का विकास– प्रत्येक मन्त्रालय और विभाग में सलाहकार समितियाँ गठित होने लगी है तथा विशेषज्ञों के संगठन बनाए जाने लगे हैं। विधेयकों का प्रारूप तैयार करने में इनसे सलाह ली जाती है। सदन में जब विचार-विमर्श होता है और सदस्यों द्वारा संशोधन प्रस्तुत किए जाते हैं, तब यह कहकर उन्हें चुप कर दिया जाता है कि इस पर विशेषज्ञों की सलाह ली जा चुकी है। फलस्वरूप विधायिका के समक्ष ऐसे प्रस्तावों को स्वीकृत करने के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं रह जाता है।

(iii) दबाव गुटों और हितसमूहों का विकास– 20वीं शताब्दी में विधायिका के सदस्यों का एक मुख्य कार्य जन-शिकायतों को सरकार तक पहुँचाना रहा, लेकिन दबाव गुटों और हितसमूहों के विकास के कारण उसकी इस भूमिका में भी कमी आई। पिछली शताब्दी में नागरिक संगठित हितसमूहों का सदस्य होता गया। परिणामस्वरूप विधायिका की अनदेखी कर कार्यपालिका से वह सीधा सम्पर्क जोड़ लेता था और अपनी मांगों को मनवाने के सन्दर्भ में सफलता प्राप्त करता था। अत: विधायिका पृष्ठभूमि में चली गई और निर्णय प्रक्रिया में कार्यपालिका ही मुख्य भूमिका अदा करती रही।

(iv) **संचार साधनों की भूमिका–** रेडियो और टेलीविजन विज्ञान के ऐसे चमत्कार हैं, जिन्होंने कार्यपालिका के प्रधान का जनता के साथ प्रत्यक्ष संबंध जोड़ा। संचार साधनों के ऐसे विकास से कार्यपालिका के प्रधान द्वारा विधायिका को नजरअन्दाज कर सीधा जनसम्पर्क स्थापित किया जाने लगा जिसका प्रतिकूल प्रभाव विधायिका की शक्तियों पर पड़ता गया।

(v) **प्रतिनिधायन– के०सी० ह्वीयर** के मतानुसार प्रतिनिधायन द्वारा कार्यपालिका ने विधायिका की कीमत पर अपनी स्थिति को सुदृढ़ किया है। इस सिद्धान्त के फलस्वरूप कार्यपालिका को विधि-निर्माण का अधिकार प्राप्त हो गया। व्यवहार में विभिन्न कारणों से विधायिका ने स्वत: कार्यपालिका को यह शक्ति प्रदान की। अत: विधि-निर्माण का जो मुख्य कार्य विधायिका के कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत था वह भी प्रतिनिधायन के कारण उसके क्षेत्राधिकार से निकलता चला गया।

(vi) **कार्यपालिका की शक्तियों में असीम वृद्धि–** पूर्व की तुलना में विभिन्न कारणों से कार्यपालिका का अधिक महत्वपूर्ण होना स्वाभाविक है। अनेक विद्वान यह मानते हैं कि इसकी शक्तियों में वृद्धि कर विपरीत प्रभाव विधायिका पर पड़ता है। इसीलिए विगत शताब्दी में अनेक राष्ट्रों में विधायिका की संस्था और कमजोर हुई है।

(vii) **वैदेशिक संबंधों की सर्वोच्चता–** भूतपूर्व अमरीकी राष्ट्रपति **वुडरो विल्सन** का मत है कि कार्यपालिका की शक्ति के बढ़ने से अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में उसे महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है। वैदेशिक संबंध एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें विधायिका शायद ही महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हो, लेकिन कार्यपालिका द्वारा इस क्षेत्र में सफलतापूर्वक निर्वाह किया जाता रहा है। धीरे-धीरे यह क्षेत्र विधायिका से कार्यपालिका की ओर खिसकता जा रहा है। इस प्रकार विधायिका की स्थिति निरन्तर कमजोर होती चली गई है।

(viii) **विभिन्न राष्ट्रों में लोक-कल्याणकारी राज्य की भावना का उदय–** 20वीं शताब्दी में समाज का सर्वांगीण विकास करने के लिए राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत बढ़ गया। लोक-कल्याण प्रत्येक राज्य का उद्देश्य बन गया। इससे नि:सन्देह विधायिका के कार्य भी बढ़े किन्तु कार्यपालिका विधायिका की तुलना में और महत्वपूर्ण हो गई है। परिणामस्वरूप पिछली शताब्दी में विधायिका का प्रभाव कार्यपालिका की तुलना में कम हो गया।

(ix) **अनुशासित राजनीतिक दलों का विकास– एल०ए० बॉल** के अनुसार 20वीं शताब्दी में बड़े-बड़े अनुशासित दलों के विकास तथा कार्यपालिका शक्ति में वृद्धि के कारण विधायिकाओं के पतन या ह्रास की चर्चा एक सामान्य-सी बात हो गई है। विधायी शक्ति को कार्यपालिका ने वास्तविक अर्थ में दलों के माध्यम से छीन लिया है। दलीय अनुशासन की कठोरता के कारण कार्यपालिका विधायी नियंत्रण से कम से कम संसदीय शासन-प्रणाली में तो मुक्त हो गई हैं। अत: इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि अनुशासित राजनीतिक दलों के कारण विधायिकाएँ कार्यपालिका का रबड़ स्टाम्प बन गई हैं।

(x) **संकट व तनाव की अवस्था का युग– रॉबर्ट सी० बोन** ने 20वीं शताब्दी को चिन्ता का युग कहा है। उक्त शताब्दी में विभिन्न देशों में किसी-न-किसी कारण से प्राय: ही संकट के बादल मँडराते रहे, जो न केवल सरकारों को बल्कि नागरिकों को भी तनाव की स्थिति में ला देते थे। संचार-साधनों के विकास के कारण विश्व की घटनाओं का समाचार निरन्तर रेडियो तथा टेलीविजन द्वारा मिलना सामान्य बात थी। ऐसी स्थिति में कार्यपालिका ही उनकी आशा का केन्द्र बनी। यही कारण है कि चिन्ता के उस युग में विधायिका लोगों को आश्वस्त करने की भूमिका नहीं निभा सकी। यह कार्य कार्यपालिका का हो गया। आज कार्यपालिका सर्वशक्तिमान बनने की दिशा में बढ़ रही है।

7. व्यवस्थापिका के आधारभूत कार्यों का वर्णन कीजिए और संसदात्मक प्रणाली में इसकी विशिष्ट भूमिका पर भी प्रकाश डालिए।

उ०– **व्यवस्थापिका के आधारभूत कार्य–** इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 3 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

संसदात्मक प्रणाली में व्यवस्थापिका की भूमिका (महत्व)– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 4 के उत्तर में 'लोकतंत्र में व्यवस्थापिका का महत्व' का अवलोकन कीजिए।

8. ''द्वितीय सदन की विद्यमानता स्वतंत्रता की गारण्टी व कुछ सीमा तक अत्याचार से सुरक्षा भी है।'' इस कथन के आलोक में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में तर्क दीजिए।

उ०– ''द्वितीय सदन की विद्यमानता स्वतंत्रता की गारण्टी व कुछ सीमा तक अत्याचार से सुरक्षा भी है'' इस कथन के आलोक में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में तर्क निम्नलिखित हैं—

(i) **प्रथम सदन की मनमानी पर रोक–** यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि शक्ति भ्रष्ट करती है और बिना किसी प्रतिबन्ध के दी हुई शक्ति मनुष्य को नितान्त भ्रष्ट कर देती है। व्यवस्थापिका अत्याचारी, भ्रष्ट व स्वेच्छाचारी न होने पाये, इसके लिए दो सदन होना आवश्यक है। डॉ० गार्नर के शब्दों में, ''इस प्रकार द्वितीय सदन की विद्यमानता स्वतंत्रता की गारण्टी व कुछ सीमा तक अत्याचार से सुरक्षा भी है।''

(ii) **अविचारपूर्ण कानून निर्माण पर रोक–** दूसरा सदन पहले सदन की जल्दबाजी और कुविचारपूर्ण कानूनों पर रोक लगाने का सर्वाधिक प्रभावशाली साधन है। जनता के प्रतिनिधि भावुक, क्रान्तिकारी और अव्यहारिक होते हैं और अनेक बार वे ऐसे क्रान्तिकारी कानून बनाने के लिए तैयार हो जाते हैं जिनसे लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक होती है। द्वितीय

सदन इस प्रकार के अविचारपूर्ण कानूनों पर रोक लगाकर अत्यन्त उपयोगी कार्य करता है। दूसरे सदन की उपयोगिता बताते हुए ब्लण्टशली ने कहा है कि ''दो आँखों की अपेक्षा चार आँखें सदा अच्छा देखती है। विशेषत: जब किसी प्रश्न पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करना आवश्यक हो।''

(iii) सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व– प्रथम सदन में शक्तिशाली राजनीतिक दलों से संबंधित निम्न एवं मध्यम वर्ग के सदस्यों को ही प्रतिनिधित्व प्राप्त हो पाता है, लेकिन लोकतंत्र का आदर्श सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व प्रदान करना है। अत: दूसरे सदन में विशेष वर्गों, अल्पसंख्यकों एवं विद्या, ज्ञान एवं अनुभव की दृष्टि से योग्य व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व सुरक्षित रखा जा सकता है। इस प्रकार प्रतिनिधित्व की उत्तमता की दृष्टि से दो सदनों की व्यवस्था श्रेष्ठ समझी जाती है।

(iv) कार्य-विभाजन से लाभ– जनकल्याणकारी राज्य के विचार को अपना लेने के कारण वर्तमान समय में व्यवस्थापिका के अन्तर्गत कार्य बहुत अधिक बढ़ गये हैं। व्यवस्थापिका के दो सदन होने पर इस बढ़े हुए कार्य का विभाजन किया जा सकता है और इससे व्यवस्थापिका की कार्यक्षमता बढ़ जाती है। वे विधेयक, जिन पर विशेष मतभेद नहीं होता। पहले द्वितीय सदन में पेश किये जा सकते हैं और प्रथम सदन अपना ध्यान अधिक महत्वपूर्ण समस्याओं की ओर केन्द्रित कर सकता है।

(v) जनमत निर्माण में सहायक– विधेयक के निम्न सदन से पास हो जाने के बाद उच्च सदन में पास होने में समय लगता है। इस प्रकार उच्च सदन विधेयक पास करने से पूर्व जनता को विधेयक के बारे में सोचने-विचारने के लिए समय देता है और सामान्य जनता, राजनीतिक दल एवं प्रेस इस प्रस्तावित विधेयक पर अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं।

(vi) स्वतंत्रता की रक्षा का साधन– द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका जनता की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए भी अत्यन्त आवश्यक है। यह नीतियों में संतुलन स्थापित करती व अल्पसंख्यकों की रक्षा करती है। लॉर्ड एक्टन ने दूसरे सदन को स्वतनत्रता की रक्षा का सबसे प्रमुख साधन माना है।

(vii) कार्यपालिका की स्वतंत्रता में वृद्धि– गैटिल का कथन है कि, ''दो सदन एक-दूसरे पर रुकावट का कार्य करके कार्यपालिका को अधिक स्वतंत्रता प्रदान करते हैं और अन्त में इससे लोकहित की बढ़ोत्तरी होती है।'' कई बार मन्त्रियों को अपनी सही नीति के लिए भी प्रथम सदन में पर्याप्त समर्थन नहीं मिल पाता। ऐसी स्थिति में यदि उन्हें द्वितीय सदन में पर्याप्त समर्थन मिल जाए, तो उनकी स्थिति काफी मजबूत हो जाती है।

9. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष एवं विपक्ष में तर्क दीजिए।

उ०– द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में तर्क– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 8 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के विपक्ष में तर्क– द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते है—

(i) उत्तरदायित्व का विभाजन– द्विसदनात्मक पद्धति में उत्तरदायित्व एवं शक्ति विभाजित रहती है, अत: यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि व्यवस्थापिका की इच्छा क्या है और किसी भी कार्य के लिए अन्तिम रूप से जिम्मेदार कौन है।

(ii) सर्वसाधारण हितों के प्रतिकूल– इससे किसी भी वर्ग के हितों का संरक्षण नहीं होता, बल्कि सार्वजनिक हित को क्षति पहुँचती है। इस प्रणाली का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि इसकी स्थापना धनी वर्ग के हितों के संरक्षण के लिए हुई है। उदाहरण के लिए अमेरिका में द्वितीय सदन, सीनेट सम्पत्तिवान एवं पूँजीपति वर्ग का और इंग्लैण्ड में लॉर्ड सभा प्रतिक्रियावादियों का गढ़ और धनवान वर्गों का संरक्षक है। वास्तविकता तो यह है कि पूँजीवादी वर्ग ने उच्च सदन को अपनी हित साधना का एक माध्यम बना लिया है।

(iii) सम्प्रभुता की धारणा के विपरीत– प्रजातंत्र में सार्वभौमिकता जनता में निवास करती है। इस सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति जनता की इच्छा में होती है, जिसका प्रतिनिधित्व व्यवस्थापिका द्वारा होता है। यह सम्प्रभु इच्छा अखण्ड या अविभाजित होती है। इसलिए इसके प्रतिनिधित्व के लिए केवल एक ही सदन होना चाहिए, दूसरे सदन की कोई आवश्यकता नहीं है।

(iv) द्वितीय सदन कानून में कोई आवश्यक संशोधन भी नहीं करता है– द्विसदनात्मक व्यवस्था के समर्थकों का मानना है कि दूसरा सदन पहले द्वारा बनाए गए कानूनों में संशोधन और आवश्यक सुधार की संस्तुति करता है। किन्तु यह विचार भी निरर्थक है। दल प्रथा के कारण भी सदस्य अपने दल के निर्णय के विपरीत कार्य नहीं कर सकता है। इसके अलावा सदन में एक ही दल का बहुमत हो तो प्रथम सदन के बहुमत द्वारा पारित किए गए विधेयक को दूसरा सदन संशोधित अथवा परिवर्तित नहीं कर सकता।

(v) कानून बनाने के लिए दो सदन आवश्यक नहीं– एकसदनात्मक व्यवस्थापिका में केवल जनता के प्रतिनिधि रहते हैं, जो किसी भी कानून को क्षणिक भावावेश और उतावलेपन में पारित कर देते हैं। एक सदन के इसी उतावलेपन एवं जल्दबाजी को रोकने के लिए द्विसदनात्मक प्रणाली अपनाई गई है। इस प्रणाली से अच्छे और उपयोगी कानूनों की रचना होती है। लेकिन यह विचार भ्रामक है। आज प्रथम सदन के उतावलेपन पर जल्दबाजी का आरोप लगाना गलत है। **प्रो० लास्की** का कथन है कि कम-से-कम इस आधार पर दूसरे सदन का समर्थन तो नहीं किया जा सकता है। आज किसी विधेयक को कानून का रूप देने के लिए प्रथम सदन में उस लम्बे समय तक विचार-विमर्श होता है। समाचार-पत्रों में उसे प्रकाशित कर उस पर लोकमत जान लिया जाता है। आज प्रथम सदन किसी भी विधेयक को अधिक सतर्कता से कानून का रूप देता

है। इसके अलावा आधुनिक युग में प्रथम सदन के अविवेकपूर्ण कार्यों पर अंकुश लगाने के लिए राजनीतिक दल, प्रेस, रेडियो, दूरदर्शन, सभा-संस्थाएँ, आन्दोलन, लोकमत, न्यायालय आदि अनेक शक्तिशाली संस्थाएँ हैं।

(vi) **अत्यन्त खर्चीली पद्धति है–** ''आधुनिक राज्यों की आवश्यकता की पूर्ति एकसदनीय व्यवस्थापिका में ही हो सकती है क्योंकि द्विसदनीय व्यवस्थापिका में काम की पुनरावृत्ति होती है, समय नष्ट होता है और राष्ट्रीय कोष पर अनावश्यक भार पड़ता है।''
–प्रो० लास्की

(vii) **गत्यावरोध की सम्भावना–** द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका में दोनों सदनों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने से गत्यावरोध की सम्भावना बनी रहती है। इसका प्रमुख कारण दोनों सदनों के स्वरूप और संरचना में विभिन्नता है। द्वितीय सदन रूढ़िवादियों तथा प्रतिक्रियावादियों का शरण-स्थल बन जाता है जो प्रथम सदन के प्रगतिशील विधेयकों का आवश्यक रूप से विरोध करता है।

(viii) **संगठन संबंधी अनिश्चितता–** द्वितीय सदन का संगठन संबंधी सिद्धान्त सर्वमान्य तथा निश्चित नहीं है। विभिन्न देशों ने इसकी रचना व संगठन विभिन्न परम्पराओं और सिद्धान्तों के आधार पर की है। प्राय: सभी देशों में इसका संगठन अप्रजातान्त्रिक है। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड के दूसरे सदन लॉर्ड सभा के प्रतिनिधियों का चुनाव वंश परम्परा या अधिकार के आधार पर किया जाता है। इसके अतिरिक्त इस पद्धति में यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि द्वितीय सदन को वास्तव में कितने अधिकार दिए जाने चाहिए।

(ix) **संघात्मक शासन के लिए भी दूसरा सदन आवश्यक नहीं–** वर्तमान में संघीय शासन व्यवस्था के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों अथवा संघीभूत इकाइयों के अधिकारों की रक्षा दूसरे सदन से नहीं बल्कि वैधानिक संरक्षण एवं स्वतंत्र न्यायपालिका द्वारा हो सकती है। अत: संघीय शासन व्यवस्था में भी दूसरे सदन का अस्तित्व अनावश्यक प्रतीत होता है।

10. कार्यपालिका से आप क्या समझते हैं? इसके विविध रूपों का वर्णन कीजिए।

उ०– **कार्यपालिका का अर्थ–** सरकार का दूसरा महत्वपूर्ण अंग कार्यपालिका है। कार्यपालिका ही व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानूनों को लागू करती है। तथा प्रशासन का संचालन करती है।

(i) **गार्नर** ने कार्यपालिका का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''व्यापक एवं सामूहिक अर्थ में कार्यपालिका के अधीन वे सभी अधिकारी, राज-कर्मचारी तथा एजेन्सियाँ आ जाती है, जिनका कार्य राज्य की इच्छा को, जिसे व्यवस्थापिका ने व्यक्त कर कानून का रूप दे दिया है, कार्यरूप में परिणत करना है।''

(ii) **गिलक्राइस्ट** के अनुसार, ''कार्यपालिका सरकार का वह अंग है, जो कानून में निहित जनता की इच्छा को लागू करता है।''

(iii) **लीकॉक** के अनुसार, ''कार्यपालिका शब्द का प्रयोग सरकार के उन अधिकारियों के लिए किया जाता है, जिनका कार्य देश के कानून को क्रियान्वितत करना होता है।''

कार्यपालिका के विविध रूप– कार्यपालिका के विविध रूप निम्नलिखित हैं—

(i) **नाममात्र की तथा वास्तविक कार्यपालिका–** यह वर्गीकरण अधिकार क्षेत्र के आधार पर किया गया है। नाममात्र की कार्यपालिका अधिकारशून्य कार्यपालिका होती है। वह स्वविवेक से कुछ भी कार्य नहीं करती है, यद्यपि शासन से संबंधित समस्त कार्य उसी के नाम से किए जाते हैं। जैसे इंग्लैण्ड में सम्राट और भारत में राष्ट्रपति हैं। ये नाममात्र की कार्यपालिकाएँ हैं। वास्तविक कार्यपालिका द्वारा शासन की समस्त शक्ति का प्रयोग स्वयं किया जाता है। संसदात्मक शासन व्यवस्था में वास्तविक कार्यपालिका शक्तियाँ मन्त्रिपरिषद में निहित होती हैं, जो संसद के प्रतिउत्तरदायी होती है। यह व्यवस्था इंग्लैण्ड और भारत में भी है! जहाँ राजा और राष्ट्रपति नाममात्र के अध्यक्ष होते हैं। अध्यक्षात्मक पद्धति में दोनों प्रकार की शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित होती हैं, जैसे अमेरिका का राष्ट्रपति सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों में कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग करता है। अत: उसमें वास्तविक कार्यपालिका निहित है।

(ii) **संसदीय तथा अध्यक्षात्मक कार्यपालिका अथवा उत्तरदायी एवं अनुत्तरदायी कार्यपालिका–** विधायिका तथा कार्यपालिका के संबंधों के आधार पर इसे संसदीय तथा अध्यक्षात्मक कार्यपालिका के रूपों में बाँटा गया है। संसदीय कार्यपालिका में वास्तविक कार्यपालिका शक्तियाँ मन्त्रिपरिषद् में निहित होती हैं और वह संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। उन देशों में एक संवैधानिक अध्यक्ष होता है, जो नाममात्र की शक्तियों का प्रयोग करता है। यह व्यवस्था इंग्लैण्ड, भारत, जापान आदि में है। अध्यक्षात्मक कार्यपालिका में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका भिन्न-भिन्न होती हैं तथा कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती है। अमेरिका में इसी प्रकार की शासन व्यवस्था है।

(iii) **एकल तथा बहुल कार्यपालिका–** यदि कार्यपालिका की समस्त शक्तियाँ संवैधानिक तौर पर एक ही व्यक्ति में निहित होती हैं तो उसे **एकल कार्यपालिका** कहते हैं। इंग्लैण्ड, भारत तथा अमेरिका आदि देशों में एकल कार्यपालिका है। यदि कार्यपालिका की शक्तियाँ एक ही व्यक्ति में निहित न होकर कुछ व्यक्तियों की एक समिति में निहित होती हैं तो उसे **बहुल कार्यपालिका** कहते हैं। स्विट्जरलैण्ड की सात सदस्यों की संघीय परिषद् तथा पूर्व सोवियत संघ की 33 सदस्यों की प्रेसीडियम इसी प्रकार की कार्यपालिका के उदाहरण हैं। सात सदस्यों वाली संघीय परिषद् औपचारिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए अपने सदस्यों में से एक सदस्य को 1 वर्ष के लिए राष्ट्रपति निर्वाचित करती है।

(iv) **राजनीतिक और अराजनीतिक (स्थायी) कार्यपालिका–** आधुनिक काल में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि और प्रशिक्षित स्थायी नागरिक सेवक मिलकर कार्य करते हैं। इनमें प्रथम को **राजनीतिक** एवं दूसरे को **अराजनीतिक कार्यपालिका** कहते हैं। नागरिक सेवक प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक गतिविधियों में भाग नहीं लेते हैं। सरकार के आने-जाने का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है यह सरकार की नीतियों को बिना किसी आलोचना के लागू करने का प्रयास करते हैं।

(v) **वंशानुगत और निर्वाचित कार्यपालिका–** यदि राज्य का अध्यक्ष वंशानुगत ढंग से सत्ता प्राप्त करता है तो उसे **वंशानुगत कार्यपालिका** कहा जाता है वंशानुगत कार्यपालिका का उदाहरण ब्रिटेन तथा जापान है, और यदि जनता द्वारा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से निर्वाचित किया जाता है तो उसे निर्वाचित कार्यपालिका कहा जाता है। निर्वाचित कार्यपालिका भारत, अमेरिका आदि अधिकांश देशों में है।

11. एकल एवं बहुल कार्यपालिका पर टिप्पणी लिखिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 10 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

12. कार्यपालिका क्या है? आधुनिक काल में इसके बढ़ते हुए महत्व के क्या कारण है?

उ०– **कार्यपालिका–** इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 10 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

आधुनिक काल में कार्यपालिका के बढ़ते महत्व के कारण– कानून के निर्माण और सरकार की नीति-निर्धारण का कार्य व्यवस्थापिका (विधान-मंडल) द्वारा किया जाता है। व्यवस्थापिका द्वारा जो कानून निर्मित किये जाते हैं तथा जिन नीतियों का निर्धारण किया जाता है, उनके आधार पर ही कार्यपालिका शासन करती है तथा न्यायपालिका न्याय प्रदान करने का कार्य करती है। व्यवस्थापिका का निर्माण जनता के द्वारा होता है। अत: वह जन-प्रतिनिधित्व करती है, कानूनों का निर्माण करती है। तथा नीतियों का निर्धारण करती है। इस कारण जनतन्त्रीय व्यवस्था में व्यवस्थापिका का महत्वपूर्ण स्थान है, परन्तु देखा यह जा रहा है कि पिछले दशकों में व्यवस्थापिका की तुलना में कार्यपालिका के कार्यों और शक्तियों में वृद्धि हुई है। कार्यपालिका के बढ़ते हुए महत्व के कारण निम्नवत् हैं—

(i) **लोकसभा में बहुमत–** कार्यपालिका (मन्त्रिपरिषद्) को लोकसभा में बहुमत दल का समर्थन प्राप्त होता है। अत: विधेयकों को अपनी इच्छानुसार पारित करा ले जाती है। कार्यपालिका को विधानमंडल के अधिकांश सदस्यों का समर्थन प्राप्त होने के कारण उसके अपदस्थ होने की आशंका नहीं रहती। अत: वह अपनी नीतियों को भली-भाँति क्रियान्वित करने में सफल हो जाती है और देश उसकी नीतियों पर ही चलता रहता है।

(ii) **लोकसभा पर अंकुश–** कार्यपालिका लोकसभा को कार्यकाल पूरा होने से पहले राष्ट्रपति द्वारा भंग करने में सक्षम है। लोकसभा यदि कार्यपालिका की नीतियों पर अनावश्यक तथा जनहित के विरुद्ध अवरोध डालने का प्रयत्न करती है, तो शासन कार्य में रुकावट पड़ने के साथ-साथ देश की जनता का अहित होने की आशंका भी उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति से निबटने के लिए कार्यपालिका को अधिकार है कि वह राष्ट्रपति से लोकसभा भंग करने की सिफारिश कर उसे भंग करा दे। इस अधिकार के कारण कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि हो जाती है।

(iii) **कानून-निर्माण–** कार्यपालिका कानून निर्माण की आधारशिला है। कार्यपालिका विधेयकों को तैयार कराके उन्हें विधानमंडल में प्रस्तुत कराती है और बहुमत के आधार पर उन्हें पारित भी करा ले जाती है। संसद में वे ही विधेयक प्राय: पारित होते हैं जो मन्त्रियों द्वारा प्रस्तावित होते हैं। निर्दलीय सांसदों के विधेयक उसी समय पारित हो सकते हैं जब उन्हें मन्त्रिपरिषद् का सहयोग एवं सक्रिय समर्थन प्राप्त हो जाए। इस प्रकार कार्यपालिका विधानमंडल पर छाई रहती है।

(iv) **मन्त्रिपरिषद् की न्यायिक शक्ति–** कार्यपालिका सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायधीश के तथा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ करती है। कार्यपालिका की इस न्यायिक शक्ति के कारण भी कार्यपालिका का महत्व बढ़ जाता है।

(v) **साधारण योग्यता के व्यक्तियों का चुनाव–** विधानमंडल (व्यवस्थपिका) के सदस्य प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर चुने जाते हैं। विशेष प्रतिभाशाली व्यक्ति चुनावों के झंझट में नहीं पड़ना चाहते हैं। प्राय: पेशेवर राजनीतिज्ञ व्यवस्थापिका में चुने जाते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने कार्यो, आचरण तथा कम योग्यता से व्यवस्थापिका की गरिमा कम कर देते हैं। वे कानूनों की पेचीदगी को समझने में असमर्थ होते हैं। अत: विधानमंडल में वे मूक दर्शक बने रहते हैं और मन्त्रियों के रुख को परखकर ही वे मतदान करते रहते हैं।

(vi) **लोक-कल्याणकारी राज्य–** वर्तमान काल में राज्यों ने लोक-कल्याणकारी राज्य का चोला पहन रखा है। अत: राज्य के कार्य बहुत अधिक बढ़ जाने से विधानमंडल की शक्ति कम हो गयी है और कार्यपालिका का महत्व बढ़ जाने से उसकी शक्तियाँ भी बढ़ गयी है।

(vii) **आधुनिक समस्याओं की जटिलता–** वर्तमान काल में राज्य को अत्यधिक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन समस्याओं को हल करने के लिए जिस विशेष ज्ञान, अनुभव और योग्यता की आवश्यकता होती हैं, वह कार्यपालिका के सदस्यों में ही होती है। व्यवस्थापिका (विधानमंडल) के सामान्य योग्यता वाले सदस्य इन समस्याओं को सुलझाने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं।

(viii) नियोजन– वर्तमान काल में अधिकांश प्रगतिशील देशों में आर्थिक विकास के लिए नियोजन को अपनाया जा रहा है। अत: योजनाएँ बनाने तथा उन्हें कार्यरूप में परिणित करने का कार्य कार्यपालिका के द्वारा ही किया जाता है।

निष्कर्ष– संसदीय व्यवस्था में मन्त्रिपरिषद् का निर्माण विधानमंडल में से ही होता है किन्तु व्यवहार में दलीय अनुशासन के कारण मन्त्रिपरिषद् विधानमंडल पर हावी हो जाता है। मन्त्रिपरिषद् द्वारा विधानमंडल को विघटित करने की शक्ति के कारण कार्यपालिका की शक्ति और अधिकार पिछले दशकों में काफी बढ़ गये है और विधानमंडल की शक्तियाँ तथा अधिकारों में ह्रास होने लगा है।

13. संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के मध्य उचित संबंधों की विवेचना कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 5 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

14. कार्यपालिका के प्रमुख कार्यो का वर्णन कीजिए।

उ०– **कार्यपालिका के कार्य–** राज्य के कार्यों के संबंध में वर्तमान समय में व्यक्तिवादी विचारधारा को त्यागकर जनकल्याणकारी राज्य के विचार को अपना लिया गया है। जनकल्याणकारी राज्य की विचारधारा का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राज्य के कार्यों में वृद्धि हुई।

''राज्य के कार्यों में प्रत्येक वृद्धि ने कार्यपालिका के कार्यों और शक्ति में वृद्धि की है।'' **–लिप्सन**

कार्यपालिका के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) सैनिक कार्य– कार्यपालिका का प्रथम कार्य देश की सुरक्षा करना है। यह बाहरी आक्रमणों से देश की सुरक्षा करती है। जल, थल तथा वायु सेना का संगठन और नियंत्रण करती है तथा युद्ध और शान्ति की भी घोषणा करती है। **कैण्ट** के शब्दों में, ''सैन्य बल का नियंत्रण एवं प्रयोग , शान्ति की स्थापना, बाहरी आक्रमण से रक्षा स्वभावत: कार्यपालिका संबंधी कार्य हैं।''

(ii) प्रशासनिक कार्य– कार्यपालिका का सर्वप्रथम कार्य देश की सुरक्षा, आन्तरिक शान्ति तथा व्यवस्था को बनाए रखना और देश के प्रशासन की व्यवस्था सुचारु रूप से संचालित करना है। इसके लिए कार्यपालिका व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानूनों को लागू करती है। कार्यपालिका प्रशासनिक विभागों की स्थापना, कर्मचारियों की नियुक्ति, अधिकार तथा कार्य की व्यवस्था, नियुक्तियाँ तथा विभागों का संचालन करती है। शिक्षा तथा समाज कल्याण के कार्य भी कार्यपालिका द्वारा संचालित किए जाते हैं।

(iii) कानून बनाने संबंधी कार्य– प्रत्येक देश की कार्यपालिका किसी-न-किसी रूप में कानून बनाने की प्रक्रिया में भी भाग लेती है। कार्यपालिका द्वारा ही संसद का अधिवेशन बुलाया जाता है तथा स्थगित व समाप्त किया जाता है। संसदीय शासन में कानून बनाने की प्रक्रिया में मन्त्रिमण्डल की पूर्ण सहभागिता होती है। कार्यपालिका का प्रमुख संसद के प्रथम अधिवेशन में दोनों सदनों को सामूहिक रूप से सम्बोधित करता है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में राष्ट्रपति सन्देश भेजकर या अपने दल के माध्यम से कानून बनाने के कार्य को प्रभावित करता है। संसद द्वारा पारित विधेयकों पर कार्यपालिका स्वीकृति प्रदान करती है। साथ ही संसद के अधिवेशन न होने की स्थिति में कार्यपालिका को अध्यादेश जारी करने का भी अधिकार प्राप्त होता है, जो कानून के समान ही महत्व रखते हैं।

(iv) कूटनीतिक कार्य– कार्यपालिका विभिन्न राष्ट्रों से राजनीतिक संबंध स्थापित करती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का संचालन करती है और युद्ध, शान्ति, सन्धि-समझौता, विदेश नीति, अन्य देशों से संबंध, दूतावासों की स्थापना, राजदूतों की नियुक्ति आदि करती है। विदेशों के साथ राजनीतिक, सैनिक, आर्थिक तथा व्यापारिक सभी प्रकार के समझौते कार्यपालिका सम्पन्न करती है।

(v) न्यायिक कार्य– कार्यपालिका के न्यायिक कार्यों में न्यायाधीशों की नियुक्ति, क्षमादान तथा दण्ड स्थगित करने व कम करने के कार्य आते हैं।

(vi) वित्तीय कार्य– कार्यपालिका बजट का निर्माण करती है तथा उसे अनुमोदन के लिए व्यवस्थापिका के समक्ष प्रस्तुत करती है। वह आय-व्यय का निरीक्षण भी करती है बजट को लागू करती है तथा लेखांकन व लेखा-परीक्षण का कार्य भी सम्पन्न करती हैं।

(vii) अन्य कार्य– इसके अतिरिक्त कार्यपालिका के कुछ अन्य कार्य भी हैं। उपाधियों तथा सम्मान का वितरण करना, विशिष्ट सेवाओं के लिए पुरस्कार प्रदान करना, लोक-हितकारी कार्य करना तथा समस्त राजकीय कार्यों का प्रबन्ध करना कार्यपालिका के कार्यों के अधीन आते हैं। वर्तमान में राज्य के बढ़ते कार्य-क्षेत्र से कार्यपालिका के कार्य भी निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं।

''राज्य के कार्यों की प्रत्येक वृद्धि ने कार्यपालिका के कार्यों और शक्ति में वृद्धि की है।'' **–लिप्सन**

15. न्यायपालिका के कार्य एवं महत्व पर प्रकाश डालिए।

उ०– **न्यायपालिका के प्रमुख कार्य–**

(i) संविधान की सुरक्षा– उच्चतम न्यायालय संविधान का रक्षक है। वह संसद के कानूनों तथा शासक वर्ग के नियमों को यदि वे संविधान के विरुद्ध हों, असंवैधानिक घोषित करता है। भारत और अमेरिका में उच्चतम न्यायालय को संविधान की सुरक्षा के लिए पूरी शक्ति प्रदान कर गई हैं।

(ii) **संघात्मक व्यवस्था का रक्षक–** संघ का गठन कई स्वतंत्र इकाइयों के संगठन द्वारा होता है। शासन की शक्तियों को संघीय सरकार तथा इकाइयों में विभक्त किया जाता है। कभी-कभी संघीय इकाइयों में पारस्परिक संघर्ष तथा इकाइयों व केन्द्र में संघर्ष हो जाता है। इन विवादों को निपटाने के लिए उच्चतम न्यायालय अनिवार्य हैं।

(iii) **न्याय करना–** आज अधिकांश अपराध राज्य के प्रति दोष माने जाते हैं। अत: अभियोगों का निर्णय और न्याय करना न्यायालय का कार्य हैं। यह देश के कानूनों के आधार पर फौजदारी और दीवानी मुकदमों की सुनवाई कर निर्णय देता है जो सभ्य राष्ट्र का प्रथम कर्त्तव्य है।

(iv) **कानूनों की व्याख्या करना–** विभिन्न मामलों में कानूनों की व्याख्या करना तथा उनका अर्थ स्पष्ट करना न्यायपालिका का कार्य है। इन व्याख्याओं को कानूनों के समान ही समझा जाता है।

(v) **अधिकारों का पोषक–** न्यायालय नागरिकों के अधिकारों के रक्षक हैं। ये अधिकार नाममात्र के रह जाते हैं, यदि इनकी सुरक्षा न हों।

''न्यायाधिकारी वर्ग का होना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे वह लोगों के अधिकारों की रक्षा करे और शांति स्थापना के लिए उन लोगों को दंड दे, जो भोले-भाले लोगों पर अत्याचार करते हैं तथा शोषण में लीन है।'' **–सले**

भारत और अमेरिका के उच्चतम न्यायालय नागरिकों के अधिकारों के रक्षक हैं।

(vi) **कानून बनाना–** न्यायपालिका कानून की व्याख्याता मात्र नहीं, बल्कि कानून बनाने वाली भी है। अस्पष्ट उपबन्धों की कानूनी व्याख्या कर वह वास्तविक आशय को स्पष्ट कर देती है। उसकी यह व्यवस्था कभी-कभी कानून का विस्तार भी कर देती है तथा भविष्य के लिए दृष्टान्त भी बन जाती है। जहाँ कानून मौन है, वहाँ न्यायाधीश स्वविवेक से निर्णय देता है। न्यायालय के निर्णय अप्रत्यक्ष रूप से कानून बन जाते हैं।

''न्यायाधीश कानून के निर्माता भी है और व्याख्याकार भी।'' **–डॉ० गिलक्राइस्ट**

''न्यायाधीश कानून बनाने का काम करते हैं और उन्हें ऐसा करना भी चाहिए।'' **–ह्यूज**

(vii) **परामर्श संबंधी कार्य–** न्यायाधीशों को परामर्श संबंधी कार्य भी करने होते हैं। भारत के राष्ट्रपति को सार्वजनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण विषयों में कानूनी परामर्श उच्चतम न्यायालय से लेने का अधिकार प्राप्त है। कनाडा के गर्वनर जनरल तथा अमेरिका के कुछ राज्यों में भी न्यायालयों को यह अधिकार प्रदान किया गया है।

(viii) **प्रशासनिक कार्य–** न्यायालय अपने कर्मचारियों की नियुक्ति करते हैं, न्यायालय की कार्यवाही से संबंधित प्रक्रिया का निर्धारण करते हैं और उन्हें छोटे-छोटे नियमों को लागू करने का अधिकार है।

(ix) **अन्य कार्य–** इसके अतिरिक्त न्यायपालिका को अन्य अधिकार भी प्राप्त हैं जैसे— प्रतिबन्धात्मक आदेश, लेख जारी करना, अपने सम्मान की सुरक्षा, अपने कार्य-संचालन के लिए नियमों का निर्माण, प्रबन्धकर्ता नियुक्त करना, निर्धारित जाँच करना इत्यादि।

न्यायपालिका का महत्व– कानून की व्याख्या न्यायपालिका द्वारा की जाती है, अत: यह सरकार का ही महत्वपूर्ण अंग होता है तथा कानून भंग करने वालों को दण्ड देता है। इसलिए शासन संगठन को बनाए रखने के लिए न्याय विभाग अत्यधिक अनिवार्य है।

''विधानमण्डल की अनुपस्थिति में जो एक समाज की कल्पना की जा सकती है, किन्तु न्यायपालिका के अभाव में एक सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। किसी शासन की सर्वश्रेष्ठता की कसौटी उसके न्याय विभाग की कुशलता है।''

–लार्ड ब्राइस

''सरकार के जितने भी मुख्य कार्य हैं, उनमें नि:सन्देह न्याय सबसे महत्वपूर्ण है ।'' **–मैरियट**

कार्यपालिका तथा विधायिका दोनों ही न्यायपालिका द्वारा मर्यादित किए जाते हैं। उच्चतम न्यायलय कुछ प्रलेखों और विधियों के सहयोग से शासन को सभी स्तरों पर स्थायित्व प्रदान करता है। एक निष्पक्ष तथा स्वतंत्र न्याय-विभाग या न्यायपालिका के बिना किसी सभ्य शासन की कल्पना नहीं की जा सकती है।

'क्योंकि न्यायपालिका जनता के अधिकारों व स्वतंत्रता की रक्षक होती है। यदि न्याय की समुचित व्यवस्था नहीं होगी तो नागरिकों की स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाएगी।'' **–ब्राइस**

''सरकार के जितने भी महत्वपूर्ण कार्य हैं उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य न्याय संबंधी है, जिसका संबंध न्याय से हैं।'' **–मैरियट**

न्यायपालिका राज्य के प्रचलित कानूनों की व्याख्या करती है और यदि कोई व्यक्ति किसी कानून का उल्लंघन करता है तो उस पर विचार करके उस व्यक्ति को उचित दण्ड देती है। प्रत्येक देश में न्यायपालिका कानून और नागरिक अधिकारों की रक्षक होती है। जिन देशों में लिखित एवं अपरिवर्तनशील संविधान है वहाँ पर वह संविधान की संरक्षिका होती है। यदि संसद कोई ऐसा कानून बनाती है जो संविधान के विरुद्ध हो तो न्यायपालिका उसे अवैधानिक घोषित करके रद्द कर सकती है। अत: आधुनिक युग में एक स्वतंत्र एवं प्रभावशाली न्यायपालिका का होना अत्यन्त आवश्यक है।

16. न्यायपालिका के कार्यों का वर्णन कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 15 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

17. न्यायपालिका की स्वतंत्रता क्यों आवश्यक है? इसकी स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए क्या उपाय किए जाने चाहिए?

उ०– **न्यायपालिका की स्वतंत्रता–** वर्तमान प्रजातांत्रिक युग में स्वतंत्र न्यायपालिका की आवश्यकता को अत्यन्त महत्व दिया गया है। स्वतंत्र न्यायपालिका से तात्पर्य है कि यह व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के नियंत्रण से स्वतंत्र रहकर नागरिकों के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन की रक्षा करने में समर्थ हो। न्यायाधीशों के कार्यकाल, वेतन तथा उनके कार्य की दशाओं पर कोई ऐसा नियंत्रण नहीं होना चाहिए जिससे निष्पक्ष न्याय के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा पड़े। यदि न्यायपालिका स्वतंत्र नहीं होगी और उस पर कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका का अनावश्यक अंकुश होगा तो यह आशा करना कि नागरिकों की स्वतंत्रता तथा अधिकारों की रक्षा हो सकेगी, मात्र भ्रम ही होगा। स्वतंत्र न्यायपालिका के महत्व को **डॉ० गार्नर** ने निम्नवत् स्पष्ट किया है, ''यदि न्यायाधीशों में प्रतिभा, सत्यता और निर्णय देने की स्वतंत्रता न हो तो न्यायपालिका का वह सारा ढाँचा खोखला प्रतीत होगा और उस उद्देश्य की प्राप्ति न हो सकेगी जिसके लिए उसका निर्माण किया गया है।''

स्पष्ट है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति, उनके कार्यकाल, वेतन तथा पद की सुरक्षा पर जब शासन के अन्य किसी भी अंग का अंकुश नहीं होता है तो उसे स्वतंत्र न्यायपालिका की संज्ञा दी जाती है।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता को बनाए रखने के उपाय– न्यायपालिका की स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए निम्न उपाय अपनाये चाहिए–

(i) पर्याप्त वेतन– ब्राइस का कथन है कि न्यायाधीश की पवित्रता और योग्यता, ईमानदारी और स्वतंत्रता उसके पद की सम्भावित उन्नति एवं आकर्षणों पर निर्भर करती है। कम वेतन पाने वाला न्यायाधीश अवश्य ही अनैतिक साधनों की ओर आकर्षित होगा। योग्य और ईमानदार व्यक्ति कभी भी कम वेतन पर कार्य करने के लिए तैयार नहीं होगा।

ऐसी स्थिति में न केवल न्यायाधीश के मन में पद के प्रति आस्था बनी रहेगी, अपितु योग्य व्यक्ति भी इस क्षेत्र की ओर आकर्षित होंगे। साथ ही यह व्यवस्था भी होनी चाहिए कि कार्यकाल के मध्य में वेतन तथा सेवा-शर्तों में कोई कटोती न की जाए।

(ii) कानून की उच्च योग्यता आवश्यक– उच्चतम योग्यता वाला न्यायाधीश ही अपने विचार स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट करने की क्षमता रखता है। अयोग्य न्यायाधीश सदैव योग्य अधिवक्ताओं की कठपुतली बन जाता है। वह अपनी स्वतंत्रता भी बनाए रखने में असमर्थ हो जाता है क्योंकि बाहरी प्रभाव उस पर हावी होने लगते है। भारत में उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश वही बन सकता है, जो पाँच वर्ष उच्च न्यायालय में न्यायाधीश के पद पर कार्य कर चुका हो या दस वर्ष तक उच्च या उच्चतम न्यायालय में एडवोकेट रहा हो या वह देश का ख्यातिप्राप्त न्यायवेत्ता या विधिशास्त्र का ज्ञाता हो। अमेरिका में यद्यपि संघीय न्यायाधीशाों की योग्यता सीमांकित नहीं है, फिर भी उन्हें न्याय व कानून का पूर्ण ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

(iii) निष्पक्ष तथा योग्य न्यायाधीशों की नियुक्ति– न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए यह आवश्यक है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति इस प्रकार की जाए कि वे अपनी स्वतंत्रता को बनाए रख सकें, साथ ही योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति हो सके।

स्विट्जरलैण्ड के कुछ कैण्टनों तथा अमेरिका के कुछ राज्यों में न्यायाधीशों को प्रत्यक्ष रूप से जनता चुनती है। इससे योग्य व्यक्ति न्यायाधीश नहीं बन पाते हैं ओर चयनित न्यायाधीश राजनीतिक दलबन्दी का शिकार हो जाते हैं।

यह प्रणाली काफी समय तक अमेरिका के राज्यों में भी प्रचलित रही। इससे न्यायाधीश का पद राजनीतिक हो जाता है तथा न्यायाधीश व्यवस्थापिका के हाथों की कठपुतली बन जाते हैं।

''यदि व्यवस्थापिका न्यायाधीशों को निर्वाचित करेगी तो न्यायपालिका में प्रशासन की प्राप्ति और उस साध्य की पूर्ति के लिए ऐसे विभिन्न अवसर और प्रलोभन उपस्थित होंगे, जब षड्यंत्र, दलीय गर्व और केवल स्थानीय हित की भावना का ही बोलबाला रहेगा।'' **–कैण्ट**

इस तरह दोनों पद्धतियों के गलत होने पर एक ही पद्धति शेष रह जाती है– कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति। विश्व के लगभग सभी देशों में उच्च तथा सर्वोच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका का अध्यक्ष करता है। यह पद्धति अन्य पद्धतियों की तुलना में श्रेष्ठ है। इस पद्धति से न्यायपालिका स्वतंत्र रह सकती है।

(iv) कार्यकाल की सुरक्षा– पदावधि की सुरक्षा न्यायपालिका की स्वतंत्रता को बनाए रखने की आवश्यक शर्त है। यह ठीक है कि ईमानदारी और सदाचार उसकी पदावधि की सुरक्षा करते हैं। यह तभी सम्भव हो सकता है, जबकि न्यायाधीश को पद से हटाने की प्रक्रिया जटिल हो। इंग्लैण्ड में न्यायाधीश को पद से तभी हटाया जा सकता है, जब संसद प्रस्ताव पारित कर राजा से प्रार्थना करे। भारत में कदाचार या असमर्थता के आधार पर संसद के साधारण बहुमत द्वारा और उपस्थित व मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित प्रस्ताव पारित होने पर न्यायाधीश को पद से हटाया जा सकता है, इसलिए ईमानदार तथा सदाचारी न्यायाधीश स्वतंत्रतापूर्वक अपने पद पर कार्य करते रहते हैं।

(v) न्यायपालिका का कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका से पृथक्करण– न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए यह आवश्यक है कि उसे कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका से पृथक रखा जाए। यदि कार्यपालिका और न्यायपालिका शक्तियों

को किसी भी स्तर पर मिलने देंगे, तो निरंकुशता का भय व्याप्त हो जाएगा तथा स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाएगी। इसी कारण भारत के संविधान के नीति-निदेशक तत्वों में स्पष्ट कर दिया गया है कि न्यायपालिका तथा कार्यपालिका का पृथक्करण किया जाएगा। इसी भावना की पूर्ति के लिए सभी राज्यों में कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के अधिकारी पृथक-पृथक किए गए हैं। अमेरिका में सर्वोच्च न्यायलय को राष्ट्रपति की शक्तियों से बाहर रखने का पूरा प्रयत्न किया गया है। न्यायपालिका पर विधायिका का नियंत्रण अथवा हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए अन्यथा न्यायाधीश स्वतंत्र व निष्पक्ष रूप से न्याय नहीं कर सकेंगे।

(vi) लम्बी पदावधि या कार्यकाल– न्यायपालिका की स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए यह भी आवश्यक है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति लम्बे समय के लिए की जाए। अल्पावधि होने पर वे पुन: पद प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे और उनके प्रभावित होने के अवसर बढ़ जाएँगे। न्यायाधीश को तब तक अपने पद पर बने रहने देना चाहिए जब तक कि वह अपनी प्रतिष्ठा तथा ईमानदारी का प्रमाण देता रहे। ऐसा न्यायाधीश, जो सदाचार और ईमानदारी का प्रमाण देता हुआ दीर्घकाल तक पद पर रहता है, लोकहितकारी राज्य के लिए आवश्यक है। ऐसा न्यायाधीश स्वतंत्र रूप से कार्य करता रहता है और उसे अपनी पदावधि का भय नहीं रहता। अमेरिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति सदाचार के आधार पर आजीवन होती है। भारत में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की सेवानिवृत्ति की आयु 65 वर्ष है।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता का संक्षेप में विवेचन **विलोबी** के इन शब्दों में किया जा सकता है— ''न्यायाधीशों की नियुक्ति किसी दलीय वचनबद्धता के आधार पर नहीं होनी चाहिए। एक बार नियुक्त हो जाने के बाद उनकी पदावधि जीवनपर्यन्त या सदाचार पर्यन्त होनी चाहिए। वे पदच्युति के संबंध में कार्यपालिका के अधीन नहीं होने चाहिए। उन्हें दुराचारी होने पर अभियोग द्वारा अथवा विधानमण्डल के दोनों सदनों द्वारा प्रस्तुत निवेदन पर ही हटाया जाना चाहिए। उनके सेवाकाल में उनके वेतन को न तो रोका जाना चाहिए और न ही कम किया जाना चाहिए।

18. आधुनिक लोकतंत्र में न्यायपालिका के कार्य तथा महत्व समझाइए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—15 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

19. स्वतंत्र न्यायपालिका क्या है? न्यायपालिका की स्वतंत्रता सुरक्षित करने के लिए कौन-कौन से उपाय किए जाते हैं?

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 17 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

20. कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका के पारस्परिक संबंधों की विवेचना कीजिए।

उ०– व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में संबंध– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—5 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

व्यवस्थापिका और न्यायपालिका में संबंध– व्यवस्थापिका और न्यायपालिका सरकार के दो प्रमुख अंग हैं। इनका पारस्परिक संबंध निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट किया जा सकता हैं—

(i) न्यायपालिका व्यवस्थापिका द्वारा बनाए गए कानूनों की व्याख्या कर सकती है, किन्तु उनमें संशोधन नहीं कर सकती है।

(ii) न्यायपालिका व्यवस्थापिका के ऐसे किसी भी कानून को अवैधानिक घोषित कर सकती है, जो संविधान के अनुच्छेदों की भावनाओं का पालन न करता हो।

(iii) व्यवस्थापिका न्यायपालिका के निर्णयों का न तो विरोध कर सकती है और न ही वाद-विवाद कर सकती है। भारत में ऐसे अनेक उदाहरण विद्यमान है, जैसे— शाहबानो का मामला, दिल्ली में सीलिंग का मामला आदि।

(iv) व्यवस्थापिका कदाचार या भ्रष्टाचार के आरोप के आधार पर न्यायाधीशों की पदच्युति का प्रस्ताव पारित कर सकती है, लेकिन उन्हें दण्डित करने का अधिकार उसे प्राप्त नहीं है।

(v) न्यायपालिका व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानूनों के अनुसार ही निर्णय देती है, किन्तु कभी-कभी न्यायपालिका को स्वविवेक से भी निर्णय देना पड़ता है।

कार्यपालिका और न्यायपालिका में संबंध– लोकतंत्र की सफलता के लिए कार्यपालिका और न्यायपालिका को एक-दूसरे से पृथक रहना आवश्यक माना जाता है, किन्तु व्यवहार में इनका पारस्परिक संबंध घनिष्ठ होता है, क्योंकि न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार कार्यपालिका के हाथ में ही होता है। इन दोनों का संबंध निम्नलिखित रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है—

(i) कार्यपालिका व्यवस्थापिका द्वारा बनाए गए कानूनों को लागू करती है और न्यायपालिका कानूनों का उल्लंघन करने वालों को दण्डित करती है तथा शक्ति का अतिक्रमण करने से कार्यपालिका को रोकती है।

(ii) न्यायपालिका के दण्डात्मक निर्णयों का कार्यान्वयन कार्यपालिका ही करती है।

(iii) न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका के प्रधान द्वारा ही की जाती है।

(iv) न्यायपालिका के निर्णयों की आलोचना करने का अधिकार कार्यपालिका को नहीं है।

(v) न्यायपालिका कार्यपालिका के भ्रष्ट कर्मचारियों को भी दण्डित करने का अधिकार रखती है तथा कर्त्तव्यविमुख होने की अवस्था में किसी भी विभाग के विभागाध्यक्ष से आख्या माँग सकती है तथा तत्संबंधित आदेश दे सकती है।

6

जनमत
(Public Opinion)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 98-99 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 99 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. लोकमत की कोई दो विशेषताएँ बताइए।

उ०– लोकमत (जनमत) की दो विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) लोकमत एक ऐसा मत है, जो तर्क पर आधारित है और जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण समाज का हित होता है।

(ii) लोकमत सदैव निष्पक्ष होता है। यदि कोई मत स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से प्रभावित हो, तो बहुसंख्यक का मत होने पर भी वह जनमत नहीं बन सकता है।

2. स्वस्थ लोकमत के निर्माण में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया (टी०वी० चैनल आदि) की भूमिका का परीक्षण कीजिए।

उ०– स्वस्थ लोकमत के निर्माण में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया (रेडियो, सिनेमा, टी०वी० चैनल आदि) भी पर्याप्त सहयोग देता है। रेडियो एवं टी०वी० चैनलों पर समाचारों के प्रसारण के साथ-साथ देश के प्रमुख नेताओं के मत एवं भाषण प्रसारित किए जाते हैं। महत्वपूर्ण विषयों पर संगोष्ठियों और परिचर्चाओं आदि का प्रसारण भी प्रबुद्ध जनमत का निर्माण करता है। इस प्रकार साधारण जनता बड़ी सरलता से देश के बड़े नेताओं और विद्वानों के विचारों से अवगत हो जाती है और अपना मत (लोकमत) निर्धारित करने का प्रयास करती है।

3. जनमत-निर्माण के चार साधनों का उल्लेख कीजिए।

उ०– जनमत-निर्माण के चार साधन निम्नवत् हैं—

(i) समाचार-पत्र एवं पत्र-पत्रिकाएँ

(ii) राजनीतिक साहित्य

(iii) शिक्षण संस्थाएँ

(iv) जन संचार के साधन

4. स्वस्थ जनमत-निर्माण में कौन-सी बाधाएँ आती हैं?

उ०– स्वस्थ जनमत के निर्माण में निम्नलिखित बाधाएँ आती हैं—

(i) स्वतंत्रता का अभाव

(ii) राजनीतिक जागरूकता में कमी

(iii) अज्ञानता एवं निरक्षरता

(iv) राष्ट्र प्रेम का अभाव

(v) राजनीतिक दलों का संकुचित दृष्टिकोण

(vi) आर्थिक असमानता

(vii) साम्प्रदायिक, क्षेत्रीय तथा जातीय भावनाएँ

(viii) अधिनायकतंत्रीय शासन-प्रणाली

(ix) रूढ़िवादी दृष्टिकोण

(x) स्वार्थ की प्रमुखता

5. स्वस्थ जनमत के लिए दो आवश्यक शर्तों का उल्लेख कीजिए।

उ०– स्वस्थ जनमत के लिए दो आवश्यक शर्तें निम्नवत् हैं—

(i) साम्प्रदायिकता का अन्त– लोकमत (जनमत) के लिए आवश्यक है कि जनता अपने जीवन से संकुचित और साम्प्रदायिक भावनाओं को निकालकर बाहर कर दे। जनता का दृष्टिकोण व्यापक होना चाहिए और उसमें राष्ट्रीय प्रश्नों को व्यापक दृष्टिकोण से समझने की क्षमता होनी चाहिए।

(ii) बहुमत की न्यायप्रियता– यदि बहुमत स्वार्थी तथा अल्पमत विद्रोही है तो जनमत का स्वरूप ही नष्ट हो जाएगा। स्वस्थ जनमत के लिए आवश्यक है कि बहुमत वर्ग में न्यायशीलता की प्रवृत्ति हो तथा अल्पसंख्यक वर्ग भी बहुमत के निर्णय को स्वीकार करने में तत्पर हो।

6. जनमत के महत्व (भूमिका) को संक्षेप में बताइए।

उ०– सामान्य रूप में सभी शासन व्यवस्थाओं में जनमत अथवा लोकमत की अहम भूमिका होती है परन्तु जनतंत्र अथवा लोकतंत्र में इसका विशेष महत्व है। जनतांत्रिक शासन जनमत से ही अपनी शक्ति प्राप्त करता है तथा उसी पर आधारित होता है। इसलिए जनमत को जनतंत्र का आधार भी कहा जाता है। संगठित जनमत ही जनतंत्र की सफलता तथा सार्थकता का आधार है।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. **जनमत से आप क्या समझते हैं? स्वस्थ जनमत के निर्माण की आवश्यक दशाओं का वर्णन कीजिए।**

उ०– **जनमत–** जनमत सार्वजनिक मामलों पर जनता का मत है, जो विवेक और स्वार्थ रहित बुद्धि के आधार पर अवलम्बित हो और जिसका लक्ष्य किसी जाति या धर्म विशेष का ही हित नहीं, बल्कि सम्पूर्ण समाज का हित हो। वास्तव में जनमत वह शक्ति होती है, जो राज्य के संगठन में पथ-प्रदर्शक और निर्देशक का कार्य करती है और जो राजनीतिक व्यवस्था को भी परिवर्तित कर सकती है।

स्वस्थ जनमत के निर्माण हेतु आवश्यक परिस्थितियाँ– स्वस्थ जनमत के निर्माण में विशेष अवस्थाओं की आवश्यकता पड़ती है। स्वस्थ जनमत के निर्माण में जो बाधाएँ आती हैं उनको दूर करके सही अवस्थाओं को उत्पन्न किया जा सकता है। ऐसा करने के लिए निम्नलिखित परिस्थितियाँ आवश्यक हैं—

(i) **स्वतंत्र प्रेस–** प्रेस और समाचार पत्र जनमत निर्माण के महत्वपूर्ण साधन होते हैं, किन्तु इनके द्वारा जनमत निर्माण का यह कार्य उसी समय ठीक प्रकार से किया जा सकता है जबकि प्रेस पूर्णतया स्वतंत्र हो। समाचार-पत्रों पर सरकारी एवं गैर-सरकारी किसी प्रकार का दबाव नहीं होना चाहिए और उन्हें सार्वजनिक समस्याओं, सरकार के कार्यों, राजनीतिक दलों की नीतियों और उनके कार्यक्रमों पर निष्पक्षतापूर्वक विचार करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। **वेण्डल विल्की** ने ठीक ही लिखा है कि, ''समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता सच्चे लोकमत का जीवन ही है।''

(ii) **स्वस्थ और सुदृढ़ राजनीतिक दल–** आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों पर आधारित केवल ऐसे राजनीतिक दलों को स्वस्थ कहा जा सकता है। जो दल किसी एक वर्ग या सम्प्रदाय से संबंधित न हों और जिनका उद्देश्य सम्पूर्ण राज्य का कल्याण हो। जाति, भाषा, धर्म और क्षेत्रीयता के भेदों पर आधारित राजनीतिक दल तो लोकमत के निर्माण में बाधा का ही कार्य करता हैं। केवल स्वस्थ राजनीतिक दल ही जनता को स्वस्थ राजनीतिक शिक्षण प्रदान कर लोकमत के आधार रूप में कार्य कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त राजनीतिक दल अच्छे प्रकार से संगठित होने चाहिए क्योंकि असंगठित विचारधाराएँ और कार्यक्रम लोकमत निर्माण में सहायक नहीं हो सकते। स्वस्थ लोकमत के निर्माण की दृष्टि से इन दलों की संख्या भी बहुत अधिक नहीं होनी चाहिए।

(iii) **जागरूक व सुशिक्षित जन-समुदाय–** जनसाधारण यदि सुशिक्षित व समझदार है तो स्वस्थ लोकमत का निर्माण सुगम होगा अन्यथा अज्ञानी व मूर्ख जनता के मध्य स्वस्थ लोकमत की कल्पना करना भी असम्भव है।

(iv) **आर्थिक समानता–** अशिक्षा के बाद निर्धनता लोकमत के निर्माण में दूसरी बड़ी बाधा है। इस बाधा को दूर करने के लिए राज्य के द्वारा सभी व्यक्तियों के लिए आर्थिक समानता अर्थात् उनको भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधाओं का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। जब बहुसंख्यक जनता बहुत अधिक निर्धन होती है तो उसका धर्म, ईमान और राजनीति सब कुछ रोटी तक ही सीमित हो जाता है और उसके पास सार्वजनिक समस्याओं के संबंध में सोचने के लिए समय और शक्ति नहीं रहती। वस्तुत: धनिकों का अत्यधिक धन और निर्धनों की निर्धनता लोकमत के निर्माण में बाधक हो जाती है। अत: स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए गम्भीर आर्थिक भेदों का अन्त किया जाना चाहिए और सभी व्यक्तियों के लिए आर्थिक समानता की व्यवस्था की जानी चााहिए।

(v) **राष्ट्रीय आदर्शों के संबंध में एकता–** मानव एक विवेकशील प्राणी है और इसलिए प्रशासन से संबंधित दैनिक समस्याओं के संबंध में मतभेद होना नितान्त स्वाभाविक हैं, लेकिन जनता में आधारभूत राष्ट्रीय आदर्शों के संबंध में आवश्यक रूप से एकता नहीं होनी चाहिए। राज्य के शासन का रूप, उद्देश्य आदि स्थायी प्रकृति की बातों के संबंध में मतभेद होने पर स्वस्थ लोकमत का विकास सम्भव नहीं होगा।

(vi) **साम्प्रदायिकता का अन्त–** लोकमत के निर्माण के लिए यह भी आवश्यक है कि जनता अपने जीवन से संकुचित और साम्प्रदायिक भावों को निकालकर बाहर कर दें। जनता का दृष्टिकोण उदार होना चाहिए और उसमें राष्ट्रीय प्रश्नों को व्यापक दृष्टिकोण से समझने की क्षमता होनी चाहिए।

(vii) **बहुमत की न्यायप्रियता–** यदि बहुमत स्वार्थी तथा अल्पमत विद्रोही है तो लोकमत का स्वरूप ही नष्ट हो जाएगा। स्वस्थ लोकमत के लिए आवश्यक है कि बहुमत वर्ग में न्यायशीलता की प्रवृत्ति हो तथा अल्पसंख्यक वर्ग भी बहुमत के निर्णय को स्वीकार करने में तत्पर हो।

(viii) **विचार, अभिव्यक्ति और संगठन आदि की स्वतंत्रता–** विचारों का आदान-प्रदान ही लोकमत के निर्माण की एकमात्र प्रक्रिया है, अत: नागरिकों को स्वतंत्रापूर्वक विचार करने और अपने विचारों को व्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। विचार और अभिव्यक्ति के संबंध में सदैव तत्पर रहना चाहिए। नागरिकों को अपने विचारों के प्रचार व प्रसार के लिए संगठनों के निर्माण व सम्मेलन की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

(ix) **शान्तिपूर्ण वातावरण–** यदि वातावरण में अशान्ति व बर्बरता है तो स्वस्थ जनमत का निर्माण सम्भव नहीं है। ये तभी सम्भव है जबकि, आन्तरिक व ब्रह्म दृष्टि से शान्ति व सद्‌भाव का वातावरण हो। युद्ध व उत्तेजना के वातावरण में इसकी सम्भावनाएँ नगण्य होती है।

2. जनमत क्या है? भारतीय राजनीति में इसकी भूमिका का विवेचन कीजिए।

उ०– **जनमत–** जनमत जनता के बहुसंख्यक भाग का ऐसा मत है, जो सम्पूर्ण समाज के हितों के अनुकूल होता है।

भारतीय राजनीति में जनमत की भूमिका– सामान्य रूप से सभी शासन व्यवस्थाओं में लोकमत अथवा जनमत की अहम भूमिका होती है परन्तु जनतंत्र अथवा प्रजातंत्र में इसका विशेष महत्व होता है। प्रजातांत्रिक शासन जनमत से ही अपनी शक्ति प्राप्त करता है तथा उसी पर आधारित होता है। इसीलिए जनमत को जनतंत्र का आधार भी कहा जाता है। संगठित जनमत की जनतंत्र की सफलता तथा सार्थकता की आधारशिला है।

''लोकतांत्रिक शासन की सफलता और जनमत की सबलता इस बात पर निर्भर करती है कि जनमत सरकार के कार्यों और नीतियों को किस सीमा तक नियन्त्रित करता है।'' **–गैटिल**

जनतंत्र में जनमत की भूमिका को निम्नलिखित आधारों पर स्पष्ट किया जा सकता है—

(i) शासन की निरंकुशता पर नियंत्रण– जनतंत्र में शासन की निरंकुशता पर जनमत के द्वारा नियन्त्रण रखने का कार्य किया जाता है। जनतंत्र में सरकार को स्थायी बनाने के लिए जनमत के समर्थन तथा सहमति की आवश्यकता होती है। जनमत के बल पर सरकारें बनती तथा बिगड़ती हैं।

(ii) सरकारी अधिकारियों पर नियंत्रण– जनमत द्वारा सरकारी अधिकारियों की आलोचना से उन पर नियन्त्रण रखा जाता है।

(iii) सरकार का पथ-प्रदर्शन– जनतंत्र में जनमत सरकार का पथ-प्रदर्शन करता है। जनमत से सरकार को इस बात की जानकारी होती है कि जनता किस प्रकार की व्यवस्था चाहती है तथा उसके हित में किस प्रकार के कानूनों का निर्माण किया जाए।

(iv) सरकार का निर्माण और पतन– जनमत जनतंत्र का आधार है। जनतंत्र में सरकार का निर्माण और पतन जनमत पर ही निर्भर करता है। जनमत का सम्मान करने वाला दल सत्ता प्राप्त करता है तथा पुन: सत्ता प्राप्त करने का अवसर बनाए रखता है। जनमत की अवहेलना करने पर शासक दल का स्थान विरोधी दल ले लेता है।

''जनमत एक प्रबल सामाजिक शक्ति है, जिसकी अवहेलना करने वाला राजनीतिक दल स्वयं अपने लिए संकट आमन्त्रित करता है।'' **–ई०बी० शुल्ज**

(v) जनता और सरकार में समन्वय– जनमत जनता और सरकार के विचारों में समन्वय स्थापित करने की एक कड़ी है।

(vi) नागरिक अधिकारों का रक्षक– जनमत नागरिकों के अधिकारों और स्वतंत्रता का भी रक्षक होता है। जागरूक और सचेत जनमत शासक वर्ग को जनता के विचारों से परिचित रखता है। इस प्रकार जनमत नागरिकों के अधिकारों और स्वतंत्रता की रक्षा करता है। स्वतंत्रता तथा अधिकारों की रक्षा के लिए प्रबल जागरूक जनमत की आवश्यकता होती है।

(vii) राजनीतिक जागरूकता उत्पन्न करना– जनमत नागरिकों में राजनीतिक जागरूकता उत्पन्न करता है। जनमत से प्रेरित राजनीतिक जागरूकता ही जनतंत्र का वास्तविक आधार होती है। जनमत द्वारा ही जन-सहयोग प्राप्त किया जाता है।

(viii) नैतिक तथा सामाजिक व्यवस्था की रक्षा– जनमत का सामाजिक क्षेत्र में भी अत्यधिक महत्व है। जनमत नैतिक तथा सामाजिक व्यवस्था की रक्षा करता है और नागरिकों का ध्यान महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्नों तथा समस्याओं की ओर आकृष्ट करता है।

(ix) स्वार्थी राजनीतिज्ञों पर नियंत्रण– जनमत स्वार्थी तथा बेईमान राजनीतिज्ञों और नेताओं पर भी नियंत्रण बनाए रखता है।

(x) विभिन्न संस्थाओं को कर्त्तव्य की चेतावनी– जनमत विभिन्न सामाजिक संस्थाओं को उनके वास्तविक कर्त्तव्य की चेतावनी देता रहता है, जिसके कारण उनमें स्वार्थपरता तथा संकीर्णता नहीं आ पाती है।

(xi) नवीन कार्यक्रमों और योजनाओं की सफलता– लोकतंत्र के अन्तर्गत शासन द्वारा जिन नए कार्यक्रमों और योजनाओं को अपनाया जाता है, उनकी सफलता जन-सहयोग एवं जनमत पर ही निर्भर करती है।

(xii) क्रान्ति से सुरक्षा– जनतंत्र में जनमत का निर्माण होता है। जनमत के निर्माण में विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का होना आवश्यक है। इस अधिकार के कारण सरकार जनमत की भावनाओं के अनुरूप अपनी गतिविधियों को परिवर्तित करती रहती है, जिससे क्रान्ति की सम्भावनाएँ कम-से-कम रहती हैं। निरंकुश-तंत्र में जनमत की अभिव्यक्ति पर प्रतिबन्ध होता है, अत: ऐसे शासन के विरुद्ध क्रान्ति हो सकती है।

3. जनमत निर्माण के प्रमुख साधनों का वर्णन कीजिए।

उ०– **जनमत निर्माण के प्रमुख साधन–** जनमत की अभिव्यक्ति एवं उसे बनाने की दिशा में अनेक साधन सहायक होते हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित हैं—

(i) शिक्षण संस्थाएँ– जनमत बनाने में शिक्षण संस्थाएँ भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं। शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति लोकहित का महत्व समझ चुका होता है तथा स्वयं स्वस्थ एवं प्रबुद्ध जनमत पैदा करने योग्य हो जाता है। शिक्षण संस्थाओं में अनेक समाचार-पत्र व पत्रिकाएँ आती हैं, जिन्हें विद्यार्थी पढ़ते हैं तथा विभिन्न घटनाओं के संबंध में विचार-विमर्श करते हैं एवं नवीन जानकारियाँ प्राप्त करते हैं। शिक्षण संस्थाओं में प्रमुख राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर सेमिनार, सिम्पोजियम तथा वाद-विवाद प्रतियोगिताओं का आयोजन भी किया जाता है।

(ii) **जन-संचार के साधन–** रेडियो, सिनेमा, टेलीविजन, दूरसंचार की आधुनिक प्रणालियाँ और कम्प्यूटर-प्रणाली में जो विचार-विमर्श होता है, उससे भी जनमत के रुझान का पता लगाने में सहयोग मिलता है। रेडियो एवं टेलीविजन पर समाचारों के प्रसारण के साथ-साथ देश के प्रमुख नेताओं के मत एवं भाषण प्रसारित किए जाते हैं। महत्वपूर्ण विषयों पर संगोष्ठियों,परिचर्चाओं आदि का प्रसारण भी प्रबुद्ध जनमत का निर्माण करता है। इस प्रकार साधारण जनता बहुत सरलता से देश के बड़े नेताओं और विद्वानों के विचारों से अवगत हो जाती है और अपना मत (जनमत) निर्धारित करने का प्रयास करती है।

(iii) **समाचार-पत्र एवं पत्रिकाएँ–** समाचार-पत्र एवं पत्रिकाएँ जनमत को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। इनमें देश-विदेश की नीतियों, घटनाओं, शासन व्यवस्थाओं का वर्णन करता है, जिन्हें पढ़कर जनता अपना मत निर्धारित करती है। इस प्रकार समाचार-पत्र व पत्रिकाएँ साधारण जनता के लिए मार्गदर्शक का कार्य करती हैं।

(iv) **राजनीतिक साहित्य–** जनमत पैदा करने एवं जनमत को व्यक्त करने की दृष्टि से राजनीतिक साहित्य भी एक अच्छा साधन है। अनेक राजनीतिक दल अपनी विचारधारा नीतियों तथा देश की सामाजिक समस्याओं को प्रकट करने के लिए राजनीतिक साहित्य का प्रकाशन करते हैं। ऐसे साहित्य में निर्वाचन से पहले प्रकाशित होने वाले घोषणा-पत्रों का विशेष महत्व होता है क्योंकि जनता उनके माध्यम से दलों की नीतियों एवं योजनाओं से परिचित होकर अपना मत निश्चित करने में सफल होती है। यह मत अन्ततोगत्वा जनादेश या जनमत का निर्माण करता है।

(v) **व्यवस्थापिका सभाएँ–** व्यवस्थापिका सभाओं में जो वाद-विवाद होता है, उससे केवल जनमत बनाने में ही सहायता नहीं मिलती है, बल्कि जनमत की अभिव्यक्ति में भी सहायता मिलती है।

(vi) **धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक समुदाय–** सांस्कृतिक समुदाय भी लोगों को बहुत प्रभावित करते हैं। ऐसे समुदाय विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं। कार्यक्रम प्रस्तुत करने की पृष्ठभूमि में उनका मुख्य उद्देश्य जनता पर ऐसा प्रभाव छोड़ना होता है, जिससे जनता दृढ़ एवं बुद्धिमत्ता पूर्ण जनमत तैयार करने में सफल हो सके। प्राय: प्रत्येक उन्नतिशील देश में इस प्रकार के समुदाय होते हैं। सांस्कृतिक समुदायों के अतिरिक्त धार्मिक एवं आर्थिक समुदाय भी जनमत बनाने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। उदाहरण के लिए भारत में **आर्य समाज** तथा **ब्रह्म समाज** जैसे समुदायों ने समाज की कुरीतियों के विरुद्ध जनमत एकत्र करने में बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया।

(vii) **भाषण व सार्वजनिक सभाएँ–** कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिन्हें प्रेस या पूर्ववर्णित साधनों में से किसी की भी सुविधा नहीं मिलती है, ऐसे व्यक्ति सार्वजनिक स्थलों पर शीर्षस्थ नेताओं के भाषण सुनकर सार्वजनिक विषयों पर स्वयं विचार-विमर्श कर सकने में समर्थ होते हैं और स्वस्थ अर्थात् उचित जनमत तैयार करने में भी सफल होते हैं।

(viii) **प्रचार और अफवाहें–** आज के युग में प्रचार और अफवाहों का महत्व भी तेजी से बढ़ता जा रहा है। प्रचार कार्य द्वारा सरकार अपनी नीतियों और कार्यक्रमों को जनता के समक्ष रखती है। अफवाहें भी प्रचार कार्य करती हैं। अनेक बार अफवाहें फैलाकर जनता को गलत मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न किया जाता है। अफवाहों के पीछे कोई स्वार्थ निहित होता है। नि:सन्देह अफवाहें अनेक अवसरों पर खतरनाक सिद्ध हो सकती हैं।

(ix) **निर्वाचन–** निर्वाचन के अवसर पर सभी राजनीतिक दल प्रसार के समस्त साधनों द्वारा जनमत को अपने-अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुत: निर्वाचन के अवसर पर जनमत का बनना अपेक्षाकृत अधिक तीव्र गति से होता है।

(x) **राजनीतिक दल–** राजनीतिक दल भी एक प्रगतिशील जनमत बनाने में सहायक होते हैं।
''जनमत को प्रशिक्षित करने, उसके निर्माण और अभिव्यक्ति में राजनीतिक दलों द्वारा अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है।''
–लार्ड ब्राइस

4. जनतंत्र के प्रहरी के रूप में जनमत के महत्व (भूमिका) पर प्रकाश डालिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—2 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

5. 'जनमत के निर्माण व प्रकट करने के साधन' पर टिप्पणी लिखिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—3 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

6. जनमत से आप क्या समझते हैं? स्वस्थ जनमत के निर्माण में आने वाली प्रमुख बाधाओं का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उ०– **जनमत–** साधारणतया जनमत का अर्थ जनता का मत है। किन्तु वास्तविक रूप में जनमत का अर्थ जनता के उस मत से होता है, जो समाज के हित या समाज को प्रभावित करने वाले विषयों के संबंध में होता है।

स्वस्थ जनमत के निर्माण में बाधाएँ– जनमत बनाने के मार्ग में आने वाली प्रमुख बाधाएँ इस प्रकार हैं—

(i) **स्वतंत्रता का अभाव–** राष्ट्रीय भावना का विकास अवरुद्ध होने का एक अन्य कारण यह है कि जनसाधारण को मौलिक अधिकारों का उपभोग करने की सुविधा प्राप्त न हो। विशेष रूप से तब, जब उन्हें विचाराभिव्यक्ति की स्वतंत्रता न हो।

(ii) **राजनीतिक जागरूकता में कमी–** आदर्श जनमत के निर्माण में सबसे बड़ी आवश्यकता जनसाधारण में राजनीतिक जागरूकता की कमी होती है। राजनीतिक जागृति के अभाव के कारण व्यक्ति राजनीतिक समस्याओं को समझने में असमर्थ हो जाते हैं।

(iii) निरक्षरता– अनपढ़ अथवा अशिक्षित लोगों में जनमत बनाना कठिन होता है, क्योंकि उनका मस्तिष्क विकसित नहीं होता है। इसलिए निरक्षरता जनमत के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है।

(iv) राष्ट्र-प्रेम का अभाव– स्वार्थ की भावना उन लोगों में प्रमुख होती है जिनमें राष्ट्रीय भावनाओं का विकास नहीं हो पाता है। राष्ट्रीय भावना के कारण मानव में सकीर्ण मनोवृत्तियाँ जन्म लेने लगती हैं। ऐसी प्रवृत्तियाँ स्वस्थ लोकमत के निर्माण में बाधक हैं।

(v) राजनीतिक दलों का संकुचित दृष्टिकोण– यदि राजनीतिक दलों का गठन स्वार्थ के आधार पर किया जाता है और राजनीतिक दलों से लोकहित की पूर्ति नहीं होती है, तो लोकमत के कार्य में बाधा उत्पन्न होती है। संकुचित विचार वाले राजनीतिक दलों के कारण साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता आदि सामाजिक दोषों में वृद्धि होती है, जिसके परिणामस्वरूप निष्पक्ष लोकमत बनना सम्भव नहीं है।

(vi) आर्थिक असमानता– निर्धनता, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी तथा आर्थिक उत्पीड़न के लिए उत्तरदायी समाज में व्याप्त आर्थिक असमानता ही है। निर्धनता सभी प्रकार के अवगुणों की जननी है। यदि देश के नागरिक निर्धन होंगे तो भ्रष्टाचार तथा अनैतिकता अनिवार्य रूप से जनता के चरित्र को गिराएगी और कुशल जनमत नहीं बनने देगी।

(vii) साम्प्रदायिक, क्षेत्रीय तथा जातीय भावनाएँ– यदि नागरिकों में साम्प्रदायिक अथवा जातीय, क्षेत्रीय भावनाएँ व्याप्त होती है तो स्वस्थ एवं प्रबुद्ध जनमत का बनना सम्भव नहीं हैं क्योंकि ये भावनाएँ व्यक्ति के विचारों तथा चिन्तन को संकीर्ण कर देती हैं।

(viii) अधिनायकतंत्रीय शासन-प्रणाली– जिन देशों में स्वेच्छाचारी आर निरंकुश शासन होता है, उन देशों में बहुदलीय व्यवस्था की उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इस प्रणाली में नागरिकों को स्वतंत्र विचारों को प्रकट करने की स्वतंत्रता नहीं होती है और न ही जनता को राजनीतिक कार्यों का प्रशिक्षण ही मिलता है। इस प्रकार अधिनायकतंत्र शासन-प्रणाली में जनमत का अभाव पाया जाता है।

(ix) रूढ़िवादी दृष्टिकोण– प्राचीन परम्पराओं और प्रथाओं के प्रति विशेष आस्था रखने वाले देशों में नागरिक सामाजिक परिवर्तन के विरोधी होते हैं। यह रूढ़िवादी विचारधारा भी कुशल जनमत नहीं बनने देती है।

(x) स्वार्थ की प्रमुखता– नागरिकों में स्वार्थ की प्रमुखता होने के कारण लोकहित को प्रोत्साहन नहीं मिलता है। स्वार्थ व्यक्ति को अन्धा बना देता है। स्वार्थी व्यक्ति किसी ऐसी विचारधारा का स्वागत नहीं करता है, जिसमें नागरिकों के सामूहिक हितों की सुरक्षा सम्भव हो सके। इसलिए स्वार्थ की प्रमुखता के कारण स्वस्थ लोकमत नहीं बन पाता है।

7 राजनीतिक दल (Political Parties)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या—109 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या—109-110 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. ''राजनीतिक दल लोकतंत्र के प्राण हैं।'' इस कथन के प्रकाश में राजनीतिक दलों के दो कार्यों का उल्लेख कीजिए।

उ०– राजनीतिक दल लोकतंत्र के प्राण हैं। आधुनिक लोकतंत्र में राजनीतिक दलों के दो प्रमुख कार्य निम्नवत् हैं—

(i) राजनीतिक शिक्षा एवं निर्वाचन का संचालन– राजनीतिक दल निर्वाचन में अपने प्रतिनिधियों को इस उद्देश्य से खड़ा करता है कि वे निर्वाचन मे विजयी होकर अपने दल की सरकार का निर्माण कर सकें, इसलिए वे निर्वाचन में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। निर्वाचन से पूर्व राजनीतिक दल जनता को निर्वाचन संबंधी शिक्षा प्रदान करते हैं।

''दल की विरोधी गतिविधियाँ शिक्षा प्राप्ति की इच्छा रखने वाले लोगों को शिक्षा देती हैं और कम उत्साही तथा अशिक्षित लोगों में भी कुछ-न-कुछ शिक्षा ओर दिलचस्पी उत्पन्न करती हैं।'' **–लॉर्ड ब्राइस**

(ii) सरकार का निर्माण एवं आलोचना– निर्वाचन में जो दल बहुमत प्राप्त करता है, वह सत्तारूढ़ दल कहलाता है और जो राजनीतिक दल पराजित हो जाते हैं, विरोधी दल कहलाते हैं। विरोधी दल सरकार की गलत नीतियों की आलोचना कर सरकार को लोकहित का कार्य करने के लिए विवश करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि लोकतांत्रिक मूल्यों की सुरक्षा के लिए

राजनीतिक दलों का संगठित होना आवश्यक है। संसदात्मक सरकार के लिए तो राजनीतिक दलों का संगठित होना अनिवार्य है, क्योंकि संसदीय शासन प्रणाली में राजनीतिक दलों के अभाव में सरकार का निर्माण असम्भव हो जाता है।

2. राजनीतिक दलों के चार दोषों का उल्लेख कीजिए।

उ०– राजनीतिक दलों के चार दोष निम्नलिखित हैं—

(i) जनमत का विभाजन– विभिन्न राजनीतिक दल अपने-अपने पक्ष में जनमत-निर्माण का प्रयास करते हैं, इससे इन दलों द्वारा जनमत विभाजित हो जाता है।

(ii) व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अतिक्रमण– अनुशासनबद्धता के कारण राजनीतिक दलों में व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का परित्याग कर राजनीतिक दलों के आदेशों तथा निर्देशों के अनुसार आचरण करता है। इस प्रकार राजनीतिक दलों से व्यक्तिगत स्वतंत्रता का बलिदान होता है।

(iii) राष्ट्रीय हितों की क्षति– राजनीतिक दलों के कारण जनता विभिन्न गुटों में विभाजित हो जाती है, जिसके कारण राष्ट्रीय हितों की हानि होती है।

''दल केवल विधानमण्डलों को ही विभाजित नहीं करता, बल्कि देश को भी दो द्वेषपूर्ण पक्षों में बाँट देता है और विदेशों में देश का विभक्त रूप प्रस्तुत कर देता है।''
–लॉर्ड ब्राइस

(iv) विवादों की उत्पत्ति– राजनीतिक दलों के कारण देश में कई प्रकार के विवाद एवं संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। परिणामस्वरूप विद्वान एवं बुद्धिजीवी वर्ग राजनीतिक कार्यों से उदासीन रहने लगते हैं। धार्मिक रूढ़िवादिता पर आधारित राजनीतिक दल समाज में साम्प्रदायिक संघर्षों को प्रोत्साहित करने में अपनी सक्रिय भूमिका का निर्वाह करते हैं।

3. राजनीतिक दलों की लोकतंत्र में क्या भूमिका होती है?

उ०– वर्तमान समय में विश्व के लगभग सभी देशों में प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्रीय शासन ही प्रचलित है। इस शासन-व्यवस्था में जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनती है और प्रतिनिधियों द्वारा शासन किया जाता है। इस शासन व्यवस्था की समस्त प्रक्रिया राजनीतिक दलों द्वारा ही सम्पन्न होती है। लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की भूमिका निम्नरूपों में स्पष्ट की जा सकती है—

(i) सर्वसाधारण में जागृति
(ii) राजनीतिक शिक्षा
(iii) शक्तिशाली सरकार का संगठन
(iv) दलीय अत्याचारों से मुक्ति
(v) प्रशासकीय कुशलता
(vi) योग्य व्यक्तियों का चयन
(vii) सरकार का दायित्व
(viii) लोकतंत्र का संचालन

4. लोकतंत्र में राजनीतिक दल क्यों आवश्यक है? दो कारण बताइए।

उ०– लोकतंत्र में राजनीतिक दल आवश्यक हैं, इसके दो कारण निम्नवत् हैं—

(i) स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए आवश्यक– प्रजातन्त्र शासन लोकमत पर आधारित होता है तथा स्वस्थ लोकमत के अभाव में सच्चे प्रजातन्त्र की कल्पना असम्भव है। इस लोकमत के निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति राजनीतिक दलों के आधार पर ही सम्भव है। इस सम्बन्ध में राजनीतिक दल जलसे एवं अधिवेशन आयोजित करते हैं तथा एजेण्ट, व्याख्यानदाताओं और प्रचारकों के माध्यम से जनता में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। राजनीतिक दल स्थानीय एवं राष्ट्रीय समाचार-पत्रों एवं प्रचार के आधार पर अपनी नीति जनता के सम्मुख रखते हैं।

(ii) चुनावों के संचालन के लिए आवश्यक– जब मताधिकार बहुत अधिक सीमित था और निर्वाचक की संख्या कम थी, तब स्वतन्त्र रूप से चुनाव लड़े जा सकते थे, लेकिन अब सभी देशों में व्यस्क मताधिकार को अपना लिए जाने के कारण स्वतन्त्र रूप से चुनाव लड़ना असम्भव हो गया है। ऐसी स्थिति में राजनीतिक दल अपने दल की ओर से उम्मीदवारों को खड़ा करते और उसके पक्ष में प्रचार करते हैं। यदि राजनीतिक दल न हो तो आज के विशाल लोकतान्त्रिक राज्यों में चुनावों का संचालन लगभग असम्भव हो जाए।

5. राजनीतिक दल के किन्हीं चार कार्यों का उल्लेख कीजिए।

उ०– राजनीतिक दल के चार कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) संविधान में परिवर्तन– सामान्यतया संविधान लिखित होते हैं, राजनीतिक दल नागरिकों की आवश्यकताओं के अनुसार संविधान में संशोधन कराने के लिए जनमत का निर्माण करते हैं और सफलता मिलने पर संविधान में आवश्यकतानुसार संशोधन कर लोक-कल्याण की योजनाओं को क्रियान्वित करते हैं।

(ii) राजनीतिक शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार– राजनीतिक दल राजनीतिक शिक्षा और चेतना का प्रसार करते हैं। वे नागरिकों को मतदान प्रक्रिया के बारे में ज्ञान प्रदान करते हैं। राजनीतिक दलों के कार्यकर्ता मतदान केन्द्रों तक मतदाताओं को ले जाते हैं तथा उन्हें सही ढंग से मत डालने की जानकारी प्रदान करते हैं। इस संबंध में **लावेल** का विचार है— ''राजनीतिक दल राजनीतिक विचारों के दलाल के रूप में कार्य करते हैं।''

(iii) **राष्ट्रीय नीति का निर्माण–** प्रत्येक राजनीतिक दल अपनी किसी विशिष्ट राष्ट्रीय नीति का प्रतिपादन करता है। निर्वाचन में अपने प्रतिनिधियों को विजयी बनाकर राजनीतिक दल राष्ट्रीय नीति का निर्माण करते हैं तथा उस नीति को क्रियान्वित भी करते हैं।

(iv) **सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य–** राजनीतिक दल महत्वपूर्ण सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यों को भी सम्पन्न करते हैं। यह बहुमत निर्दलीय विधायकों का नहीं हो सकता, क्योंकि उनकी न तो समान विचारधारा होती है और न ही वे सर्वसम्मति से अपने में से किसी एक व्यक्ति को अपना नेता स्वीकार कर सकते हैं। बहुमत केवल राजनीतिक दलों का ही हो सकता है।

6. द्विदलीय प्रणाली के कोई दो लाभ बताइए।

उ०– द्विदलीय प्रणाली के दो लाभ निम्नवत् हैं—

(i) **प्रशासन में एकरूपता–** द्विदलीय शासन-प्रणाली में सरकार की बागडोर एक ही दल के हाथों में होने से शासन में एकरूपता पायी जाती है।

(ii) **निरंकुशता से मुक्ति–**द्विदलीय शासन-प्रणाली में विरोधी दल सत्तारूढ़ दल की आलोचना करता है। इसलिए सत्तारूढ़ दल नियमित और संयमित रूप से अपना कार्य करता रहता है, जिसके कारण सत्तारूढ़ दल निरंकुश नहीं हो पाता है।

7. द्विदलीय प्रणाली के कोई चार गुण लिखिए।

उ०– द्विदलीय प्रणाली के चार गुण निम्नवत् हैं—

(i) जनतंत्रात्मक शासन प्रणाली
(ii) उत्तरदायी शासन-प्रणाली
(iii) प्रशासन की स्थिरता
(iv) सरकार व जनता में घनिष्ठता

8. द्विदलीय प्रणाली की कोई दो विशेषताएँ बताइए।

उ०– उत्तर के लिए प्रश्न संख्या— 7 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

9. द्विदलीय प्रणाली के दो दोषों का उल्लेख कीजिए।

उ०– द्विदलीय प्रणाली के दो दोष निम्नवत् हैं—

(i) **मत प्रदर्शन का संकुचित क्षेत्र–** द्विदलीय शासन-प्रणाली में मतदाताओं को केवल दो ही दलों के बीच मत प्रदान करने का विकल्प रहता है, इसलिए इस प्रणाली में मत प्रदर्शन का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित रहता है।

(ii) **विधायिका के महत्व में कमी–** द्विदलीय व्यवस्था में विधायिका का महत्व कम हो जाता है क्योंकि बहुमत दल के समर्थन के कारण मन्त्रिमण्डल की प्रधानता हो जाती है।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक दलों से आप क्या समझते हैं? लोकतंत्र में इनका क्या महत्व है?

उ०– **राजनीतिक दल–** राजनीतिक दल ऐसे नागरिकों का एक समुदाय कहा जा सकता है जिसका सार्वजनिक महत्व के प्रश्नों पर सामान्य दृष्टिकोण होता है, जो अपने सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए शासन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है।

लोकतंत्र में राजीतिक दलों का महत्व– प्रजातंत्र में राजनीतिक दलों के महत्व को निम्न रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है—

(i) **सर्वसाधारण में जागृति–** राजनीतिक दल निर्वाचनों में अपने प्रतिनिधियों को खड़ा करते हैं और निर्वाचन के समय विभिन्न राजनीतिक समस्याओं को जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। इस कार्य के माध्यम से राजनीतिक दल जनता में पूर्ण रूप से राजनीतिक जागृति उत्पन्न कर देते हैं, जिससे जनसामान्य को राजनीतिक समस्याओं का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

(ii) **राजनीतिक शिक्षा–** राजनीतिक दल नागरिकों को निर्वाचन में भाग लेने, मतों का उचित रूप से प्रयोग करने तथा मत प्रदान करने आदि से संबंधित बातों का ज्ञान प्रदान करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल जनता के राजनीतिक ज्ञान में भी वृद्धि करते हैं।

(iii) **शक्तिशाली सरकार का संगठन–** राजनीतिक दल अपने प्रतिनिधियों को चुनाव में सफल बनाकर एक शक्तिशाली सरकार का निर्माण करते हैं। यह शक्तिशाली सरकार जनता के हितों का ध्यान रखती है और अपने पक्ष में जनमत का निर्माण करती है। इस प्रकार राजनीतिक दल सुसंगठित सरकार का निर्माण करके लोक-कल्याण को प्रोत्साहन देते हैं।

(iv) **दलीय अत्याचारों से मुक्ति–** निर्वाचन में विजयी दल सरकार का निर्माण करता है और अन्य विरोधी दल संगठित होकर सरकार के जन-विरोधी कार्यों की आलोचना करते हैं। इस आलोचना के भय से सत्तारूढ़ दल की निरंकुशता नहीं बढ़ती है। इसलिए कहा जाता है कि राजनीतिक दलों के कारण नागरिक को दलीय अत्याचारों से मुक्ति मिल जाती है।

(v) **प्रशासकीय कुशलता–** राजनीतिक दल जटिल समस्याओं का अध्ययन करते हैं और सर्वसाधारण को सरल भाषा में उन्हें समझाते हैं। सरकार को समय-समय पर अनेक महत्वपूर्ण सुझाव देते हैं, जिससे शासन में कार्यकुशलता तथा उत्तरदायित्व की भावना में वृद्धि हो।

(vi) **योग्य व्यक्तियों का चयन–** राजनीतिक दलों का उद्देश्य निर्वाचन में विजयी होकर सरकार की शक्तियों को अपने हाथों में

लेना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजनीतिक दल ऐसे योग्य व्यक्तियों का चयन करते हैं, जो विजयी दल की सरकार को स्थायित्व प्रदान कर सकें। इस प्रकार राजनीतिक दलों द्वारा योग्यतम व्यक्तियों को प्रोत्साहन दिया जाता है।

(vii) **सरकार का स्थायित्व–** विरोधी दलों की आलोचना के भय से सत्तारूढ़ दल लोक-कल्याण के कार्यों की ओर अग्रसर रहता है और अपने पक्ष में कुशल जनमत का निर्माण करके अपने दल की सरकार को स्थायी बनाने का प्रयास करता है। वस्तुत: राजनीतिक दलों से शासन में दृढ़ता रहती है।

(viii) **लोकतंत्र का संचालन सम्भव–** राजनीतिक दलों द्वारा ही लोकतंत्र सम्भव होता है। वस्तुत: लोकतंत्र राजनीतिक दलों के बिना सम्भव नहीं हो सकता।

(ix) **सरकार तथा नागरिकों में सहयोग–** राजनीतिक दल विधानमण्डलों में अपने प्रतिनिधियों को निर्वाचित कराकर भेजते हैं और विजयी प्रतिनिधियों का निर्वाचकों से परिचय कराते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दलों के माध्यम से सरकार और नागरिक के बीच संबंध स्थापित हो जाता है और सरकार को नागरिकों का सहयोग मिलने लगता है।

(x) **राष्ट्रीय एकता का साधन–** राजनीतिक दल समाज में उस व्यापक दृष्टिकोण की रचना करने में सहायक होते हैं, जिससे राष्ट्रीय एकता के बन्धन दृढ़ होते हैं।

(xi) **शासन में लचीलापन उत्पन्न करने में सहायक–** राजनीतिक दल संविधान और सरकार में लचीलापन उत्पन्न करते हैं। राजनीतिक दल शासन के विभिन्न अंगों में समन्वय और सामंजस्य उत्पन्न करते हैं।

2. राजनीतिक दल की परिभाषा लिखिए तथा इसके कार्यों की विवेचना कीजिए।

उ०– **राजनीतिक दल की परिभाषा–** राजनीतिक दल कुछ लोगों का एक ऐसा संगठन होता है, जो किसी सिद्धान्त पर एकमत होकर अपने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा जनता के हित के कार्य करना चाहते हैं।

राजनीतिक दलों के कार्य– आधुनिक लोकतंत्र में राजनीतिक दलों के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) **राजनीतिक शिक्षा एवं निर्वाचन का संचालन–** राजनीतिक दल निर्वाचन में अपने प्रतिनिधियों को इस उद्देश्य से खड़ा करता है कि वे निर्वाचन मे विजयी होकर अपने दल की सरकार का निर्माण कर सकें, इसलिए वे निर्वाचन में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। निर्वाचन से पूर्व राजनीतिक दल जनता को निर्वाचन संबंधी शिक्षा प्रदान करते हैं।

(ii) **सरकार का निर्माण एवं आलोचना–** निर्वाचन में जो दल बहुमत प्राप्त करता है, वह सत्तारूढ़ दल कहलाता है और जो राजनीतिक दल पराजित हो जाते हैं, विरोधी दल कहलाते हैं। विरोधी दल सरकार की गलत नीतियों की आलोचना कर सरकार को लोकहित का कार्य करने के लिए विवश करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि लोकतांत्रिक मूल्यों की सुरक्षा के लिए राजनीतिक दलों का संगठित होना आवश्यक है। संसदात्मक सरकार के लिए तो राजनीतिक दलों का संगठित होना अनिवार्य है, क्योंकि संसदीय शासन प्रणाली में राजनीतिक दलों के अभाव में सरकार का निर्माण असम्भव हो जाता है।

(iii) **शासन के विभिन्न अंगों में समन्वय–** सरकार के तीन अंग होते हैं। इन्हें व्यवस्थापिका (विधायिका), कार्यपालिका और न्यायपालिका कहा जाता है। इन तीन अंगों में पारस्परिक मतभेद होने से सरकार का कार्य अवरुद्ध हो जाता है और सरकार के कार्य में गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। राजनीतिक दल सरकार के इन अंगों में समन्वय स्थापित कर गतिरोध की समस्या को हल करते हैं।

(iv) **जनमत का निर्माण–** लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणाली में जनता द्वारा अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन किया जाता है। राजनीतिक दल इन प्रतिनिधियों के व्यक्तिगत गुणों का प्रचार-प्रसार कर अपने पक्ष में कुशल जनमत का निर्माण करते हैं। ऐसा कर राजनीतिक निर्वाचकों का पथ-प्रदर्शन करते हैं।

(v) **समस्याओं की व्याख्या–** लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणाली में जनता के हितों का विशेष ध्यान रखा जाता है। लोक-कल्याण के कार्यों से संबंधित विभिन्न समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। राजनीतिक दल इन समस्याओं की व्याख्या ऐसी सरल भाषा में करते हैं कि सर्वसाधारण भी उन समस्याओं से परिचित हो जाता है और नागरिक उन समस्याओं का समाधान करने में प्रशासन की सहायता करता है।

(vi) **स्थानीय संस्थाओं को प्रोत्साहन–** राजनीतिक दल स्थानीय संस्थाओं की विशेषताओं और महत्व को स्पष्ट कर नागरिकों की ऐसी स्थानीय संस्थाओं को जन्म देने की प्रेरणा देते हैं, जो उनकी समस्याओं का समाधान करने में योगदान दे सकें। निगम, नगरपालिका परिषद्, ग्राम-पंचायत, जिला-पंचायत आदि का निर्माण राजनीतिक दलों की प्रेरणा के ही परिणाम होते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल लोकतांत्रिक शासन की सफलता के लिए अनिवार्य हैं।

(vii) **जनता और प्रतिनिधियों के मध्य सीधे सम्पर्क की व्यवस्था–** राजनीतिक दल अपने-अपने प्रतिनिधियों को निर्वाचन में प्रत्याशी बनाते हैं। साथ-ही-साथ वे इन प्रतिनिधियों का निर्वाचकों से परिचय भी कराते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल प्रतिनिधियों और निर्वाचकों के बीच सीधा सम्पर्क स्थापित कर दोनों के संबंधों में घनिष्ठता उत्पन्न करते हैं तथा समय पड़ने पर निर्वाचकगण अपने प्रतिनिधियों से मिलकर सरकार से अपनी समस्याओं का समाधान कराते हैं।

(viii) **प्रतिनिधियों की कर्त्तव्यपरायणता–** लोकतांत्रिक शासन-प्रणाली में राजनीतिक दल निर्वाचकों द्वारा प्रतिनिधियों को निर्वाचित कराकर विधानमण्डलों में भेजते हैं। साथ-ही-साथ ये राजनीतिक दल निर्वाचकों को ऐसे प्रतिनिधियों के संबंध

में भी बताते रहते हैं जो अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते है। कुछ देशों में इन राजनीतिक दलों से प्रेरणा लेकर निर्वाचक मण्डल ने अपने प्रतिनिधियों को वापस बुला लेने की प्रथा प्रारम्भ की है। इस प्रकार राजनीतिक दल प्रतिनिधियों को कर्त्तव्यपरायण बनाते हैं।

(ix) **संविधान में परिवर्तन–** सामान्यतया संविधान लिखित होते हैं, राजनीतिक दल नागरिकों की आवश्यकताओं के अनुसार संविधान में संशोधन कराने के लिए जनमत का निर्माण करते हैं और सफलता मिलने पर संविधान में आवश्यकतानुसार संशोधन कर लोक-कल्याण की योजनाओं को क्रियान्वित करते हैं।

(x) **राजनीतिक शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार–** राजनीतिक दल राजनीतिक शिक्षा और चेतना का प्रसार करते हैं। वे नागरिकों को मतदान प्रक्रिया के बारे में ज्ञान प्रदान करते हैं। राजनीतिक दलों के कार्यकर्ता मतदान केन्द्रों तक मतदाताओं को ले जाते हैं तथा उन्हें सही ढंग से मत डालने की जानकारी प्रदान करते हैं। इस संबंध में **लावेल** का विचार है— ''राजनीतिक दल राजनीतिक विचारों के दलाल के रूप में कार्य करते हैं।''

(xi) **राष्ट्रीय नीति का निर्माण–** प्रत्येक राजनीतिक दल अपनी किसी विशिष्ट राष्ट्रीय नीति का प्रतिपादन करता है। निर्वाचन में अपने प्रतिनिधियों को विजयी बनाकर राजनीतिक दल राष्ट्रीय नीति का निर्माण करते हैं तथा उस नीति को क्रियान्वित भी करते हैं।

(xii) **सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य–** राजनीतिक दल महत्वपूर्ण सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यों को भी सम्पन्न करते हैं। यह बहुमत निर्दलीय विधायकों का नहीं हो सकता, क्योंकि उनकी न तो समान विचारधारा होती है और न ही वे सर्वसम्मति से अपने में से किसी एक व्यक्ति को अपना नेता स्वीकार कर सकते हैं। बहुमत केवल राजनीतिक दलों का ही हो सकता है।

3. लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की क्या उपयोगिता है? क्या अधिक राजनीतिक दल होने से लोकतंत्र अधिक सुदृढ़ हो सकता है? दो तर्क देकर समझाइए। अथवा लोकतंत्र में राजनीतिक दलों का महत्व बताइए।

उ०– लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की उपयोगिता (महत्व)– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

अधिक दल होने से लोकतंत्र अधिक सुदृढ नहीं बनता बल्कि कमजोर हो जाता है। इसके दो कारण निम्न हैं—

(i) **निर्बल सरकार–** बहुदलीय व्यवस्था मिले-जुले मन्त्रिमंडल को जन्म देती है जो बहुत अधिक अस्थिर होते हैं। जहाँ कहीं शासन में शामिल राजनीतिक दलों के हित परस्पर टकराते हैं, वहीं विवाद हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप शासन का पतन हो जाता है।

(ii) **शक्तिशाली विरोधी दल का अभाव–** लोकतंत्र में अधिक दल होने से शक्तिशाली विरोधी दल का अभाव होता है, शक्तिशाली विपक्ष न होने से जनहित की अवहेलना की आशंका बनी रहती है।

4. राजनीतिक दलों अथवा दल प्रणाली के गुणों व दोषों की विवेचना कीजिए अथवा राजनीतिक दल से क्या तात्पर्य है? दल-पद्धति के गुण-दोषों की व्याख्या कीजिए।

उ०– दल प्रणाली के गुण– दल प्रणाली के प्रमुख गुण इस प्रकार हैं—

(i) **प्रजातन्त्र शासन के लिए अनिवार्य–** राजनीतिक दल प्रजातन्त्र-शासन के लिए आधार रूप होते हैं। जनता में राजनीति शिक्षा का कार्य वहीं सम्पन्न करते हैं। यदि राजनीतिक दल न हों तो देश में संगठित बहुमत का होना सम्भव नहीं हो सकता। बहुमत के अभाव में सरकार का निर्माण नहीं किया जा सकता। इसीलिए **लीकॉक** ने कहा है, ''दलबन्दी एक ऐसी चीज है जो प्रजातन्त्र को सम्भव बनाती है।''

(ii) **अराजकता पर नियन्त्रण–** इन दलों के कारण ही एक सरकार के बदलने पर जब दूसरी सरकार की स्थापना होती है तो उस समय अराजकता नहीं फैलती।

(iii) **निर्वाचकों को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करना–** राजनीतिक दल निर्वाचकों को शिक्षित, अनुशासित तथा संयमी बनाने के कार्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग लेते हैं। वे राजनीतिक साहित्य, समाचार-पत्रों तथा सभाओं के द्वारा जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करते हैं तथा उस देश की समस्याओं से अवगत कराके सार्वजनिक कार्यों की ओर रूचि बढ़ाते हैं।

(iv) **अनुसंधानशालाओं की स्थापना–** बड़े-बड़े राजनीतिक दल की एक आर्थिक एवं वैज्ञानिक उन्नति के लिए अन्वेषण एवं शोध संस्थायें करते हैं और उन समस्याओं के वास्तविक कारण एवं उन पर दल तथा देश की उन्नति के लिए विचार करते हैं।

(v) **समाज सुधार के कार्य करना–** कभी-कभी राजनीतिक दल सामाजिक सुधार का कार्य भी करते हैं। कांग्रेस दल ने हरिजनों के उद्धार, स्त्री शिक्षा, अस्पृश्यता निवारण का प्रयत्न किया।

(vi) **नागरिकों को राजनीतिक अधिकारों के उचित प्रयोग की शिक्षा प्रदान करना–** राजनीतिक दल प्रत्येक नागरिक को इस बात की शिक्षा देते हैं कि वे अपने राजनीतिक अधिकारों का अधिक से अधिक उपयोग किस प्रकार करें? वे नागरिकों की शक्ति में वृद्धि करके उस शक्ति का प्रयोग रचनात्मक कार्यक्रम में करते हैं।

(vii) **कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के मध्य सामंजस्य स्थापित करना–** अध्यक्षात्मक सरकार में राजनीतिक दल विधानमण्डल तथा कार्यपालिका में सामंजस्य स्थापित करते हैं।

(viii) निर्धन व्यक्तियों को चुनाव लड़ने का अवसर प्रदान करना– राजनीतिक दलों के माध्यम से निर्धन व्यक्ति भी चुनाव में खड़े हो सकते हैं, क्योंकि उनको चुनाव का खर्चा दलों से मिल जाता है।

(ix) सरकार की निरंकुशता पर नियन्त्रण– राजनीतिक दलों के कारण सरकार की निरंकुशता पर नियन्त्रण रहता है। विरोधी दल सरकार की कार्यवाही की जाँच-पड़ताल करते हैं और उसको स्वेच्छाचारी बनने से रोकते हैं।

(x) जनता तथा सरकार के बीच सम्पर्क स्थापित करना– राजनीतिक दल ही वह माध्यम है जो जनता और सरकार के बीच आवश्यक सम्पर्क स्थापित कराते हैं। जनता की आवाज को सरकार तक पहुँचाना इन्हीं का कार्य है।

(xii) अनुशासन की भावना में वृद्धि करना– दल प्रणाली एक विशेष प्रकार की अनुशासन व्यवस्था लागू करती है। इस प्रणाली के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति ममनानी करेगा और अपने हित का ध्यान रखेगा। अत: आत्मानुशासन के लिए दल अनिवार्य है।

दल प्रणाली के दोष– दल प्रणाली के गुणों के साथ-साथ भयंकर दोष भी हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(i) प्रजातन्त्रीय सिद्धान्त के विरूद्ध– दल-प्रथा सच्चे प्रजातन्त्रीय सिद्धान्त के विरुद्ध हैं क्योंकि इसमें दल के अनुशासन के नाम पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण किया जाता है।

(ii) नैतिक स्तर का गिरना– राजनीतिक दलों का नेतृत्व कुछ ऐसे लोगों के हाथ में आ जाता है जो सिद्धान्तहीन होते हैं और चुनाव लड़ने में उचित और समुचित उपायों का भेद नहीं करते।

(iii) योग्य व्यक्तियों का राजनीति से पृथक रहना– राजनीतिक दलबन्दी के परिणामस्वरूप कभी-कभी इन दलों में अयोग्य और निम्नकोटी के व्यक्तियो का इस प्रकार प्रभाव स्थापित हो जाता है कि विचारशील एवं योग्य व्यक्तियों का राजनीति में भाग लेना असम्भव हो जाता है।

(iv) जनता को वास्तविकता का ज्ञान नहीं हो पाता– राजनीतिक दलों के पक्षपातपूर्ण प्रचार के कारण जनता को सत्य एवं वास्तविक बात का पता लगाना असम्भव हो जाता है और वह दलों के हाथों की कठपुतली बन जाती है।

(v) अयोग्य व्यक्तियों का सत्तारूढ़ होना– राजनीतिक दलों के कारण जब मन्त्रिमण्डल का निर्माण होता है तो कभी-कभी ऐसे व्यक्ति भी सत्तारूढ़ हो जाते हैं, जिनमें शासन सम्बन्धी कुछ भी योग्यता नहीं होती।

(vi) भ्रष्टाचार का प्रसार– राजनीतिक दलों के कारण पक्षपात, रिश्वत, बेईमानी तथा ऐसी ही अन्य बुराईयों का बाजार गर्म हो जाता है। दलों के नेता चुनाव के समय धनिकों को अपनी पार्टी की ओर से चुनाव में खड़े करने का प्रलोभन देकर बहुत रिश्वत ले लेते है। जिस दल की सरकार बन जाती है वह अपने दल के व्यक्तियों को ही बड़े-बड़े पदों पर रखते हैं, चाहे उनमें उस पद को सम्भालने की योग्यता हो या न हो।

(vii) राष्ट्र अनेक समूहों में विभक्त हो जाता है– दलों के कारण राष्ट्र अनेक समूहों में विभक्त हो जाता है। दल के सदस्य अपने दल के हितों के सामने देश के हितों की उपेक्षा कर देते हैं।

(viii) सरकार को अस्थिरता– जिस देश में विधानमण्डल में बहुत से दल पहुँच जाते हैं, वहाँ स्थायी सरकार बनना असम्भव हो जाता है।

(ix) राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा– दलबन्दी प्रथा से व्यक्तियों का नैतिक पतन हो जाता है और वे किसी भी विषय पर निष्पक्ष रूप से विचार नहीं करते, अपितु अपने दल के अनुसार ही सोचते हैं। दल प्रणाली से राष्ट्रीय हित की उपेक्षा होती है। दलबन्दी में पड़कर लोग दलीय हितों के लिए राष्ट्रीय हितों का बलिदान कर देते हैं। **मैरियट** ने ठीक ही कहा है, कि ''दल-भक्ति के आधिक्य से देश-भक्ति की आवश्यकताओं पर पर्दा पड़ सकता है। वोट प्राप्त करने के धन्धे पर अत्यधिक ध्यान देने से दलों के नेता और उनके प्रबन्धक देश की उच्चतम आवश्यकताओं को भुलाते हैं।''

(x) देश योग्य व्यक्तियों की सेवाओं से वंचित रह जाता है– इस प्रथा के कारण सरकार में केवल वही व्यक्ति सम्मिलित होते हैं, जिनका विधानमण्डल में बहुमत होता है। दूसरे दल के योग्य व्यक्ति भी सरकार से वंचित रह जाते है। इस प्रकार देश को योग्य व्यक्तियों की सेवायें उपलब्ध नहीं हो पाती।

(xi) बहुमत दल की तानाशाही– व्यवस्थापिका सभा में जिस दल को बहुमत प्राप्त होता है वह सरकार का निर्माण करता है। सरकार का निर्माण करने के उपरान्त बहुमत दल निरंकुश बनने का प्रयत्न करता है। इसी कारण **अलेक्जेण्डर पोप** ने लिखा है, ''दल कुछ व्यक्तियों के लाभ के लिए अधिकतम व्यक्तियों का पागलपन है।''

(xii) स्थानीय वायुमण्डल का दूषित हो जाना– दल पद्धति के कारण नगर-पालिकाओं, नगर-निगमों, जिला परिषदों तथा ग्राम पंचायतों आदि स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं में भी दलीय राजनीति का प्रवेश हो जाता है। इसके कारण इन संस्थाओं में किसी विषय पर निष्पक्ष रूप से विचार होना असम्भव हो जाता है।

निष्कर्ष– दल प्रणाली में दोषों के होते हुए भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि आधुनिक प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों का बहुत महत्व है। राजनीतिक दल हमारे राजनीतिक विचार का अभिन्न अंग बन गये हैं। हम राजनीतिक दलों के अभाव में आधुनिक जनतन्त्र प्रणाली की कल्पना भी नहीं कर सकते।

5. एकदलीय व्यवस्था के गुण तथा दोषों पर टिप्पणी लिखिए।

उ०– एकदलीय पद्धति– जिस शासन-व्यवस्था में शासन पर एक ही राजनीतिक दल का नियन्त्रण हो और शासन की नीति का निर्धारण करने में भी एक ही राजनीतिक दल प्रभावशाली हो, तो वह पद्धति **एकदलीय पद्धति** कहलाती है। इस व्यवस्था में अन्य राजनीतिक दल भी हो सकते हैं, परन्तु इन दलों का शासन की नीतियों या निर्वाचन की प्रक्रिया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

गुण– एकदलीय पद्धति के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं—

(i) लोक-कल्याण की भावना– एकदलीय पद्धति में लोकहित की भावना रहती है। लोक-कल्याण की भावना होना ही एकदलीय पद्धति का सर्वश्रेष्ठ गुण है।

(ii) प्रशासकीय कुशलता– एकदलीय पद्धति में शासन की नीतियों का निर्माण एक ही दल के राजनीतिज्ञों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार की नीति में स्थायित्व तथा दृढ़ता होती है। इससे प्रशासन में कुशलता पाई जाती है।

(iii) मितव्ययिता– एकदलीय पद्धति का प्रभाव रहने के कारण राज्य के कार्यों में कम खर्च तथा कम समय लगता है। इसमें सभी कार्य सरलता से पूर्ण हो जाते हैं। अतएव एकदलीय शासन प्रणाली मितव्ययी होती है।

(iv) गुणों की प्रधानता– एकदलीय पद्धति में विवेकशील व्यक्तियों को ही प्रशासन में कार्य करने का अवसर दिया जाता है। अतएव इस पद्धति में योग्यतम व्यक्तियों की सेवा शासन को प्राप्त हो जाती है।

(v) पिछड़े हुए देशों के विकास के लिए अधिक उपयुक्त– पिछड़े हुए देशों के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से एकदलीय प्रणाली ही अच्छी मानी जाती है।

(vi) राष्ट्रीय एकता– एकदलीय व्यवस्था में जनता में विभाजन तथा गुटबन्दी का भय समाप्त हो जाता है तथा राष्ट्रीय एकता बनी रहती है।

(vii) अनुशासनबद्धता– एक दल की प्रधानता के कारण सरकार के कार्यों में अनुशासनबद्धता बनी रहती है। इसके अतिरिक्त एकदलीय पद्धति में सदस्यों की संख्या भी सीमित होती है।

(viii) संकटकालीन सुरक्षा– एकदलीय पद्धति में प्रशासन पर एक ही दल का नियन्त्रण स्थापित होता है। एकदलीय पद्धति में राज्य का सैनिक संगठन सुदृढ़ होता है। जो संकटकाल में उपयुक्त सुरक्षा प्रदान करता है।

दोष– एकदलीय पद्धति के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(i) दलीय अत्याचारों में वृद्धि– एकदलीय पद्धति में शासन पर एक ही दल का नियन्त्रण बना रहता है, अतएव एकदलीय पद्धति में एक दल की निरंकुशता बढ़ने का अधिक भय रहता है।

(ii) लोक-कल्याण की उपेक्षा– एकदलीय सरकार में सत्तारूढ़ दल केवल अपने ही हितों को पूरा करता है, इसलिए वह लोक-कल्याण व लोकहितों की उपेक्षा करता है।

(iii) लोकतंत्र के सिद्धान्तों की उपेक्षा– लोकतांत्रिक शासन में सत्तारूढ़ दल की गलत नीतियों की आलोचना के लिए विरोधी दल का होना आवश्यक है, किन्तु एक दलीय पद्धति में इस प्रकार के विरोधी दल नहीं पाए जाते। अतएव एकदलीय पद्धति लोकतंत्र शासन की विरोधी कहलाती है।

(iv) वैयक्तिक स्वतंत्रता का अभाव– एकदलीय पद्धति में केवल एक ही दल का शासन पर नियन्त्रण रहता है, इसलिए इस पद्धति में व्यक्ति की स्वतंत्रता पर एक दल का ही नियन्त्रण होने से उसे पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती है।

(v) नेता को अधिक महत्व– एकदलीय पद्धति में नेता को अत्यधिक महत्व दिया जाता है। उदाहरण के लिए **मुसोलिनी** ने इटली की जनता को यह शपथ दिलाई थी—''ईश्वर और देश के नाम पर मै प्रतिज्ञा करता हूँ कि अपने नेता की प्रत्येक आज्ञा का प्रत्येक स्थिति में पालन करूँगा।''

''स्टालिन महान् सभी कुछ जानता है। वह सभी कुछ कर सकता है। वह कोई गलती नहीं कर सकता है।'' **–स्टालिन**

(vi) प्रगतिशील विचारों का विरोधी– एकदलीय शासन सभी प्रगतिशील विचारो, यथा— लोकतंत्र, उदारवाद, समानता तथा स्वतंत्रता का विरोधी हो जाता है।

(vii) राष्ट्रीय हितों की क्षति– एकदलीय पद्धति में दल के सदस्य अपने दल के प्रति भक्तिभाव रखते हैं और राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करते हैं।

6. दलीय प्रणाली के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 4 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

7. राजनीतिक दलों की परिभाषा दीजिए और आधुनिक लोकतंत्रों में राजनीतिक दलों का महत्व समझाइए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 1 का अवलोकन कीजिए।

8. लोकतंत्र में राजनीतिक दलों का क्या महत्व है? इसके संगठन का क्या आधार होना चाहिए।

उ०– लोकतंत्र में राजनीति दलों का महत्व– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

राजनीतिक दलों के निर्माण का आधार– वर्तमान राजनीतिक दलों के निर्माण या उत्पत्ति के दो प्रमुख आधार माने गए हैं, जिनका विवेचन इस प्रकार है—

(i) मनोवैज्ञानिक आधार– मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से मानव स्वभाव में भिन्नता पाई जाती है लोगों के स्वभाव में निहित प्रवृत्तियाँ भी एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न होती हैं। कुछ लोगों का स्वभाव शान्तिप्रिय होता है। वे समाज के प्रचलित जीवन ढंग में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते। कुछ लोग स्वभाव से ही उग्र होते हैं। वे विद्यमान समाज व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन चाहते हैं, स्वभाव की यह भिन्नता ही विचारों में मतभेद उत्पन्न कर देती है, जो बाद में राजनीतिक दल के गठन का प्रमुख आधार बन जाती है। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड की **लेबर पार्टी** वैधानिक उपायों से समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने के पक्ष में है, जबकि **कंजर्वेटिव पार्टी** (अनुदार दल) देश में प्राचीन परिपाटी को ही बनाए रखने के पक्ष में है। इटली में फासिस्ट दल और जर्मनी में नाजी दल भी इसी प्रकार के उदाहरण रहे हैं।

(ii) आर्थिक आधार– आर्थिक स्थिति की विषमता समाज को विभिन्न वर्गों में विभाजित करती है प्रत्येक वर्ग के हित एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। आर्थिक हितों की भिन्नता से प्रत्येक दल का कार्यक्रम भी एक-दूसरे से भिन्न होता है।
''राष्ट्रीय दल क्षणिक आवेगों या अस्थायी आवश्यकताओं के आधार पर नहीं टिक सकते, इन्हें स्थायी सामुदायिक हितों, विशेषकर आर्थिक हितों पर आधारित होना चाहिए।'' **–हैलकोम्ब**

8 मताधिकार तथा निर्वाचन प्रणालियाँ (Franchise and Electoral Systems)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 122 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०–अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 122-123 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. दो निर्वाचन प्रणालियों के नाम लिखिए।

उ०– निर्वाचन की दो प्रणालियाँ निम्नलिखित हैं—

(i) प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली– जब निर्वाचक प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधि का चुनाव करते हैं, तो उसे प्रत्यक्ष निर्वाचन कहते हैं। भारत में लोकसभा और राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों का चुनाव इसी प्रणाली से होता है।

(ii) अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली– जब सामान्य मतदाता ऐसे निर्वाचक मण्डल का चुनाव करते हैं जो प्रतिनिधियों का चुनाव करता है, तो ऐसी प्रणाली को अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली कहते हैं। भारत में राज्य सभा का निर्वाचन अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली द्वारा ही होता है।

2. महिला मताधिकार पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

उ०– महिला मताधिकार– महिलाओं के लिए मताधिकार प्राप्त करने की माँग प्रजातंत्र के विकास तथा विस्तार के साथ ही प्रारम्भ हुई है यदि मताधिकार प्रत्येक व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार है, तो महिलाओं को भी यह अधिकार प्राप्त होना चाहिए। 19वीं शताब्दी में **बेन्थम**, **डेविड हेयर**, **सिजविक**, **ऐस्मीन** तथा **जे०एस० मिल** ने महिला मताधिकार का समर्थन किया। इंग्लैण्ड में सन् 1918 ई० में सार्वभौमिक मताधिकार अधिनियम पारित करके 30 वर्ष की आयु वाली महिलाओं को मताधिकार प्रदान किया गया। 10 वर्ष बाद यह आयु-सीमा घटाकर 21 वर्ष तक कर दी गई। सन् 1920 ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका में पुरुषों के समान महिलाओं को भी समान अधिकार प्रदान किया गया। भारतीय संविधान में प्रारम्भ से ही महिलाओं को पुरुषों के समान मताधिकार दिया गया है।

3. सार्वभौमिक मताधिकार के पक्ष में कोई चार तर्क दीजिए।

उ०– वयस्क या सार्वभौमिक मताधिकार के पक्ष में दिए जाने वाले चार प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं—

(i) सम्प्रभुता का स्रोत जनता है इसलिए सभी को समान रूप से मताधिकार प्राप्त होना चाहिए।
(ii) राज्यों के कार्य, कानून व नीतियों का प्रभाव सभी व्यक्तियों पर पड़ता है, इसलिए सभी को मताधिकार प्राप्त होना चाहिए।
(iii) सभी व्यक्ति समान हैं। सभी को अपने हितों की सुरक्षा के लिए मताधिकार प्राप्त होना चाहिए।
(iv) सभी को मताधिकार मिलने से अल्पसंख्यक भी प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेते हैं।

4. अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की किन्ही चार प्रणालियों का उल्लेख कीजिए।

उ०– अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की चार प्रणालियाँ निम्नलिखित हैं—

(i) अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली
(ii) सामूहिक प्रणाली
(iii) पृथक निर्वाचन प्रणाली
(iv) सीमित मत प्रणाली

5. समानुपातिक प्रतिनिधित्व क्या है? इसके दो दोष बताइए।

उ०– अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए जिन उपायों को सामान्यतया प्रयोग किया जाता है, उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण समानुपातिक प्रणाली है। इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य राज्य में विद्यमान सभी राजनीतिक दलों का विधायिका में उचित प्रतिनिधित्व करना है। प्रत्येक राजनीतिक दल को व्यवस्थापिका में लगभग उतना प्रतिनिधित्व अवश्य प्राप्त हो सके जितना निर्वाचकों का उसे समर्थन प्राप्त है। प्रतिनिधित्व की इस योजना को जन्म देने वाले 19 वीं शताब्दी के एक अंग्रेज विद्वान **थॉमस हेयर** थे इसलिए इसे हेयर प्रणाली भी कहते हैं।

दोष– इस प्रणाली के दोष निम्नवत् हैं—

(i) यह प्रणाली अल्पमत विचारधारा को प्रोत्साहन देती है।
(ii) व्यवहारिक रूप से यह प्रणाली अत्यन्त जटिल है।

6. अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के पक्ष में दो तर्क दीजिए।

उ०– अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के पक्ष में दो तर्क निम्नवत् हैं—

(i) राजनीतिक शिक्षा की व्यवस्था– अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा भी प्रदान करती है, क्योंकि मतदाताओं के लिए अपना मत देने से पहले विभिन्न उम्मीदवारों तथा विभिन्न दलों की नीतियों के विषय में विचार करना आवश्यक हो जाता है।

(ii) अधिक लोकतांत्रिक– बहुत से विद्वान इस पद्धति को अधिक लोकतांत्रिक मानते हैं, क्योंकि इसमें सभी वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है।

7. आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के गुणों को लिखिए।

उ०– अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के गुण निम्नलिखित हैं—

(i) कोई मत व्यर्थ नहीं जाता
(ii) राजनीतिक शिक्षा की व्यवस्था
(iii) व्यवस्थापिका का उच्च स्तर
(iv) बहुमत की निरंकुशता का भय नहीं
(v) अधिक लोकतांत्रिक
(vi) सभी वर्गों का उचित प्रतिनिधित्व

8. अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के दो दोष बताइए।

उ०– अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के दो दोष निम्नवत् हैं—

(i) अनुपातिक प्रणाली में विशेषतया सूची प्रणाली में, दलों का संगठन तथा नेताओं का प्रभाव बहुत बढ़ जाता है और साधारण सदस्यों की स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है, क्योंकि मतदान का अधिकार राजनीतिक दल होता है।

(ii) दलीय वर्चस्व के कारण मतदाता प्राय: अपने राजनीतिक दलों को मत देते हैं, अत: इस प्रणाली में निर्वाचकों और प्रतिनिधियों में कोई सम्पर्क नहीं होता है।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. व्यस्क मताधिकार क्या है? इसके गुण तथा दोषों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालिए।

उ०– **वयस्क या सार्वभौमिक मताधिकार–** वयस्क मताधिकार से तात्पर्य है कि मतदान का अधिकार एक निश्चित आयु के नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के प्राप्त होना चाहिए। वयस्क मताधिकार की आयु का निर्धारण प्रत्येक देश में वहाँ के नागरिक के वयस्क होने की आयु पर निर्भर करता है। भारत में वयस्क होने की आयु 18 वर्ष है। अत: भारत में मताधिकार की आयु भी 18 वर्ष है। वयस्क मताधिकार से तात्पर्य है कि दिवालिए, पागल व अन्य किसी प्रकार की अयोग्यता वाले नागरिकों को छोड़कर अन्य सभी वयस्क नागरिकों को मताधिकार प्राप्त होना चाहिए। मताधिकार में सम्पत्ति, लिंग अथवा शिक्षा जैसा कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए। **मॉण्टेस्क्यू, रूसो, टॉमस पेन** इत्यादि विचारक वयस्क मताधिकार के समर्थक हैं। वर्तमान में विश्व के लगभग सभी देशों में वयस्क मताधिकार की व्यवस्था है।

वयस्क मताधिकार के गुण– वयस्क मताधिकार के पक्ष में दिए जाने वाले प्रमुख गुण इस प्रकार हैं—

(i) सम्प्रभुता का स्रोत जनता है इसलिए सभी को समान रूप से मताधिकार प्राप्त होना चाहिए।
(ii) राज्यों के कार्य, कानून व नीतियों का प्रभाव सभी व्यक्तियों पर पड़ता है, इसलिए सभी को मताधिकार प्राप्त होना चाहिए।
(iii) सभी व्यक्ति समान हैं। सभी को अपने हितों की सुरक्षा के लिए मताधिकार प्राप्त होना चाहिए।
(iv) सभी को मताधिकार मिलने से अल्पसंख्यक भी प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेते हैं।
(v) शिक्षा, सम्पत्ति तथा लिंग-भेद अनुचित है, इसलिए सभी को मताधिकार प्राप्त होना चाहिए।
(vi) मताधिकार प्राप्त होने से व्यक्ति स्वयं को सम्मानित अनुभव करते हैं।

(vii) नागरिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए वयस्क मताधिकार आवश्यक है।
(viii) वयस्क मताधिकार से उदासीनता समाप्त होती है तथा राजनीतिक जागृति व शिक्षा प्राप्त होती है।
(ix) वयस्क मताधिकार राष्ट्र की एकता का प्रतीक है।
(x) मानव होने के कारण सभी समान हैं और वयस्क मताधिकार प्राकृतिक अधिकार है।
(xi) वयस्क मताधिकार लोकतांत्रिक सिद्धान्तों एवं भावनाओं के अनुकूल है।

वयस्क मताधिकार के दोष– वयस्क मताधिकार के विपक्ष में दिए जाने वाले प्रमुख दोष इस प्रकार हैं—

(i) वयस्क मताधिकार की अवधारणा विचारहीन तथा तर्कों के विपरीत है क्योंकि इससे अशिक्षित, निर्धन तथा अज्ञानी लोग सत्ता में आ जाएँगे।
(ii) वयस्क मताधिकार से शासन अशिक्षित व अज्ञानियों के हाथों में आ जाएगा।
(iii) साधारण जनता राजनीति के जटिल प्रश्नों को नहीं समझती है, इसलिए सभी को मताधिकार प्राप्त नहीं होना चाहिए।
(iv) अधिकारों की सुरक्षा के लिए सभी को मताधिकार देना अनुचित है क्योंकि यह अधिकार सुरक्षा की कोई गारण्टी प्रदान नहीं करता।
(v) वयस्क मताधिकार भ्रष्टाचार को जन्म देता है। अधिकांश नवोदित राष्ट्रों में धन, धर्म व जाति के प्रभाव से मतदान होता है। ''अक्षम और अयोग्य लोगों को शासक चुनने का अधिकार देने का अर्थ होगा— स्वयं का विनाश।'' **–ब्लंशली**
(vi) मताधिकार एक पवित्र कर्त्तव्य है, जो केवल समझदार व बुद्धिमान व्यक्ति को ही प्राप्त होना चाहिए।
(vii) वयस्क मताधिकार रूढ़िवादिता को जन्म देता है क्योंकि जनता अनुदार होती है और प्रगतिशील विचारों को शंका की दृष्टि से देखती है।

2. व्यस्क मताधिकार से आप क्या समझते हैं? इसके पक्ष एवं विपक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

3. व्यस्क मताधिकार के समर्थन का मुख्य आधार क्या है? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

उ०– व्यस्क मताधिकार के समर्थन के मुख्य आधार निम्नलिखित हैं—

(i) समानता का अधिकार– चूँकि लोकतंत्र समानता के सिद्धान्त पर आधारित है, इसलिए वयस्क सार्वजनिक मताधिकार राजनीतिक समानता की स्थापना करता है। व्यस्क मताधिकार के अन्तर्गत सभी वयस्कों को समान रूप से मतदान का अधिकार दिया जाता है और किसी तरह का भेदभाव नहीं किया जाता है इसलिए यह समानता के सिद्धान्त को लागू करता है।

(ii) राजनीतिक प्रशिक्षण– मताधिकार शिक्षा का एक साधन है। व्यस्क सार्वजनिक मताधिकार के द्वारा राज्य के प्रत्येक व्यक्ति का राजनीतिक प्रशिक्षण होता है। इससे राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था रहती है।

(iii) सार्वजनिक हित की रक्षा– वयस्क मताधिकार सार्वजनिक हित का रक्षक है। कुछ व्यक्तियों को वयस्क मताधिकार देकर सार्वजनिक हित की रक्षा नहीं की जा सकती। जब देश की सम्पूर्ण जनता मतदान में भाग लेती है तो स्वत: सार्वजनिक हित की रक्षा होती है। **प्रो० लॉस्की** के अनुसार, ''शक्ति से अलग होने का अर्थ शक्ति के लाभों से वंचित होना है।''

(iv) कानून पालन में सुविधा– वयस्क मताधिकार से सम्पूर्ण राष्ट्र की जनता निर्वाचन में भाग लेती है और अपने शासकों तथा कानून निर्माताओं का चयन करती है तो वह अपने प्रतिनिधियों द्वारा बनाये गये नये कानून का पालन आसानी से करने लगती है।

(v) राष्ट्रीयता का अधिकार– वयस्क मताधिकार से जनता अपने को राज्य का आवश्यक अंग मानती है। जनता में राष्ट्रीय प्रेम उत्पन्न होता है। इससे राष्ट्रीयता का विकास होता है और राज्य की शक्ति में वृद्धि होती है।

(vi) स्वाभिमान का भाव– वयस्क मताधिकार जनता में स्वाभिमान का भाव उत्पन्न करता है। जनता अपने को राज्य बनाने या बिगाड़ने वाली समझती है और सरकार के प्रशासन कार्य में सक्रिय भाग लेती है।

(vii) लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के अनुकूल– वयस्क मताधिकार लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के अनुकूल है। चूँकि लोकतंत्र में सम्प्रभुता का निवास जनता में होता है, इसलिए जनता को बिना किसी भेदभाव के मताधिकार देना चाहिए। व्यस्क मताधिकार के अभाव में लोकतन्त्रीय व्यवस्था सफल नहीं हो सकती।

(viii) सभी वर्गो का प्रतिनिधित्व– वयस्क सार्वजनिक मताधिकार सम्पत्ति, शिक्षा, धर्म, जाति, लिंग आदि पर आधारित नहीं होता। यह अपने अन्तर्गत सभी वर्गो का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें सभी वर्गो को समान अवसर तथा समान अधिकार प्राप्त होता है जिससे उनमें प्रेम तथा सद्‌भावना का अभाव जाग्रत होता है।

(ix) न्यायसंगत– वयस्क मताधिकार का सिद्धान्त न्यायसंगत इसलिए है कि राज्य के कानून सबके लिए समान हैं। अतएव कानून निर्माण में सबको समान अधिकार मिलना चाहिए। वयस्क मताधिकार इस अधिकार की पूर्ति करता है।

4. प्रतिनिधित्व के विभिन्न तरीकों का परीक्षण कीजिए।

उ०– प्रतिनिधित्व दो प्रकार का होता है—

(i) आदिष्ट प्रतिनिधित्व, (ii) आदेशहीन प्रतिनिधित्व

(i) आदिष्ट प्रतिनिधित्व– आदिष्ट प्रतिनिधित्व का अर्थ है कि प्रतिनिधि निर्वाचकों के अधीन हो, उसकी अपनी कुछ भी इच्छा नहीं है। वह निर्वाचकों की इच्छा को अभिव्यक्त करता है। प्रतिनिधित्व का यह रूप आज विलुप्त है, तथापि कुछ ऐसे प्रतिनिधि है, जो स्वामी की इच्छानुसार ही कार्य कर सकते हैं। जैसे— विदेशों में राजदूत। वर्तमान निर्वाचन प्रणाली के अन्तर्गत आदिष्ट प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं रहा है क्योंकि चुनाव का आधार दलीय पद्धति हो गया है।

(ii) आदेशहीन प्रतिनिधित्व– आदेशहीन प्रतिनिधित्व के अंतर्गत प्रतिनिधि निर्वाचकों के अभिकर्ता नहीं है। वे निर्वाचकों के अधीन नहीं हैं और न ही उनके अनुसार कार्य करते हैं। सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक दोनों दृष्टियों से यह सम्भव नहीं है कि कोई प्रतिनिधि सभी निर्वाचकों के आदेशानुसार कार्य करें।

5. अनुपातिक प्रतिनिधित्व से आप क्या समझते हैं? इसकी विभिन्न प्रणालियों की व्याख्या कीजिए।

उ०– अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली– अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए, जिन उपायों का सामान्यतया प्रयोग किया जाता है, उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण **अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली** है। इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य राज्य में विद्यमान सभी राजनीतिक दलों का विधायिका में उचित प्रतिनिधित्व करना है। प्रत्येक राजनीतिक दल को व्यवस्थापिका में लगभग उतना प्रतिनिधित्व अवश्य प्राप्त हो सके जितना निर्वाचकों को उसे समर्थन प्राप्त है। प्रतिनिधित्व की इस योजना को जन्म देने वाले 19वीं शताब्दी के एक अंग्रेज विद्वान **थॉमस हेयर** थे इसलिए इसे **हेयर प्रणाली** भी कहते हैं। वर्तमान में अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का प्रयोग अनेक प्रणालियों के रूप में किया जा रहा है। अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के ये सभी प्रकार के निम्नलिखित दो रूपों में विभक्त किए जा सकते हैं—

(i) एकल संक्रमणीय मत प्रणाली– इस प्रणाली में बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों का प्रयोग किया जाता है। सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र से तात्पर्य उन निर्वाचक क्षेत्रों से होता है, जहाँ एक ही समय में एक साथ 3-20 तक उम्मीदवारों का निर्वाचन किया जा सकता है। एक निर्वाचन क्षेत्र से चाहे कितने ही प्रतिनिधि चुने जाने हों, किन्तु प्रत्येक मतदाता को केवल एक उम्मीदवार के पक्ष में मत देने का अधिकार होता है। वह मतदान-पत्र पर अपनी पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी इत्यादि पसन्द का उल्लेख कर सकता है। मतदान समाप्त हो जाने पर यह देखा जाता है कि निर्वाचन क्षेत्र में कुल कितने मत डाले गए और डाले गए मतों की संख्या ज्ञात हो जाने पर निश्चित मत संख्या की गणना की जाती है। निश्चित मत संख्या मतों की वह संख्या है जो उम्मीदवार को विजयी घोषित किए जाने के लिए आवश्यक है। निश्चित मत संख्या ज्ञात करने का सूत्र निम्नांकित है—

$$\textbf{निश्चित मत (quota)} = \frac{\text{कुल डाले गए वैध मतों की संख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले व्यक्तियों की संख्या} + 1} + 1$$

निश्चित मत संख्या निकाल लेने के बाद समस्त मतपत्रों में से पहली पसन्द के अनुसार मतपत्र छाँट लिए जाते हैं। जिन उम्मीदवारों को निश्चित संख्या के बराबर या उससे अधिक पहली पसन्द के मत प्राप्त होते हैं, वे निर्वाचित घोषित कर दिए जाते हैं। परन्तु यदि प्रथम चक्र में सभी स्थानों की पूर्ति नहीं हो पाती है, तो सफल उम्मीदवारों के अतिरिक्त मत अन्य उम्मीदवारों को हस्तान्तरित कर दिए जाते हैं और उन पर अंकित दूसरी पसन्द के अनुसार विभाजित कर दिए जाते हैं। यदि इस पर भी सभी स्थानों की पूर्ति नहीं होती हैं तो सफल उम्मीदवारों का तीसरी, चौथी, पाँचवी पसन्दें भी इसी प्रकार हस्तान्तरित की जाती है और यदि इसके बाद भी कुछ स्थान रिक्त रह जाते हैं तो जिन उम्मीदवारों को सबसे कम प्राप्त हुए है वे बारी-बारी से पराजित घोषित कर दिए जाते हैं और उनके मतों को दूसरी, तीसरी, चौथी इत्यादि पसन्द के अनुसार उन उम्मीदवारों में हस्तान्तरित कर दिया जाता है। यह प्रकिया उस समय तक चलती रहती है जब तक कि रिक्त स्थानों की पूर्ति न हो जाए। इस प्रणाली का स्पष्ट उद्देश्य यही है कि एक मत भी व्यर्थ न जाए। यह प्रणाली अत्यन्त जटिल है इसलिए इसका प्रयोग बहुत कम देशों में होता है। स्वीडन, फिनलैण्ड, नार्वे, डेनमार्क आदि देशों में यह प्रणाली देखने को मिलती है।

(ii) सूची प्रणाली– सूची प्रणाली अनुपातिक प्रतिनिधित्व का एक अन्य प्रकार है। इसमें सभी उम्मीदवार अपने राजनीतिक दलों के अनुसार पृथक-पृथक सूचियों में रख दिए जाते है और प्रत्येक दल अपने उम्मीदवारों की सूची प्रस्तुत करता है जिसमें दिए गए नामों की संख्या उस निर्वाचन क्षेत्र से चुने जाने वाले प्रतिनिधियों की संख्या से अधिक नहीं हो सकती है। मतदाता अपने मत अलग-अलग उम्मीदवारों को नहीं, वरन् किसी भी दल की पूरी-की-पूरी सूची के पक्ष में देते हैं। इसके बाद डाले गए मतों की कुल संख्या को निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या से भाग देकर, निर्वाचक अंक निकाल लिया जाता है। तदुपरान्त एक दल द्वारा प्राप्त मतों की संख्या को निर्वाचक अंक से भाग दिया जाता है और इस प्रकार यह निश्चित किया जाता है कि उस दल को कितने स्थान प्राप्त होंगे। सभी सूची प्रणालियों का आधारभूत सिद्धान्त यही है, परन्तु विभिन्न देशों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन अथवा संशोधन करके इसे नए-नए रूप दिए जाते हैं, वर्तमान में सूची-प्रणाली के कई प्रकार पाए जाते हैं।

6. अनुपातिक प्रतिनिधित्व से आप क्या समझते हैं? एकल संक्रमणीय पद्धति तथा सूची पद्धति का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 5 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

7. अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के गुण एवं दोषों की विवेचना कीजिए।

उ०– **अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के गुण–** अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली व्यवस्थापक मण्डल में अल्पमतों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने का एक सरल उपाय है। इस प्रणाली के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं—

(i) **कोई मत व्यर्थ नहीं जाता–** यह प्रणाली मताधिकार को सार्थक एवं व्यावहारिक बनाती है क्योंकि इसमें प्रत्येक मतदाता को अनेक उम्मीदवारों में से कुछ उम्मीदवारों को चुनने की स्वतंत्रता होती है। इसमें किसी मतदाता का मत व्यर्थ नहीं होता है, उससे किसी-न-किसी उम्मीदवार के निर्वाचन में सहायता अवश्य मिलती है।

(ii) **राजनीतिक शिक्षा की व्यवस्था–** अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा भी प्रदान करती है, क्योंकि मतदाताओं के लिए अपना मत देने से पहले विभिन्न उम्मीदवारों तथा विभिन्न दलों की नीतियों के विषय में विचार करना आवश्यक हो जाता है।

(iii) **व्यवस्थापिका का उच्च स्तर–** अनुपातिक प्रणाली के अन्तर्गत निर्वाचकगण उच्च आचरण एवं स्वतंत्र विचार वाले हो सकते हैं। परिणामस्वरूप उनके प्रतिनिधि स्वतंत्र रूप से चुने जाएँ और व्यवस्थापिका का स्तर उच्च हो, ऐसी आशा की जा सकती है।

(iv) **बहुमत की निरंकुशता का भय नहीं–** अनुपातिक प्रतिनिधित्व के अन्तर्गत व्यवस्थापिका में साधारणतया किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत नहीं हो पाता। इस प्रकार यह प्रणाली अल्पमत दलों को बहुमत दल के अत्याचारों से सुरक्षित करके शासन में उचित रूप से भाग लेने की क्षमता प्रदान करती है।

(v) **अधिक लोकतांत्रिक–** बहुत-से विद्वान इस पद्धति को अधिक लोकतांत्रिक मानते हैं, क्योंकि इसमें सभी वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है।

(vi) **सभी वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व–** यह प्रणाली प्रत्येक दल को उसकी शक्ति के अनुपात में ही प्रतिनिधित्व प्रदान करती है। इस प्रकार व्यवस्थापिका लोकमत का यथार्थ प्रतिविम्ब बन जाती है।

अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के दोष– सी०एफ० स्ट्राँग इस प्रणाली को सैद्धान्तिक रूप से श्रेष्ठ मानते हैं, परन्तु व्यवहार में इसे श्रेष्ठ नहीं मानते हैं।

यदि निर्वाचन का एकमात्र उद्देश्य केवल निर्वाचकों तथा निर्वाचन में भाग लेने वाले राजनीतिक दलों के बीच अनुपात की उचित व्यवस्था करना है तो यह प्रणाली वास्तव में निर्वाचन की आदर्श प्रणाली मानी जा सकती है, परन्तु व्यवस्थापिका को केवल विभिन्न दलों तथा वर्गों का प्रतिनिधित्व ही नहीं करना चाहिए अपितु अपने कर्त्तव्यों का भी सुचारु रूप से पालन करना चाहिए। इस दृष्टिकोण से अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के विरुद्ध अनेक तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनमें से कुछ तर्क निम्नलिखित हैं—

(i) **जटिल प्रणाली–** यह प्रणाली व्यावहारिक रूप से अत्यन्त जटिल है। इसकी सफलता के लिए मतदाताओं में और उनसे भी अधिक निर्वाचन अधिकारियों में उच्चकोटि के ज्ञान की आवश्यकता होती है। मतदाताओं को इसके नियम समझने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। साथ ही मतगणना अत्यन्त जटिल है, जिसमें भूल होने की भी अनेक सम्भावनाएँ हैं।

(ii) **उपचुनाव की व्यवस्था नहीं–** उपचुनाव में, जहाँ केवल एक प्रतिनिधि का चुनाव करना होता हैं, इस प्रणाली का प्रयोग असम्भव है।

(iii) **अनेक दलों और स्वार्थी गुटों का जन्म–** अनुपातिक प्रतिनिधित्व 'अल्पमत विचारधारा' को प्रोत्साहन देता है, जिसके परिणामस्वरूप वर्ग विशेष के हितों और स्वार्थों का जन्म होता है। इसके अन्तर्गत व्यवस्थापिका में किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत नहीं होता है और मिश्रित मन्त्रिमण्डल के निर्माण में छोटे-छोटे दलों की स्थिति महत्वपूर्ण हो जाती है। वे अपनी स्थिति का लाभ उठाते हुए स्वार्थपूर्ण वर्गहित में अपना समर्थन बेच देते हैं। परिणाम: सार्वजनिक जीवन की पवित्रता नष्ट हो जाती है।

(iv) **दलों की एकता नष्ट होती है–** यह प्रणाली बड़े राजनीतिक दलों की एकता नष्ट कर देती है, क्योंकि संकीर्ण हितों पर आधारित अनेक क्षेत्रीय अथवा स्थानीय दलों के निर्माण की प्रक्रिया तीव्र हो सकती है।

(v) **अस्थायी सरकारें–** इस पद्धति से सामान्यतया संयुक्त सरकारें बनती हैं और वे अस्थायी होती हैं।

(vi) **नेताओं के प्रभाव में वृद्धि–** अनुपातिक प्रणाली में, विशेषतया सूची प्रणाली में राजनीतिक दलों तथा नेताओं का प्रभाव एवं महत्व बहुत बढ़ जाता है और साधारण सदस्यों की स्वतंत्रता लगभग समाप्त हो जाती है।

(vii) **मतदाताओं तथा प्रतिनिधियों में संबंध नहीं–** बहुसदस्यीय क्षेत्र होने के कारण मतदाताओं और उनके प्रतिनिधियों में परस्पर कोई संबंध नहीं होता, क्योंकि निर्वाचन क्षेत्र काफी बड़े होते हैं। निर्वाचन क्षेत्र के विस्तृत हो जाने के कारण व्यय भी बढ़ जाता है।

उपर्युक्त दोषों के कारण ही कई राजनीतिक विद्वानों ने अनुपातिक प्रतिनिधित्व को अनुपयोगी और जटिल निर्वाचन प्रणाली माना है।

8. प्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण एवं दोषों का मूल्यांकन कीजिए।

उ०– **प्रत्यक्ष निर्वाचन–** यदि निर्वाचक प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करें, तो उसे प्रत्यक्ष निर्वाचन कहा जाता है। यह बिलकुल सरल विधि है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक मतदाता निर्वाचन स्थान पर विभिन्न उम्मीदवारों में से किसी एक उम्मीदवार के पक्ष में मतदान करता है और जिस उम्मीदवार को सर्वाधिक मत प्राप्त होते हैं, उसे विजयी घोषित कर दिया जाता है। हमारे देश में लोकसभा और राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों का निर्वाचन इसी प्रणाली के द्वारा होता है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण–

(i) **प्रजातन्त्रात्मक धारणा के अनुकूल–** यह जनता को प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अवसर देती है, अत: स्वाभाविक रूप से यह पद्धति प्रजातन्त्रीय व्यवस्था के अनुकूल है।

(ii) **मतदाता और प्रतिनिधि के मध्य सम्पर्क–** इस पद्धति में जनता अपने प्रतिनिधि को प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित करती है, अत: जनता और उसके प्रतिनिधि के बीच उचित सम्पर्क बना रहता है और दोनों एक-दूसरे की भावनाओं से परिचित रहते हैं। इसके अन्तर्गत जनता अपने प्रतिनिधियों के कार्य पर निगरानी और नियन्त्रण भी रख सकती है।

(iii) **राजनीतिक शिक्षा–** जब जनता अपने प्रतिनिधि को प्रत्यक्ष रूप से चुनती है तो विभिन्न दल और उनके उम्मीदवार अपनी नीति और कार्यक्रम जनता के सामने रखते हैं, जिससे जनता को बड़ी राजनीतिक शिक्षा मिलती है और उनमें राजनीति जागरूकता की भावना का उदय होता है। इससे सामान्य जनता को अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का अधिक अच्छे प्रकार से ज्ञान भी हो जाता है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन के दोष–

(i) **सामान्य निर्वाचक का मत त्रुटिपूर्ण–** आलोचकों का कथन है कि जनता में अपने मत का उचित प्रयोग करने की क्षमता नहीं होती। मतदाता अधिक योग्य और शिक्षित न होने के कारण नेताओं के झूठे प्रचार और जोशीले भाषणों के प्रभाव में आ जाते हैं और निकम्मे, स्वार्थी और भ्रष्ट उम्मीदवारों को चुन लेते हैं।

(ii) **सार्वजनिक शिक्षा का तर्क त्रुटिपूर्ण–** प्रत्यक्ष निर्वाचन के अन्तर्गत किया जाने वाला निर्वाचन अभियान शिक्षा अभियान नहीं होता, अपितु यह तो निन्दा, कलंक और झूठ का अभियान होता है।

(iii) **अपव्ययी और अव्यवस्थाजनक–** इस प्रकार के चुनाव पर बहुत अधिक खर्च आता है और बड़े पैमाने पर इसका प्रबन्ध करना होता है।

इकाई-4

9 राष्ट्रवाद तथा अन्तर्राष्ट्रवाद, गुटनिरपेक्षता की अवधारणा
(Nationalism and Internationalism, Concept of Non-alignment)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 143 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 143 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रवाद के दो कारक लिखिए।

उ०– राष्ट्रवाद के दो कारक निम्नलिखित हैं—

(i) **भौगोलिक एकता–** भौगालिक एकता राष्ट्रवाद का एक सहायक कारक है। समान भौगोलिक परिस्थितियों में रहने के कारण लोगों की आवश्यकताएँ एवं समस्याएँ भी समान होती हैं।

(ii) **भाषा की एकता–** समान भाषा-भाषी देशों में समान विचार एवं साहित्य का सृजन होता है। समान रीति रिवाज एवं समान रहन-सहन के कारण लोगों में राष्ट्रीयता की भावना का उदय होता है।

2. राष्ट्रवाद के दो गुण बताइए।

उ०– राष्ट्रवाद के दो गुण हैं—

(i) **देश प्रेम की भावना–** राष्ट्रवाद या राष्ट्रीयता की भावना लोगों में देश प्रेम का भाव उत्पन्न करती है।

(ii) आत्म-सम्मान की भावना– राष्ट्रवाद व्यक्ति में आत्म-सम्मान की भावना जागृत करता है और इससे आत्म गौरव के सम्मान हेतु सुरक्षा की प्रेरणा को बल मिलता है।

3. राष्ट्रीयता के विकास में दो उत्तरदायी तत्वों का उल्लेख कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए लघुउत्तरीय प्रश्न संख्या– 1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

4. राष्ट्रीयता के मार्ग में दो बाधाओं का उल्लेख कीजिए।

उ०– राष्ट्रीयता के मार्ग में दो बाधाएँ निम्नवत् हैं–

(i) देशभक्ति की भावना का अभाव– जिस देश के नागरिकों में देशभक्ति का अभाव होता है, उस देश में राष्ट्रीयता का विकास नहीं हो पाता है। ऐसा देश दूसरे देश के अधीन होकर अपनी स्वतन्त्रता खो देता है।

(ii) साम्प्रदायिकता की भावना– साम्प्रदायिकता की भावना से शत्रुता, फूट, मतभेद, द्वेष आदि भावनाएँ जन्म लेती हैं, जो राष्ट्रीयता की प्रबल विरोधी हैं।

5. राष्ट्रवाद के मार्ग की बाधाओं को दूर करने के चार उपाय लिखिए।

उ०– राष्ट्रवाद के मार्ग की बाधाओं को दूर करने के चार उपाय निम्नवत् हैं–

(i) शिक्षा का व्यापक स्तर पर प्रचार तथा प्रसार किया जाना चाहिए तथा शिक्षा-व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए।

(ii) संकुचित भावनाओं का त्याग और देशप्रेम या देशभक्ति की प्रबल भावना का विकास किया जाना चाहिए।

(iii) देशभर में परिवहन तथा संचार के साधनों का पर्याप्त विकास किया जाना चाहिए।

(iv) देश के विभिन्न भागों में भावात्मक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ाने के लिए प्रयास किए जाने चाहिए।

6. अन्तर्राष्ट्रीयता से आप क्या समझते हैं? इसे संक्षेप में समझाइए।

उ०– अन्तर्राष्ट्रीयता का तात्पर्य **विश्व-प्रेम**, **विश्व बन्धुत्व** एवं **वसुधैव कुटुम्बकम** की भावना से ओतप्रोत होना है अन्तर्राष्ट्रीयता वह भावपूर्ण स्थिति है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने को विश्व का नागरिक मानता है। यद्यपि ब्लॉक निकृष्ट भावनाएँ-संकुचित राष्ट्रीयता, राष्ट्रों की स्वार्थपूर्ण नीति, विभिन्न राजनीतिक विचारधाराएँ, देश के प्रति मोह आदि अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती है, परन्तु फिर भी आज के बदलते परिवेश और विभिन्न प्रकार के विकासों के प्रति अन्यान्योश्रितता की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीयता के महत्व पर पर्याप्त बल दिया जा रहा है।

7. अन्तर्राष्ट्रीयता की दो विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उ०– (i) विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक वैमनस्य तथा द्वेष का अन्त होता है।

(ii) विश्व के राष्ट्रों के मध्य शान्तिपूर्ण सहयोग में वृद्धि होती है।

8. अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्ष में दो तर्क दीजिए।

उ०– अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्ष में दो तर्क निम्नवत् हैं–

(i) दो विश्व-युद्धों के भयानक परिणाम को देखने के बाद विश्व का प्रत्येक देश अपनी सभ्यता और संस्कृति की रक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीयता को महत्व दे रहा है।

(ii) विश्व समस्याओं जैसे– पर्यावरण प्रदूषण की समस्या, आतंकवाद, तथा भयंकर बीमारियाँ, निशस्त्रीकरण आदि समस्याओं के समाधान के लिए विश्व के सभी राष्ट्रों के लिए अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का होना अति आवश्यक है।

9. अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक किन्हीं चार तत्वों का वर्णन कीजिए।

उ०– अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक चार तत्व निम्नवत् हैं–

(i) सांस्कृतिक एकता– एक देश की संस्कृति सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित हो जाती है। जैसे एक देश का साहित्य, खान-पान, जीवन-शैली, वेश भूषा, भाषा इत्यादि। अत: प्रत्येक देश का नागरिक अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना से जुड़ा हुआ है।

(ii) आर्थिक निर्भरता– विश्व का प्रत्येक देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से एक-दूसरे से परस्पर संबंधित है, जो अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक है।

(iii) यातायात और संचार साधनों में प्रगति– यातायात और संचार साधनों में क्रान्तिकारी परिवर्तनों ने विभिन्न देशों के बीच की दूरी कम कर दी है। फलस्वरूप विश्व के देशों में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना में वृद्धि हुई है।

(iv) विश्व बन्धुत्व की भावना– सभी धर्मो का सार मानवता और विश्व बन्धुत्व की धारणा पर आधारित है, इसने अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में बहुत योगदान दिया है।

10. अन्तर्राष्ट्रीयता की दो बाधाओं का उल्लेख करें।

उ०– उत्तर के लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या–4 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

11. संयुक्त राष्ट्र के दो कार्य लिखिए।

उ०– संयुक्त राष्ट्र के दो कार्य हैं—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था करना।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक एवं मानवीय समस्याओं को सुलझाने में सहयोग देना।

12. संयुक्त राष्ट्र के किन्हीं चार अंगों का नाम अंकित कीजिए।

उ०– संयुक्त राष्ट्र के चार अंगों के नाम निम्नलिखित हैं—

(i) साधारण सभा (ii) सुरक्षा परिषद्

(iii) आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् (iv) न्याय या संरक्षण परिषद्

13. संयुक्त राष्ट्र के दो प्रमुख उद्देश्यों को लिखिए।

उ०– संयुक्त राष्ट्र के दो प्रमुख उद्देश्य हैं—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा एवं शान्ति बनाए रखना

(ii) समस्त मानव जाति के अधिकारों का सम्मान करना।

14. संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् में भारत की स्थायी सदस्यता के पक्ष में दो तर्क दीजिए।

उ०– संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् में भारत की स्थायी सदस्यता के पक्ष में दो तर्क निम्न हैं—

(i) भारत संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना करने वाला एक संस्थापक सदस्य है।

(ii) भारत ने सदैव संयुक्त राष्ट्र संघ के आदेशों का पूर्णत: पालन किया है।

15. गुटनिरपेक्षता की नीति की चार विशेषताएँ लिखिए।

उ०– गुटनिरपेक्षता की नीति की चार विशेषताएँ निम्नवत् हैं—

(i) शान्ति एवं सद्भावना की नीति का विस्तार करना।

(ii) स्वतंत्र विदेश नीति का निर्धारण करना।

(iii) साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, शोषण एवं आधिपत्य का विरोध करना।

(vi) विकासशील नीति का अनुसरण करना।

16. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के किन्हीं दो लाभों का उल्लेख कीजिए।

उ०– गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के दो लाभ निम्नवत् हैं—

(i) गुटनिरपेक्षता ने तृतीय विश्व युद्ध की सम्भावना को समाप्त करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

(ii) गुटनिरपेक्षता ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को व्यापक रूप से प्रभावशाली बनाया है।

17. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के चार आधारभूत तत्वों का उल्लेख कीजिए।

उ०– गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के चार आधारभूत तत्व निम्नवत् हैं—

(i) राष्ट्रवाद की भावना (ii) साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध

(iii) शान्ति के लिए तीव्र इच्छा (iv) आर्थिक विकास की लालसा

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रीयता की परिभाषा दीजिए। राष्ट्रीयता के विकास में बाधक तत्वों पर प्रकाश डालिए।

उ०– **राष्ट्रीयता की परिभाषा–** राष्ट्रीयता एक ऐसी भावना है जो किसी भी देश के लोगों को उनकी एकता और अखण्डता के सूत्र में बाँधे रहती है और अपने देश और देशवासियों के प्रति सद्भावपूर्वक रहने की भावना को जागृत करती है।

राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद के विकास में बाधाएँ– राष्ट्रीय भावना के विकास में निम्नलिखित बाधाएँ उपस्थित होती हैं—

(i) देशभक्ति की भावना का अभाव– जिस देश के नागरिकों में देशप्रेम का अभाव होता है, उस देश में राष्ट्रीयता का विकास होना असम्भव है। ऐसा देश अल्प समय में ही दूसरे देश के अधीन होकर अपनी स्वतंत्रता खो बैठता है।

(ii) साम्प्रदायिकता की भावना– किसी वर्ग-विशेष द्वारा अपने स्वार्थों को महत्व देना और दूसरे वर्ग या वर्गों के हितों की उपेक्षा करना या उन्हें नीचा दिखाने की प्रवृत्ति साम्प्रदायिकता कहलाती है। साम्प्रदायिकता से शत्रुता, फूट, मतभेद, द्वेष आदि भावनाएँ जन्म लेती हैं, जो राष्ट्रीयता की प्रबल विरोधी है।

(iii) जातिवाद तथा भाषावाद– सम्प्रदायवाद के समान ही जातिवाद और भाषावाद भी राष्ट्रीयता के विकास में बड़ी बाधा है। जातिवाद विभिन्न जातियों के बीच कटुता और घृणा का भाव उत्पन्न करता है तथा भाषावाद लोगों में एकता की भावना को खण्डित करता है। इस कारण विभिन्न जाति व भाषायी लोगों में राष्ट्रीयता की भावना विकसित नहीं हो पाती है।

(iv) अज्ञानता और अशिक्षा– राष्ट्रीय भावना के विकास में प्रमुख बाधक तत्व अज्ञानता और अशिक्षा हैं। शिक्षा के अभाव में व्यक्ति का दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है ओर वह राष्ट्रहित के स्थान पर व्यक्तिगत हित को सर्वोपरि समझने लगता है। इस कारण ऐसे संकुचित दृष्टिकोण वाले व्यक्ति राष्ट्रीयता के विकास में बाधक सिद्ध होते हैं।

(v) **आवागमन के अच्छे साधनों का अभाव–** आवागमन के अच्छे साधनों के अभाव में देश के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों के मध्य सम्पर्क स्थापित नहीं हो पाता है। इस सम्पर्क के अभाव में उस पारस्परिक एकता का जन्म नहीं हो पाता, जो राष्ट्रीयता का मूल आधार है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से अब विकसित एवं विकासशील देशों में आवागमन के अच्छे साधनों का अभाव नहीं रह गया है।

(vi) **क्षेत्रीयता की भावना–** क्षेत्रीयता की भावना राष्ट्रीयता के विकास के लिए अत्यन्त घातक है। इस भावना के कारण एक क्षेत्र में रहने वाले लोग दूसरे क्षेत्रों में रहने वाले लोगों से घृणा करने लगते हैं। इसी कारण बंगाली, मराठी, मद्रासी, पंजाबी जैसी क्षेत्रीय धारणाएँ विकसित होती हैं, जो राष्ट्रीयता के विकास को अवरुद्ध कर देती हैं। भारत में नए राज्यों के गठन की माँग उग्र क्षेत्रवाद की भावना का ही परिणाम है।

(vii) **पराधीनता–** पराधीनता सभी बुराईयों की जड़ है। पराधीन व्यक्ति अपने देश या राष्ट्र के लिए न कुछ सोच सकता है और न कुछ कर सकता है। इसलिए पराधीनता राष्ट्रीयता के मार्ग की सबसे बड़ी अवरोधक है।

2. राष्ट्रीयता की परिभाषा दीजिए और राष्ट्र एवं राज्य में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उ०– **राष्ट्रीयता–** राष्ट्रीयता एक ऐसी भावना है, जो किसी भी देश के लोगों को उनकी एकता और अखण्डता के सूत्र में बाँधे रहती है और अपने देश और देशवासियों के प्रति सद्‌भावपूर्ण रहने की भावना को जागृत करती है।

राज्य और राष्ट्र में अन्तर– साधारणतया राज्य और राष्ट्र दोनों शब्दों का प्रयोग समानार्थक शब्दों के रूप में किया जाता है। उदाहरण के लिए, जब हम 'पश्चिमी देश' या 'एशियाई राष्ट्र' या 'अफ्रीकी राष्ट्र' कहते हैं, तो इनसे हमारा मतलब राष्ट्र नहीं बल्कि राज्य है। इसी प्रकार 'संयुक्त राष्ट्र' वास्तव में राष्ट्र-राज्यों का एक संगठन है। प्रत्येक आधुनिक राज्य एक राष्ट्र-राज्य है। इसके बावजूद राज्य और राष्ट्र में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर हैं, जो निम्नलिखित है—

(i) **राज्य और राष्ट्र के तत्व अलग-अलग हैं–** जनसंख्या, क्षेत्र, सरकार और सम्प्रभुता ये राज्य के चार आवश्यक तत्व हैं। इनमें से किसी एक तत्व की अनुपस्थित में कोई राज्य वास्तविक राज्य नहीं हो सकता है। ये चार तत्व सदैव एक राज्य के चारित्रिक गुण होते हैं। जबकि एक राष्ट्र लोगों के समूह की एकता और आम चेतना की प्रबल भावना है। एक क्षेत्र, एक जाति, एक धर्म, एक भाषा, एक इतिहास, एक संस्कृति और समान राजनीतिक आकांक्षाएँ ऐसे तत्व हैं, जो एक राष्ट्र के गठन में सहायक हैं परन्तु इनमें से कोई भी आवश्यक तत्व नहीं है। एक राष्ट्र का निर्माण करने वाले तत्व बदलते रहते हैं।

(ii) **राज्य एक राजनीतिक संगठन है जबकि राष्ट्र भावनात्मक एकता है–** राज्य एक राजनीतिक संगठन है जो अपने लोगों की सुरक्षा और कल्याणकारी आवश्यकताओं को पूरा करता है। यह बाह्य मानव क्रियाओं के साथ संबंध है यह एक कानूनी इकाई है। दूसरी तरफ एक राष्ट्र जनसंख्या की एकजुट इकाई है जो भावनात्मक, आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक बंधनों से भरा है।

(iii) **राज्य का क्षेत्र निश्चित होता है, राष्ट्र का नहीं–** प्रत्येक राज्य के लिए एक निश्चित क्षेत्र का होना आवश्यक है, यह राज्य का भौतिक तत्व है। राज्य एक क्षेत्रीय इकाई है लेकिन किसी राष्ट्र क्षेत्र के लिए यह आवश्यक नहीं है। एक देश एक निश्चित क्षेत्र के बिना भी जीवित रह सकता है। एक सामान्य मातृभूमि का प्यार एकता के स्रोत के रूप में कार्य करता है। उदाहरण के लिए, 1948 से पहले यहूदियों का एक राष्ट्र था, हालांकि उनके पास कोई निश्चित क्षेत्र नहीं था। जब 1948 में, उन्होंने एक निश्चित और परिभाषित क्षेत्र हासिल किया और इजरायल राज्य की स्थापना की।

(iv) **सम्प्रभुता राज्य के लिए आवश्यक है, राष्ट्र के लिए नहीं–** सम्प्रभुता राज्य का एक अनिवार्य तत्व है, यह राज्य की आत्मा है। सम्प्रभुता की अनुपस्थिति में, राज्य अपने अस्तित्व को खो देता है। यह सम्प्रभुता का तत्व ही राज्य को लोगों के अन्य सभी संगठनों से भिन्न बनाता है। एक राष्ट्र के लिए सम्प्रभुता रखने की आवश्यकता नहीं है।

एक राष्ट्र की बुनियादी आवश्यकता अपने लोगों के बीच भावनात्मक एकता का मजबूत बंधन है जो समान सामाजिक व सांस्कृतिक तत्वों के कारण विकसित होती है। 1947 से पहले, भारत एक राष्ट्र था, लेकिन राज्य नहीं था क्योंकि इसकी संप्रभुता नहीं थी। (राज्य = राष्ट्र + सम्प्रभुता)

1947 में आजादी के बाद, भारत एक राज्य बन गया क्योंकि ब्रिटिश शासन के अंत के बाद यह एक सार्वभौमिक संस्था बन गई। हालांकि, प्रत्येक देश हमेशा दूसरे देश के नियंत्रण से स्वतंत्र होने की इच्छा रखते हैं।

(v) **राष्ट्र राज्य की तुलना में व्यापक हो सकता है–** राज्य एक निश्चित क्षेत्र तक ही सीमित है। इसकी सीमाएँ बढ़ सकती हैं या घट सकती हैं लेकिन परिवर्तन की प्रक्रिया हमेशा बहुत जटिल है। हालांकि एक राष्ट्र एक निश्चित क्षेत्र की सीमा के भीतर नहीं रह सकता है। राष्ट्र आम जातीयता, इतिहास और परंपराओं और आकांक्षाओं पर आधारित एक समुदाय है। किसी राष्ट्र की सीमाएँ राज्य की सीमाओं से परे विस्तार कर सकती हैं। उदाहरण के लिए, फ्रांसीसी राष्ट्र बेल्जियम की सीमाएँ स्विट्जरलैंड और इटली तक भी फैली हुई हैं क्योंकि इन देशों के लोग उसी जाति के हैं, जिनसे फ्रांस का संबंध है।

(vi) **एक राज्य में दो या अधिक राष्ट्रीयताएँ रह सकती हैं–** एक राज्य के भीतर दो या दो से अधिक राष्ट्र हो सकते हैं। प्रथम विश्व युद्ध से पहले, ऑस्ट्रिया और हंगरी एक राज्य थे, लेकिन दो अलग-अलग राष्ट्र आधुनिक राज्यों में से अधिकांश बहुराष्ट्रीय राज्य हैं।

(vii) **राष्ट्र राज्य की तुलना में अधिक स्थिर है–** एक राष्ट्र, राज्य की तुलना में अधिक स्थिर है। जब सम्प्रभुता समाप्त होती है, राज्य मर जाता है, लेकिन राष्ट्र नहीं। एक राष्ट्र बिना सम्प्रभुता के भी जीवित रह सकता है उदाहरण के लिए, द्वितीय विश्व युद्ध में हार के बाद, जर्मनी और जापान दोनों ने अपनी सार्वभौमिक स्थितियों को खो दिया और बाहर की शक्तियों ने उन्हें नियंत्रित करना शुरू कर दिया। राज्यों के रूप में उनका अस्तित्व समाप्त हो गया। लेकिन राष्ट्रों के रूप में वे रहना जारी रखते रहे। कुछ महीनों के बाद उनकी सार्वभौमिक प्रतिष्ठा वापस आ गई और सार्वभौमिक स्वतंत्र राज्य बन गए।

(viii) **एक राज्य बनाया जा सकता है, जबकि एक राष्ट्र हमेशा विकास का नतीजा है–** एक राज्य को लोगों के सचेतन प्रयासों से बनाया जा सकता है। एक राज्य के जन्म में भौतिक तत्व महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उदाहरण के लिए, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद, जर्मनी को दो अलग-अलग राज्यों पश्चिम जर्मनी और पूर्वी जर्मनी में विभाजित किया गया लेकिन जर्मन भावनात्मक रूप से एक राष्ट्र के रूप में बने रहे।

आखिरकार अक्टूबर 1990 में जर्मनी फिर से ही ही राज्य में एकजुट हुआ। 1947 में पाकिस्तान को भारत से अलग राज्य के रूप में बनाया गया था। एक राष्ट्र उन लोगों की एकता है जो धीरे-धीरे और स्थिर रूप से उभरता है। किसी राष्ट्र के निर्माण में कोई खास प्रयास नहीं किए जाते।

(ix) **राज्य अपनी एकता और अखंडता को संरक्षित करने के लिए पुलिस शक्ति (बल) का उपयोग करता है, राष्ट्र मजबूत सांस्कृतिक और ऐतिहासिक सम्बन्धों के द्वारा बाध्य है–** राज्य में पुलिस शक्ति होती है। जो लोग इसकी अवज्ञा करने की हिम्मत करते हैं उन्हें राज्य द्वारा दंडित किया जाता है। एक राष्ट्र में पुलिस शक्ति या बल नहीं होता है, यह नैतिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक शक्ति द्वारा समर्थित है लोगों की एकता की भावना की शक्ति पर एक राष्ट्र जीवित रहता है। राष्ट्र अपील करता है, राज्य आदेश करता है। एक राष्ट्र बहिष्कार करता है, राज्य सजा देता है। राज्य एक राजनीतिक संगठन है, जबकि राष्ट्र एकता है।

3. राष्ट्रीयता की परिभाषा दीजिए तथा इसके विभिन्न पोषक तत्वों की विवेचना कीजिए।

उ०– **राष्ट्रीयता–** इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—2 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

राष्ट्रीयता के पोषक तत्व–राष्ट्रीयता की भावना के विकास अथवा राष्ट्रीयता के निर्माण में विभिन्न तत्व सहायक होते हैं। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(i) **भौगोलिक एकता–** भौगोलिक एकता राष्ट्रीय एकता का प्रेरणा-स्रोत है। जब लोग समान भौगोलिक परिस्थितियों में निवास करते हैं जो उनकी आवश्यकताएँ एवं समस्याएँ भी समान ही होती हैं। अत: वे मिल-जुलकर समान ढंग से अपनी समस्याएँ सुलझाने के लिए सामने आते हैं। इसके परिणामस्वरूप उनमें एकता की भावना उत्पन्न होती है, यह भावना ही कालान्तर में राष्ट्रीयता का प्रतीक बनती है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि भौगोलिक एकता राष्ट्रीयता का एक सहायक तत्व हैं। अत: इसे अनिवार्य तत्व नहीं माना जाना चाहिए।

(ii) **धार्मिक एकता–** धार्मिक एकता भी राष्ट्रीयता के विकास तथा निर्माण में वृद्धि करती है। इतिहास में इस बात के प्रमाण हैं कि धार्मिक भिन्नता के कारण ही कई देशों में अत्यधिक रक्तपात हुआ है। धार्मिक भिन्नता के आगे राष्ट्रीयता की भावना दुर्बल पड़ जाती है, जिसके परिणामस्वरूप दो भिन्न धर्मावलम्बी राष्ट्रों के मध्य युद्ध होते हैं। इसीलिए प्रसिद्ध विद्वान रैम्जे म्योर ने लिखा है— ''कुछ मामलों में धार्मिक एकता राजनीतिक एकता के निर्माण में शक्तिशाली योग देती है, जबकि कुछ दूसरे मामलों में धार्मिक भिन्नता उसके मार्ग में बाधाएँ उपस्थित करती है।''

(iii) **राजनीतिक एकता–** समान राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत रहने वाले लोग भी एकता का अनुभव करते हैं। इसके अतिरिक्त, वे समान राजनीतिक व्यवस्था के परिणामस्वरूप मानसिक एकता का भी अनुभव करते हैं, जो कालान्तर में राष्ट्रीयता के निर्माण में सहायक होती है। इसके साथ ही कठोर विदेशी शासन भी राष्ट्रीयता के निर्माण में सहायक सिद्ध होता है।

(iv) **भाषा की एकता–** राष्ट्रीयता के विकास में भाषा की एकता का भी विशेष महत्व है। समान भाषा-भाषी देशों में समान विचार एवं समान साहित्य का सृजन होता है। उनके समान रीति-रिवाज एवं समान रहन-सहन के कारण उनमें समान राष्ट्रीयता की भावना का जन्म होता है। प्राय: देखा जाता है कि एक ही जाति तथा एक ही क्षेत्र में रहने वाले व्यक्ति एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं जिससे उसमें राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत होती है।

(v) **समान ऐतिहासिक परम्पराएँ–** ऐतिहासिक घटनाओं एवं स्मृतियों का भी राष्ट्रीयता के विकास में अत्यधिक महत्व होता है। विजय औरा पराजय की स्मृतियाँ, सामाजिक विकास के आदर्श, सांस्कृतिक उत्थान-पतन का संकलित इतिहास राष्ट्रीयता के विकास में पर्याप्त सहायक है। **सम्राट् अशोक**, **चाणक्य**, **अकबर**, **शिवाजी**, **सुभाषचन्द्र बोस** आदि की गौरवगाथा पढ़ने से समस्त भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना का संचार होता है।

(vi) **संस्कृति की एकता–** सांस्कृतिक एकता राष्ट्रीयता के प्रमुख तत्वों में से एक है। संस्कृति के अन्तर्गत एक निश्चित भू-भाग में निवास करने वाले व्यक्तियों की प्राचीन परम्पराएँ, रीति-रिवाज, साहित्य इत्यादि सम्मिलित होती हैं। समान संस्कृति के आधार पर समान विचार, समान आदर्श तथा समान प्रवृत्तियों का जन्म होता है, जो राष्ट्रीयता के निर्माण में सहायक सिद्ध होती है।

(vii) **सामान्य आर्थिक हित–** आधुनिक काल में राष्ट्रीयता के निर्माण में आर्थिक तत्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। भारत के परिप्रेक्ष्य में रोजगार प्राप्त करने में सभी का सामान्य आर्थिक हित है। अत: इस दिशा में किए जाने वाले प्रयास राष्ट्रीय एकता के प्रयास के अन्तर्गत आते हैं।

(viii) **जातीय एकता–** जातीय एकता भी राष्ट्रीयता के विकास में सहायक होती है। एक जाति के लोग समान संस्कारों एवं रीति-रिवाजों के कारण एक संगठन में बँधे रहते हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनमें एकता की भावना का उदय होता है। **जिमर्न** ने इसे सर्वप्रमुख तत्व माना है, जबकि **ब्राइस** इसे प्रमुख तत्व मानता है।

(ix) **अन्य तत्व–** समान सिद्धान्तों में आस्था, सामान्य आपदाएँ, युद्ध, लोकमत एवं सामूहिक एकता की चेतना भी राष्ट्रीयता के विकास में सहायक सिद्ध होती है। सामान्य आपदाओं जैसे गुजरात में आए भूकम्प और उत्तराखण्ड में आई आपदा के समय राष्ट्र के सभी क्षेत्रों से की गई सहायता इस बात का प्रतीक है कि हमारे अन्दर राष्ट्रीयता की भावना का एक महान् गुण विद्यमान है।

4. राष्ट्रवाद से आप क्या समझते हैं? इसकी मुख्य विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

उ०– **राष्ट्रवाद (राष्ट्रीयता)–** राष्ट्रवाद एक भावनात्मक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है, जो लोगों को एकता के सूत्र में बाँधती है। इस भावना के कारण लोग अपने राष्ट्र से प्रेम करते हैं और संकट आने पर की स्थिति में अपने तन, मन और धन का बलिदान करने से पीछे नहीं हटते हैं।

राष्ट्रवाद की मुख्य विशेषताएँ– राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद दोनों एक ही नाम है, अत: इनके प्रमुख गुण या विशेषताएँ निम्न प्रकार से हैं—

(i) **देशप्रेम की भावना–** राष्ट्रीयता की भावना लोगों में देशप्रेम का भाव उत्पन्न करती है और उन्हें देश के हित के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए प्रेरित करती है। यह प्रेरणा राष्ट्रीय पर्वों के आयोजन, राष्ट्रगान तथा राष्ट्रीय गीतों, नाटकों आदि से अधिक व्यापक होती है।

(ii) **सांस्कृतिक विकास–** राष्ट्रीयता देश के सांस्कृतिक विकास को गति प्रदान करती है। प्राचीन **यूनान** के महाकवि **होमर**, **इटली** के **दान्ते**, **फ्रांस** के **वॉल्टेयर**, **इंग्लैण्ड** के **टेनीसन**, **शैली**, **टॉमस पेन**, **जर्मनी** के **हीगल** और **भारत** के **मैथिलीशरण गुप्त** व **रामधारी सिंह दिनकर** ने राष्ट्रीयता से प्रेरित होकर ही साहित्यिक रचनाएँ की हैं।

(iii) **आत्म-सम्मान की भावना–** राष्ट्रीयता व्यक्ति में आत्म-सम्मान का गुण जागृत करती है और इससे आत्म-गौरव के सम्मान हेतु सुरक्षा की प्रेरणा को बल मिलता है।

(iv) **राजनीतिक एकता की स्थापना में योगदान–** राष्ट्रीयता की भावना राजनीतिक एकता की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान देती है। राष्ट्रीयता से प्रेरित होकर ही विभिन्न जातियों व धर्मों के लोग एकता के सूत्र में संगठित होते हैं और एक शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण करते हैं।

(v) **राज्यों को स्थायित्व–** राष्ट्रीयता राज्यों को स्थायित्व भी प्रदान करती है। राष्ट्रीय चेतना के आधार पर निर्मित राज्य अधिक स्थायी सिद्ध होते हैं।

(vi) **विश्वबन्धुत्व की पोषक–** राष्ट्रीयता व्यक्ति के दृष्टिकोण को व्यापक बनाकर अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री और सहयोग को प्रोत्साहन प्रदान करती है। इस प्रकार राष्ट्रीयता विश्वबन्धुत्व की पोषक भी है। उदाहरण के लिए भारत का पंचशील सिद्धान्त **वसुधैव कुटुम्बकम्** का पोषक है।

(vii) **आर्थिक विकास में योगदान–** राष्ट्रीयता राष्ट्र के आर्थिक विकास को भी प्रोत्साहित करती है। राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर ही व्यक्ति अपने राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बनाने के लिए एकजुट होकर कार्य करती हैं।

(viii) **उदारवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करना–** राष्ट्रीयता आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को मान्यता देती है। इसलिए राष्ट्रीयता मानवीय स्वतंत्रता को स्वीकार कर उदारवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करती है।

5. ''स्वस्थ राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की आधारशिला है।'' इस कथन के आधार पर राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के संबंधों की व्याख्या कीजिए।

उ०– **राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता में सम्बन्ध–** राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता वाद का पारस्परिक सम्बन्ध वर्तमान समय की एक महत्वपूर्ण समस्या है। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में दो परस्पर विरोधी धारणाएँ प्रचलित हैं। प्रथम और मात्र सतही अध्ययन पर आधारित धारणा के अन्तर्गत राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीय वाद को परस्पर विरोधी कहा जाता है। इस श्रेणी के विचारकों का कथन है कि राष्ट्रवाद का तात्पर्य व्यक्ति को अपने देश के प्रति अन्नयतापूर्ण प्रेम है, जबकि अन्तर्राष्ट्रवाद का आशय है कि व्यक्ति अपने आप को सम्पूर्ण मानवीय जगत का एक सदस्य समझकर सम्पूर्ण मानवीय जगत के प्रति आस्था रखे।

अन्तर्राष्ट्रीयवाद का तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्ति अपने राष्ट्र के प्रति निष्ठा न रखे। अन्तर्राष्ट्रवाद राज्यों के विलय या अन्त की माँग नहीं करता, वरन् यह तो केवल यह चाहता है कि राष्ट्रीय हितों को मानवता के व्यापक हितों के साथ इस प्रकार से समन्वित किया जाए कि सभी राष्ट्र समानता और पारस्परिक सहयोग के आधार पर शान्तिपूर्ण, सुख और समृद्धि का जीवन व्यतीत कर सकें। **हेज** के शब्दों में, ''आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय विश्व का तात्पर्य सर्वोत्कृष्ट स्थिति वाले राष्ट्रों के एक विश्व से ही है।'' अत: स्वस्थ्य

राष्ट्रीयता के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीयता का सफल संगठन हो सकता है। एक सफल अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राष्ट्रीयता की स्वस्थ भावना पर ही निर्भर करता है।

राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद परस्पर विरोधी नहीं, वरन् राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद की भूमिका या उसका प्रथम चरण है। **जोसेफ** के शब्दों में कहा जा सकता है कि, ''राष्ट्रीयता व्यक्ति को मानवता से मिलाने वाली आवश्यक कड़ी है। ''**महात्मा गाँधी** भी इस प्रकार का विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि ''मेरे विचार से बिना राष्ट्रवादी हुए अन्तर्राष्ट्रवादी होना असंभव है। अन्तर्राष्ट्रवाद तभी सम्भव हो सकता है, जबकि राष्ट्रवाद एक यर्थात बन जाए।''

प्रबुद्ध **मनीषी लास्की** लिखते है ''यूरोप का मानसिक जीवन सीजर और नेपोलियन का नहीं, ईसा का है, पूर्व की सभ्यता पर चंगेज खाँ और अकबर की अपेक्षा बुद्ध का प्रभाव कहीं अधिक गहरा और व्यापक है। अगर हमें जीना है, तो इस सत्य को सीखना-समझना पड़ेगा। घृणा को प्रेम से जीता जाता है, असद् को सद से, अधर्मता का परिणाम भी उसी जैसा होता है।''

6. राष्ट्रवाद के अर्थ को स्पष्ट कीजिए। यह किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता से सम्बन्धित है?

उ०– राष्ट्रवाद के लिए प्रश्न संख्या—4 तथा इसके अन्तर्राष्ट्रीयता से सम्बन्ध के लिए प्रश्न संख्या—5 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

7. क्या उग्र राष्ट्रवाद विश्व-शान्ति के मार्ग की बाधा है? व्याख्या कीजिए।

उ०– राष्ट्रवाद को साम्राज्यवाद की आधारशिला कहा जाता है। क्योंकि विकृत राष्ट्रवाद से ही साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति जन्म लेती है तथा उसी भावना से प्रेरित एक राष्ट्र के कर्णधार अन्य राष्ट्रों को अपने अधीन करने का प्रयास करते हैं। इस बात को विश्वकवि रविन्द्र नाथ टैगोर ने भी स्वीकार किया है। उनका कथन है कि ''राष्ट्रवाद ही साम्राज्यवाद की जड़ है, जो कि शिकार की तलाश में घूमा करते हैं। एशिया और अफ्रीका की जातियाँ राष्ट्र नहीं थी, इसलिए शान्तिप्रिय थीं और संगठन की दृष्टि से कमजोर थीं। यही कारण है कि वह पश्चिम की बर्बर अकर्मण्यता का शिकार बन गयी।''

अत: राष्ट्रीयता अपना शुद्ध रूप शुद्ध छोड़ देती है, तो साम्राज्यवाद में परिणित हो जाती है। साम्राज्यवाद के कारण विभिन्न राज्यों में साम्राज्य बढ़ने की स्पर्द्धा बढ़ती है। यह स्पर्द्धा अंत में राष्ट्रों में सहयोग तथा मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के लिए घातक बन जाती है। उनकी साम्राज्य लिप्सा का अंतिम परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष तथा युद्ध होता है इस प्रकार अशुद्ध राष्ट्रीयता विश्वशान्ति की शत्रु है। पंड़ित जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही लिखा है, ''राष्ट्रीयता एक ऐसा विचित्र तत्व है, जो एक देश के इतिहास में जीवन, विकास, शक्ति और एकता का संचार करता है, वह संकुचित भी बनता है, क्योंकि इसके कारण ही व्यक्ति अपने देश के बारे में विश्व के अन्य देशों से अलग रूप में सोचता है।'' संकुचित राष्ट्रीयता के परिणाम स्वरूप ही विश्व को दो प्रलयकारी महायुद्धों का सामना करना पड़ा तथा आज वह तृतीय विश्वयुद्ध के संभावित संकट से ग्रसित है। विश्व के सभी देशों के राजनीतिज्ञ इस बात का अनुभव करते हैं कि ''यदि मानव जाति को विनाश से बचना है, तो अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना का विकास करना नितान्त आवश्यक है।'' इस सन्दर्भ में एक प्रसिद्ध विद्वान का यह कथन उल्लेखनीय है ''भयंकर विनाशकारी परिणाम वाले दो विश्वयुद्धों ने कम-से-कम यह सिद्ध कर दिया है कि क्षुद्र एवं आक्रमणकारी राष्ट्रीयता के संकीर्ण बन्धनों को तोड़ डालना चाहिए और प्रेम, दया तथा सहानुभूति पर आधारित मानव सम्बन्धों का विकास करने के लिए मानव जाति के स्वतन्त्र संघ का निर्माण किया जाना चाहिए।''

वास्तव में उग्र राष्ट्रीयता अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुई है, किन्तु इस बात में भी कोई संदेह नहीं है कि इसका विशुद्ध रूप अत्यन्त लाभदायक भी सिद्ध हुआ है।

8. अन्तर्राष्ट्रीयता से आप क्या समझते हैं? अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में कौन-सी बाधाएँ हैं?

उ०– **अन्तर्राष्ट्रवाद का अर्थ एवं परिभाषाएँ–** अन्तर्राष्ट्रीयता का तात्पर्य **विश्व-प्रेम**, **विश्व बन्धुत्व** एवं **वसुधैव कुटुम्बकम** की भावना से ओतप्रोत होना है अन्तर्राष्ट्रीयता वह भावपूर्ण स्थिति है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने को विश्व का नागरिक मानता है। यद्यपि ब्लॉक निकृष्ट भावनाएँ-संकुचित राष्ट्रीयता, राष्ट्रों की स्वार्थपूर्ण नीति, विभिन्न राजनीतिक विचारधाराएँ, देश के प्रति मोह आदि अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती है, परन्तु फिर भी आज के बदलते परिवेश और विभिन्न प्रकार के विकासों के प्रति अन्यान्योश्रितता की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीयता के महत्व पर पर्याप्त बल दिया जा रहा है।

(i) ''हमारा देश विश्व है, हमारे देशवासी सम्पूर्ण मानव जाति के हैं, हम अपनी जन्मभूमि को उसी प्रकार प्यार करते हैं, जिस प्रकार हम अन्य देशों से प्रेम करते हैं।'' **–विलियम लॉयड गैरीसन**

(ii) ''अन्तर्राष्ट्रीयता राष्ट्रों के मध्य उनके सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ट तथा विशिष्ट प्रतिनिधियों तथा रूपों के मध्य सहयोग हैं।'' **–प्रो० जिमर्न**

(iii) ''अन्तर्राष्ट्रीयता एक भावना है, जिसके अनुसार व्यक्ति केवल अपने राज्य का ही सदस्य नहीं, वरन् समस्त विश्व का नागरिक है।'' **–गोल्डस्मिथ**

(iv) ''अन्तर्राष्ट्रीयता भिन्न-भिन्न राज्यों के पारस्परिक संबंधों की उस नीति का नाम है, जो सभी राज्यों की स्वतंत्रता, समानता एवं सहयोग की समर्थक होती है और युद्ध तथा साम्राज्यवाद की विरोधी होती है।'' **–डॉ० महादेव प्रसाद**

निष्कर्ष– उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि अन्तर्राष्ट्रीयता एक ऐसा विचार या कार्य-प्रणाली है, जिसके फलस्वरूप—

(i) विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक वैमनस्य तथा द्वेष का अन्त होता है।

(ii) विश्व के राज्यों के बीच शान्तिपूर्ण सहयोग में वृद्धि होती है।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीयता का लक्ष्य आत्मसम्मान और सुशासित राष्ट्रों का एक ऐसा परिवार बनाना है, जों समानता, शान्ति और पारस्परिक सहयोग के माध्यम से एकता के सूत्र में बँधा हो।

अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधाएँ– अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के मार्ग में निम्नलिखित बाधाएँ हैं—

(i) साम्राज्यवाद– शक्तिशाली राष्ट्र दुर्बल राष्ट्रों के प्रति प्राय: साम्राज्यवादी नीति अपनाते हैं। साम्राज्यवादी नीति अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में एक बड़ी बाधा है। वर्तमान में यद्यपि साम्राज्यवादी नीति का प्राय: अन्त हो गया है, किन्तु राजनीतिक साम्राज्यवाद के स्थान पर आर्थिक साम्राज्यवाद बहुत तेजी से फैल रहा है, यह आर्थिक साम्राज्यवाद भी अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए अनेक दृष्टियों से घातक है।

(ii) उग्र राष्ट्रीयता तथा सैन्यवाद– उग्र राष्ट्रीयता की भावना भी अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास में बाधा उत्पन्न करती है। इसमें सन्देह नहीं है कि जब मनुष्य अपने राष्ट्र के लिए पूर्ण समर्पित होगा, तभी वह अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का महत्व समझेगा। लेकिन अति राष्ट्रवाद की भावना उग्र होकर विशुद्ध देश-प्रेम की भावना को नष्ट कर देती है। अत: उग्र राष्ट्रीयता के स्थान पर शुद्ध राष्ट्रीयता की भावना का विकास होना चाहिए।

(iii) राजनीतिक क्षेत्र में सैद्धान्तिक मतभेद– अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में सैद्धान्तिक राजनीतिक मतभेद एक बड़ी बाधा है। पूँजीवाद तथा साम्यवाद इसके उदाहरण हैं।

(iv) राज्यों की सम्प्रभुता– अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की एक बड़ी बाधा राज्यों की सम्प्रभुता भी है। सम्प्रभुता की अवधारणा के कारण विश्व की महाशक्तियाँ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर अपने वर्चस्व को बनाए रखना चाहती हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के लिए संघर्ष उत्पन्न हो जाता है तथा अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना प्राय नष्ट हो जाती है।

(v) क्षेत्रवाद– अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में एक अन्य उल्लेखनीय बाधा क्षेत्रवाद की भावना का प्रसार है, जिसे पारस्परिक अविश्वास का ही परिणाम कहा जा सकता है। इसका अद्यतन उदाहरण सोवियत संघ का विघटन (1991 ई०) है।

(vi) राष्ट्रों की स्वार्थपूर्ण नीति– वर्तमान प्रगतिशील युग में प्रत्येक राष्ट्र उन्नति के शिखर पर पहुँचने के लिए प्रयत्नशील है। इसलिए वह अपने देश की उन्नति के सम्मुख दूसरे देशों की चिन्ता नहीं करता है। प्रत्येक राष्ट्र स्वार्थी होता जा रहा है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को बड़ी ठेस पहुँच रही है।

(vii) पारस्परिक सन्देह– आज प्रत्येक राष्ट्र दूसरें राष्ट्रों को सन्देह की दृष्टि से देखता है, जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को बड़ा आघात पहुँचा है।

9. अन्तर्राष्ट्रीयता से आप क्या समझते हैं? इसके विकास और सफलताओं पर प्रकाश डालिए।

उ०– अन्तर्राष्ट्रीयता– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—8 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास और सफलताएँ– 19वीं शताब्दी के पहले से ही राजनीतिज्ञों ने इस बात के प्रयास किए कि यूरोप की सभी जातियों और देशों को एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में लाया जाए। मध्य युग में राज्यों के मध्य मतभेदों को बोलबाला था और पारस्परिक जीवन बहुत ही संघर्षमय था। अत: एक-दूसरे के बीच स्थायी शांति लाने के बहुत प्रयत्न किए गए, लेकिन प्राय: वे असफल रहे फिर भी सन् 1648 ई० की वेस्टफेलिया की संधि ने यूरोप में अन्तर्राष्ट्रीयता का बीजारोपण अवश्य ही कर दिया। 18वीं शताब्दी में एक फ्रांसीसी राजनीतिज्ञ **डयूक डसली** ने आपस में शान्ति स्थापित करने की एक महान् योजना बनाई। इसके अन्तर्गत एक गणराज्य की स्थापना की जानी थी, जिसके बहुत से सदस्य राज्य होते और रोम जर्मन सम्राट उसका अध्यक्ष होता। लेकिन किन्ही कारणों से यह योजना सफल न हो सकी। इसके बाद **स्टोहकवाद** का विकास हुआ, जिसका प्रमुख उद्देश्य विश्व समुदाय को संगठित करना था, लेकिन इसका विकास भी सफल नहीं रहा। सन् 1785 ई० में **काण्ट** का प्रसिद्ध निबन्ध 'अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की ओर' प्रकाशित हुआ। इसके बाद रूस के जार, आस्ट्रिया तथा प्रशा के सम्राटों के बीच होली एलान्इस (पवित्र संघ) हुई। यह विश्व का पहला संगठन था। इसके बाद यूरोप के सभी राष्ट्रों के कई सम्मेलन हुए, जिनमें वियाना, कांग्रेस, वाशिंगटन सम्मेलन आदि प्रमुख थे, जिनका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढावा देना था। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीयता का मुखर विकास प्रथम विश्व युद्ध के बाद ही हुआ। इस महायुद्ध से आक्रांत लोगों ने युद्ध की भयावहता और भीषण कष्टों से बचने के लिए **लीग ऑफ नेशन्स (राष्ट्र संघ)** की स्थापना की। परन्तु कुछ विशेष कारणों से कुछ वर्षो के बाद ही यह छिन्न-भिन्न हो गया। अत: द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ही राष्ट्र संघ को समाप्त कर सन् 1945 ई० में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीयता का चरम उत्कर्ष हैं।

10. अन्तर्राष्ट्रीयता से आप क्या समझते हैं? इसके विकास के मार्ग की प्रमुख बाधाओं का उल्लेख कीजिए। अथवा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के विकास के मार्ग में चार प्रमुख बाधक तत्वों का वर्णन कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 8 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

11. अन्तर्राष्ट्रीयवाद के विकास में बाधक तत्वों का वर्णन कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 8 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

12. अन्तर्राष्ट्रीयता से क्या तात्पर्य है? अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना विकसित करना क्यों आवश्यक है? दो कारण लिखिए तथा उदाहरण देकर समझाइए।

उ०– **अन्तर्राष्ट्रीयता–** इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 8 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

अन्तर्राष्ट्रीयता की आवश्यकता के कारण–

(i) **आर्थिक निर्भरता–** आधुनिक युग में प्रत्येक विकासशील देश के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का बहुत महत्व है, क्योंकि प्रत्येक देश की प्राकृतिक सम्पदा सीमित मात्रा में होती है। औद्योगिक दृष्टि से उन्नतिशील देशों को अपने उद्योगों को चलाने के लिए पर्याप्त मात्रा में कच्चे माल की आवश्यकता पड़ती है। इसके अतिरिक्त, देश में आवश्यकता से अधिक माल का उत्पादन हो जाने पर उसकी बिक्री के लिए भी अन्य देश विपणन केन्द्र के रूप में सहायक सिद्ध होते हैं। **विश्व व्यापार संगठन** इसका उदाहरण है।

(ii) **विश्व समस्याएँ–** आधुनिक समय में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं, जिनका प्रभाव एक देश पर न पड़कर पूरे विश्व के राष्ट्रों पर पड़ रहा है जैसे पर्यावरण प्रदूषण की समस्या, आतंकवाद, भयंकर बीमारियाँ, विनाशक अस्त्रों की होड़ आदि ऐसी ही अन्य समस्याओं ने विश्व के सभी राष्ट्रों का ध्यान अपनी ओर खीचा है। इसके समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक प्रयास किए जा रहे हैं। इस प्रवृत्ति ने भी अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग को प्रशस्त किया है।

आज प्रत्येक देश का नागरिक यह अनुभव कर रहा है कि जब तक लोग अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को महत्व नहीं देंगे, तब तक प्रत्येक देश का भविष्य अन्धकारमय रहेगा। आज पर्याप्त सीमा तक सभी राष्ट्र परस्पर विश्वास, सद्‌भाव तथा सहयोग का महत्व समझने लगे हैं। राष्ट्रों के बीच इन्हीं संबंधों को मैत्रीपूर्ण बनाने के उद्देश्य से संयुक्त राष्ट्र की स्थापना की गई हैं। सन् 1945 ई० से निरन्तर संयुक्त राष्ट्र अपने विभिन्न घटकों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सद्‌भावना की दिशा में सार्थक प्रयास कर रहा है।

13. संयुक्त राष्ट्र की उपलब्धियों पर टिप्पणी लिखिए।

उ०– **संयुक्त राष्ट्र की उपलब्धियाँ (सफलताएँ)–** आज विश्व का हर देश दूसरे देश पर अधिकार जमाने के लिए तत्पर उत्साहित रहता है, परिणामस्वरूप कई देशों में आन्तरिक कलह इतना अधिक हो चुका है कि वहाँ मानवीय मूल्यों की आहूति दी जाने लगी है। कई देशों में तानाशाहों का आतंक है तो कही आतंकवादी आए दिन लोगों की जिन्दगी से खेल रहे हैं इन सबको नियन्त्रण में करने के लिए हर देश अपने स्तर पर तो कार्य करता ही है साथ ही इन सबके ऊपर नजर रहती है, दुनिया की सबसे बड़ी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था **संयुक्त राष्ट्र** की। यह अन्तर्राष्ट्रीय संस्था जाति, धर्म और देश से ऊपर उठकर पूरे संसार के कल्याण के लिए कार्य करती है।

संयुक्त राष्ट्र का मुख्य उद्देश्य विश्व में युद्ध रोकना, मानव अधिकारों की रक्षा करना, अन्तर्राष्ट्रीय कानून को निभाने की प्रक्रिया जुटाना, सामाजिक और आर्थिक विकास उभारना, जीवन स्तर सुधारना और बीमारियों से लड़ना है। इस संगठन ने दुनिया भर में कई अहम मौकों पर मानव जीवन की सेवा कर एक आदर्श प्रस्तुत किया है। आज विश्व में कई देश हैं जो दूसरें देशों पर प्रभुत्व जताने और उन्हें हड़पने को तैयार रहते हैं पर संयुक्त राष्ट्र की कड़ी नजर की वजह से वह कुछ भी नहीं कर पाते। चाहे विश्व में शिक्षा को बढ़ावा देना हो या फिर एड्स जैसी बीमारी के प्रति जागरूकता फैलानी हो या तकनीक को आगे बढ़ाना हो संयुक्त राष्ट्र हमेशा आगे रहता है । पर इन सबके अलावा इसकी कुछ उपलब्धियाँ उल्लेखनीय हैं।

संयुक्त राष्ट्र के कुछ विभाग विशेष एजेंसियों को रूप में जाने जाते हैं। जैसे **यूनेस्कों**, **यूनिसेफ**, **विश्व स्वास्थ्य संगठन**, **आई.एल.ओ**, **एफ.ए.ओ**। इन्होंने दुनियाभर में आम इंसान की जिन्दगी को बेहतर बनाने का कार्य सार्थक ढंग से किया है।

आर्थिक रूप से अत्यधिक पिछड़े और कमजोर देशों को इनके माध्यम से जरूरी आर्थिक और तकनीकी सहायता मिल सकती है। संयुक्त राष्ट्र ने कुछ ऐसे विषयों पर सरकारों और जनता का ध्यान आकर्षित किया है, जो इसके अभाव में अछूते व उपेक्षित ही रह जाते। मानवाधिकारों का मुद्दा इनमें से एक है और पर्यावरण का दूसरा। इसके अलावा लिंगभेद दूर करने, शरणार्थी समस्या का समाधान और परमाणु हथियारों के प्रसार को रोकने के लिए संवाद को जारी रखने में भी इसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। परमाणु हथियारों के प्रसार को रोकने की भूमिका ने विश्व-शान्ति को बढ़ावा दिया है।

14. विश्व राजनीति में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका की विवेचना कीजिए। अपने उद्देश्य की प्राप्ति में इसे कहाँ तक सफलता मिली है?

उ०– **विश्व राजनीति में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका–** संयुक्त राष्ट्र की स्थापना ही विभिन्न प्रकार के संघर्षों के निदान हेतु की गई तथा इस दिशा में इसने अनेक संघर्षों के निदान का प्रयास भी किया। कम से कम उन्हें नियन्त्रित करने अथवा सहनीय सीमाओं तक रखने की दिशा में सराहनीय कदम तो उठाये ही हैं साथ ही मूल्यों के सार्थक विभाजन में आदेशात्मक अनुकूलता लाने में इसकी सम्भावित भूमिका है।

संयुक्त राष्ट्र का समसमायिक विश्व में, राजनैतिक परिवर्तन लाने हेतु एक साधन के रूप में प्रयोग चिंता का विषय बनता जा रहा है। इस क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र द्वारा एक कारगर भूमिका निभाना और भी कठिन होता जा रहा है क्योंकि कुछ देशों के लिए राजनैतिक परिवर्तन मूल्यों का पुनर्वितरण करता ही है और यह आशा कि, संयुक्त राष्ट्र द्वारा अपना लेने के पश्चात् भी प्रभावशाली राष्ट्र अपने पतन को स्वीकार कर लेंगे, अनुचित ही लगती है।

इसीलिए, संयुक्त राष्ट्र अपने सम्पूर्ण इतिहास में राजनैतिक परिवर्तन लाने की भूमिका निभाने से हिचकिचाता रहा है। यह बात खासकर उन परिस्थितियों में लागू राजनैतिक परिवर्तन लाने के लिए सैनिक शक्ति का प्रयोग आवश्यक हो।

अत: मुद्दों का समाधान करने के बजाय खतरनाक संघर्षों का स्थिरीकरण करना भी अप्रत्यक्ष रूप से सुरक्षा परिषद् में वर्चस्व की लड़ाई आज भी जारी है। सदस्य राष्ट्रों की संख्या 51 से बढ़कर 193 तक पहुँच जाने के बावजूद विकसित देश विकासशील देशों को इसमें प्रतिनिधित्व देने के पक्ष में नहीं है, क्योंकि विश्व के इन कर्णधारों को डर है कि यदि विकासशील राष्ट्र प्रवेश पा गये तो फिर मनमानी नहीं चल पायेगी।

इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है कि विकसित राष्ट्र विशेष रूप से अमरीका, जापान जैसे छोटे राष्ट्र को तो परिषद् भी स्थायी सदस्यता देने के पक्ष में है किन्तु भारत व दक्षिण अफ्रीका की दावेदारी को नहीं पचा रहा है।

वर्चस्व की यह लड़ाई संगठन तक ही सीमित नहीं रही अपितु उसकी अन्य संस्थाओं जा पहुँची है। विश्वयुद्ध में हुई व्यापक जनधन की क्षतिपूर्ण तथा पुनर्निमाण के लिए स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष व विश्व बैंक पर विकसित देशों ने कब्जा कर उसका राजनीतिक इस्तेमाल करना शुरू कर दिया है।

15. विश्व-शान्ति की स्थापना की दिशा में संयुक्त राष्ट्र की उपलब्धियों का परीक्षण कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 13 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

16. ''स्वस्थ राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की आधारशिला है।'' इस कथन पर परीक्षण कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 5 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

17. गुटनिरपेक्षता का क्या अर्थ है? वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सन्दर्भ में उसकी सार्थकता का विवेचन कीजिए। अथवा गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रासंगिकता पर टिप्पणी लिखिए।

उ०– गुटनिरपेक्षता– सामान्य अर्थ में, गुटनिरपेक्षता का अर्थ विश्व के शक्तिशाली गुटों से पृथक या तटस्थ रहकर अपनी स्वतंत्र विदेश नीति का संचालन करना और अपने राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा करना है। विद्वानों ने गुटनिरपेक्षता को निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया हैं—

''गुटनिरपेक्षता की नीति का अर्थ युद्ध में तटस्थ रहना नहीं है। इसका अर्थ है—स्वतंत्रता, शान्ति तथा सामाजिक न्याय के कार्य में सक्रिय योगदान।''

–सुकर्णो

''मेरे विचार में गुटनिरपेक्षता की नीति का सार यह है कि किसी भी राजनीतिक या सैनिक गुट में सम्मिलित होने से अस्वीकृति प्रकट करना।''

–लिस्का

''गुटनिरपेक्षता शान्ति और युद्ध से बचाव का मार्ग है। इसका उद्देश्य सैनिक गुटबन्दियों से दूर रहना है। यह एक निषेधात्मक नीति नहीं है, यह एक सकारात्मक, एक निश्चित नीति है और मैं आशा करता हूँ कि यह एक निरन्तर विकासशील नीति हैं।''

–पं० जवाहरलाल नेहरू

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि गुटनिरपेक्षता एक ऐसी सकारात्मक एवं रचनात्मक नीति है जो सामूहिक सुरक्षा का मार्ग प्रशस्त करती है। संक्षेप में गुटनिरपेक्षता का आशय किसी भी सैनिक गुटबन्दी से दूर रहकर राष्ट्रीय हितों का ध्यान रखते हुए न्यायोचित रूप में अपनी विदेश नीति का संचालन करना है।

गुटनिरपेक्षता की प्रासंगिकता/अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सार्थकता– गुटनिरपेक्षता विश्व राजनीति में राष्ट्रों के लिए विकल्प के रूप में निश्चय ही स्थायी रूप धारण कर चुका है। इसने विशेषत: राष्ट्र समाज के छोटे-छोटे और अपेक्षाकृत निर्बल सदस्यों के सन्दर्भ में राष्ट्रों की स्वतन्त्रता और समता कायम रखने में योग दिया है। इसने विश्व के पूर्ण ध्रुवीकरण को रोककर विचारधारा शिविरों के विस्तार की ओर प्रभाव को संयत करके तथा गुटों के अन्दर भी स्वतन्त्रता की शक्तियों को प्रोत्साहन देकर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने तथा उसे प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण योग दिया है। इसने संयुक्त राष्ट्र संगठन के अन्दर और बाहर दोनों जगह अनेक कल्याणकारी क्षेत्रों में, जैसे कि उपनिवेशों को स्वतन्त्र कराने, प्रजातीय समता को साकार करने तथा अल्प-विकसित देशों के आर्थिक विकास के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग दिया है।

आज संयुक्त राष्ट्र संघ के दो-तिहाई से अधिक देश गुटनिरपेक्षता की सन्धि की परिधि में आ चुके हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न मंचों से गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने विश्व-शान्ति, उपनिवेशवाद के अन्त, परमाणु शस्त्रों पर रोक, नि:शस्त्रीकरण, हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र घोषित करना, नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के निर्माण आदि विषयों पर संगठित रूप से कार्यवाही की है और सफलता प्राप्त की है।

संक्षेप में वर्तमान में निम्नलिखित क्षेत्रों में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रासंगिकता दृष्टिगत होती हैं—

(i) नई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की पुरजोर माँग करना।

(ii) आणविक नि:शस्त्रीकरण के लिए दबाव डालना।

(iii) दक्षिण-दक्षिण सहयोग को प्रोत्साहन देना।

(iv) एक-ध्रुवीय विश्व व्यवस्था में अमेरिकी चौधराहट का विरोध करना।

(v) विकसित और विकासशील देशों के बीच सार्थक वार्ता के लिए दबाव डालना।

(vi) अच्छी वित्तीय स्थिति वाले गुट-निरपेक्ष देशों (जैसे ओपेक राष्ट्रों) को इस बात के लिए सहमत करना है कि वे अपना फालतू धन पश्चिमी देशों के बैंको में जमा कराने के स्थान पर विकासशील देशों में विकासात्मक उद्देश्यों के लिए प्रयोग करें।

(vii) नव-औपनिवेशिक शोषण का विरोध किया जाए।

(viii) संयुक्त राष्ट्र संघ के पुनर्गठन के लिए दबाव डाला जाये, ताकि बड़े राष्ट्र प्रस्तावित पुनर्गठन के लिए तैयार हो सकें यानि उनके 'वीटो' परिषद् की सदस्यता में पर्याप्त वृद्धि की जा सके या महासभा को और अधिकार प्रदान किए जा सकें।

संक्षेप में, विकासशील देशों के बीच आपसी सहयोग बढ़ाने की दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया तो गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का अस्तित्व लम्बे समय तक नहीं रह पाएगा, विशेषकर ऐसे में जबकि शीत-युद्ध की समाप्ति के पश्चात् इसके सामने कोई राजनीतिक उद्देश्य नहीं रह गया है।

निष्कर्ष– गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने स्वतन्त्र विदेश नीति का सिद्धान्त प्रदान कर नवोदित देशों को रंगमंच पर उपलब्ध कराकर सैनिक टकराव की दिशा में सम्भावित व्यापक रूझान को रोक दिया और शीत-युद्ध का तनाव कम करने तथा शान्ति स्थापना की दिशा में प्रोत्साहन दिया। आपसी विचार-विमर्श द्वारा समझा-बुझाकर और व्यापक प्रचार करके आन्दोलन में उपनिवेशवाद उन्मूलन की प्रक्रिया को भी गति प्रदान की। 1960 ई० के पश्चात् यह अनुभव किया गया कि राजनीतिक उपनिवेशवाद का उन्मूलन हो रहा है, लेकिन नव-स्वाधीन राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से बहुत निर्बल थे और औद्योगिक देशों पर निर्भर थे, जिससे ज्ञात होता था कि निर्धन देशों की चौधराहट लगातार बनी हुई थी। अत: नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था स्थापित करने की माँग की जाने लगी। अब अन्तर्राष्ट्रीय चिन्ता के विषय आर्थिक समस्या और पर्यावरण प्रदूषण रोकने की समस्या रह गयी है। इससे सिद्ध होता है कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन शान्तिपूर्ण, समतावादी, विश्व व्यवस्था स्थापित करके विकासशील देशों का भविष्य उज्वल बनाने के प्रयासों में निरन्तर प्रयत्नशील हैं।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को संस्था का रूप धारण किए लगभग 40 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

वास्तव में, संयुक्त राष्ट्र संघ के पश्चात् गुटनिरपेक्ष आन्दोलन सबसे बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय मंच है, इस दृष्टि से यदि वह वास्तव में चाहे तो सामूहिक रूप में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

18. गुटनिरपेक्षता से क्या तात्पर्य है? इसके गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।

उ०– गुटनिरपेक्षता– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 17 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

गुटनिरपेक्षता के गुण या लक्षण– गुटनिरपेक्षता की नीति के प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं—

(i) सैनिक गुटों से पृथक रहने की नीति– गुटनिरपेक्षता का सबसे प्रमुख लक्षण है सैनिक गुटों से पृथक रहने की नीति। अर्थात् गुटनिरपेक्ष देश किसी भी महाशक्ति के साथ सैनिक समझौता नहीं करेगा।

(ii) स्वतन्त्र विदेश नीति– गुटनिरपेक्षता का आशय हैं कि सम्बद्ध देश अन्तर्राष्ट्रीयता नीति में किसी शक्ति गुट के साथ बँधा हुआ नहीं है, वरन् उसका अपना स्वतन्त्र मार्ग है जो सत्य और शान्ति पर आधारित है।

(iii) शान्ति की नीति– गुटनिरपेक्षता की नीति शान्ति की नीति है। इसका प्रमुख लक्षण है—तनाव की प्रवृत्तियों को कमजोर करते हुए शान्ति का विस्तार करना है।

(iv) गुटनिरपेक्षता एक आन्दोलन है, गुट नहीं– गुटनिरपेक्षता एक नीति वरन् एक आन्दोलन है जो राष्ट्रों के बीच स्वैच्छिक सहयोग चाहता है, प्रतिद्विन्द्विता या टकराव नहीं।

(v) साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का विरोधी– गुटनिरपेक्षता साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, रंगभेद और शोषण आदि का विरोध करने वाली नीति है। गुटनिरपेक्षता विभिन्न राष्ट्रों के आपसी व्यवहार में राष्ट्रीय प्रभुसत्ता, स्वतन्त्रता, समानता और विकास में विश्वास करती है। संघर्ष, अन्याय, दमन, अत्याचार का विरोध करती है तथा समानता को स्थापित करने पर बल देती है।

(vi) संयुक्त राष्ट्र का सहायक– गुटनिरपेक्षता आन्दोलन संयुक्त राष्ट्र का सहायक है, विकल्प नहीं। इसका विश्वास है कि ''संयुक्त राष्ट्र के बिना आज के विश्व की कल्पना नहीं की जा सकती।'' गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का उद्देश्य है संयुक्त राष्ट्र को सही दिशा में आगे बढ़ाते हुए उसे शक्तिशाली बनाना।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि– युद्धोतर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सबसे प्रमुख और दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य विश्व का दो विरोधी गुटों में बँट जाना था। एक गुट का नेता संयुक्त राज्य अमेरिका था और दूसरे गुट का नेता सोवियत संघ। इन दोनों गुटों के बीच मतभेदों की

एक ऐसी खाई उत्पन्न हो गई थी और दोनों गुट एक-दूसरे के विरोध में इस प्रकार सक्रिय थे कि इसे शीतयुद्ध का नाम दिया गया। सन् 1947 ई० में जब भारत स्वतन्त्र हुआ, तो एशिया और विश्व में भारत की अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थिति को देखते हुए दोनों विरोधी गुटों के देशों द्वारा भारत को अपनी ओर शामिल करने के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिए गए और परस्पर विरोधी गुटों के इन प्रयासों ने वैदेशिक नीति के क्षेत्र में भारत के लिए एक समस्या खड़ी कर दी। लेकिन इन कठिन परिस्थितियों में भारत के द्वारा अपने विवेकपूर्ण मार्ग का शीघ्र ही चुनाव कर लिया गया और वह मार्ग था, गुटनिरपेक्षता अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दोनों ही गुटों से अलग रहते हुए विश्वशान्ति, सत्य और न्याय का समर्थन करने की स्वतन्त्र विदेश-नीति।

प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुटनिरपेक्षता को सही रूप में नहीं समझा जा सका। न केवल दोनों महाशक्तियों ने इसे **'अवसरवादी नीति'** बतलाया, वरन् अन्य अनेक देशों द्वारा भी यह सोचा गया था कि 'आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुट निरपेक्षता कोई मार्ग नहीं हो सकता। लेकिन समय के साथ ये भ्रान्तियाँ कमजोर पड़ीं और शीघ्र ही कुछ देश गुट निरपेक्षता की ओर आकर्षित हुए। ऐसे देशों में सबसे प्रमुख थे। **मार्शल टीटो** के नेतृत्व में **यूगोस्लाविया** और **कर्नल नासिर** के नेतृत्व में **मिस्त्र।** अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुट निरपेक्षता की एक 'त्रिमूर्ति' बन गयी, **नेहरू नासिर** और **टीटो**। कालान्तर में, एशियाई-अफ्रीकी देशों ने सोचा कि गुटनिरपेक्षता को अपनाना न केवल सम्भव है वरन् उनके लिए यह लगभग एकमात्र स्वाभाविक और उचित मार्ग है। सन् 1961 तक 25 देशों ने इस मार्ग को अपना लिया था और आज निर्गुट आन्दोलन के सदस्यों की संख्या 120 हो गई है। इन 120 सदस्यों के अतिरिक्त चीन सहित 11 देश 'पर्यवेक्षक देश' के रूप में इस आन्दोलन के साथ जुड़े हुए हैं। वस्तुत: गुटनिरपेक्षता आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सबसे अधिक लोकप्रिय धारणा बन गई है।

गुटनिरपेक्षता के दोष– गुटनिरपेक्ष की कमजोरियों या विफलताओं का वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(i) अवसरवादी और काम निकालने की नीति– आलोचकों का मानना है कि गुटनिरपेक्षता एक अवसरवाद और काम निकालने की नीति बनकर रह गयी है, क्योंकि गुटनिरपेक्षता देश सिद्धान्तहीन है, साम्यवादी और गैर-साम्यवादी गुटों के साथ अपने सम्बन्धों के सन्दर्भ में वे 'दोहरी कसौटी' का प्रयोग करते हैं और यह कि उनका उद्देश्य पश्चिमी और साम्यवादी दोनों गुटों से अधिक-अधिक लाभ प्राप्त करने का और जिसका पक्ष मजबूत हो, उसकी ओर मिल जाने को रहता है।

उपयुर्क्त आलोचना के सन्दर्भ में **डॉ. एम.एस. राजन** का विचार है कि ''गुटनिरपेक्षता की नीति अवसरवादिता की नीति हो सकती है, परन्तु उतनी ही जितनी गुटबद्धता की अथवा कोई अन्य नीति हो सकती है, उससे अधिक नहीं।''

(ii) गुटनिरपेक्ष देशों में पारस्परिक तनाव एवं वैमनस्य– गुटनिरपेक्ष देश पर्याप्त रूप से संगठित नहीं हैं। उसमें तनाव, वैमनस्य और भयंकर विवाद उठते रहते हैं। उदाहरणार्थ, भारत और बांग्लादेश दोनों ही गुटनिरपेक्षता के समर्थक हैं, किन्तु कोलम्बो शिखर सम्मेलन में बांग्लादेश ने भारत के साथ गंगा के पानी के बँटवारे के प्रश्न को उठाकर विश्व के सामने अपने आपसी तनावों को उजागर किया।

(iii) संकुचित नीति– विदेश नीति का क्षेत्र इतना विशाल है कि उसे गुटनिरपेक्षता की नीति में बाँधा नहीं जा सकता। गुटनिरपेक्षता का दायरा बहुत सीमित है। गुटों से बाहर स्वयं को यह अवधारणा क्रियाशील बनाए इस पर कोई विचार नहीं किया जाता। सारी नीति गुटों की राजनीति के आस-पास घूमती है। महाशक्ति गुटों की राजनीति पर प्रतिक्रिया करते रहना ही इस नीति का मुख्य उद्देश्य बन जाता है।

(iv) गुटनिरपेक्षता एक दिशाहीन आन्दोलन– कुछ आलोचकों का कथन है कि नई विश्व-व्यवस्था का जिसमें शक्ति नहीं, सद्भावना नियामक तत्व हो, निर्माण करना, तो दूर रहा, गुटनिरपेक्षता आन्दोलन अपने आप में ही टूटता जा रहा है। हवाना सम्मेलन (1979) की कार्यवाहियों से स्पष्ट हो गया था कि सम्पूर्ण आन्दोलन तीन गुटों में विभाजित हो गया हैं— एक में क्यूबा, अफगानिस्तान, वियतनाम, इथियोपिया, दक्षिणी यमन जैसे रूस-परस्त देश हैं तो दूसरे में सोमालिया, सिंगापुर, जायरे, फिलीपीन्स, मोरक्को, मिस्त्र आदि अमेरिका परस्त देश है। तीसरे खेमे में भारत, यूगोस्लाविया और श्रीलंका जैसे देश है। यह इस बात का प्रमाण है कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की अपनी कोई दिशा नहीं रह गयी है और वह अब महाशक्तियों के उपहार का प्रतिबिम्ब मात्र रह गया है।

(v) शीत युद्ध की समाप्ति– कुछ विद्वान ऐसा मानते है कि शीत युद्ध की समाप्ति के परिणामस्वरूप हुए हाल ही के परिवर्तनों में गुटनिरपेक्षता की सार्थकता समाप्त हो गई है। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का जन्म विश्व राजनीति में एक शक्ति के रूप में उस समय हुआ था जब कि दोनों महान् शक्तियों के बीच शीत युद्ध चल रहा था।

(vi) पश्चिमी जर्मनी तथा उत्तरी जर्मनी का एकीकरण– जर्मनी के एकीकरण ने शीत युद्ध को समाप्त कर दिया है। एक विद्वान का कथन है कि बर्लिन की दीवार के मलबे के साथ गुटनिरपेक्ष आन्दोलन भी दफन हुआ पड़ा है।

(vii) वारसा संधि की समाप्ति– वारसा संधि अब समाप्त हो चुकी है। इसके स्थान पर अब एक समिति का गठन यह बताने के लिए किया गया है कि समय की भावना के साथ इसकी क्या संगत भूमिका हो सकती है।

(viii) नाटो की भूमिका में परिवर्तन आना अनिवार्य है– नाटो अभी जीवित है, किन्तु पश्चिमी यूरोप तथा यूरोपीय राज्यों के मध्य बढ़ते नवीन तालमेल तथा सहयोग के प्रभाव के अधीन इसकी भूमिका में परिवर्तन होना निश्चित है। पश्चिमी जर्मनी

तथा उत्तरी जर्मनी के एकीकरण के कारण नाटो की भूमिका में परिवर्तन आना अपरिहार्य है। नाटो के देशों में अब इस बात की सम्भावना है कि सैनिक पक्ष की अपेक्षा राजनीतिक पक्ष का अधिमान होना चाहिए।

(ix) यूरोपीय राजनीति में परिवर्तन– यूरोप की राजनीति तेजी से परिवर्तित हो रही है। अनेक स्थानीय युद्ध समाप्त हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त सुरक्षा तथा सहयोग सम्मेलन ने वहाँ कि राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाना शुरू कर दिया है। नामीबिया स्वतन्त्र हो चुका है। प्रजाति पार्थक्यवाद के विरुद्ध संघर्ष अपने अन्तिम चरण में है। द्विध्रुवीकरण का स्थान बहु-केन्द्रीयवाद ने ग्रहण कर लिया है।

(x) समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था– इन सभी परिवर्तनों के साथ समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बड़ी तीव्रता से शीत युद्ध के तनावों से हटकर शान्ति, सुरक्षा, सहयोग तथा विकास में परिवर्तित हो गई है। (खाड़ी युद्ध एक अपवाद माना जा सकता है।) इन परिवर्तनों के कारण विशेष रूप से शीत युद्ध की समाप्ति तथा सोवियत संघ के बिखराव ने सन्धि की राजनीति को गम्भीर चोट पहुँचाई है। 'नाम' के आलोचकों ने यह तर्क देना प्रारम्भ कर दिया है कि 'नाम' का मुख्य कार्य विश्व के गुटों में विभाजन से मुक्त करना था और यह विभाजन अब प्राय: समापन की ओर अग्रसर है इसलिए नाम निरर्थक होकर रह गया है। वह ये तर्क देते हैं कि या तो नाम को समाप्त करना पड़ेगा अथवा किसी 'नवीन' आन्दोलन में रूपान्तरित करना पड़ेगा।

19. गुटनिरपेक्षता की नीति के प्रमुख तत्वों का वर्णन कीजिए।

उ०– स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कौन-से-तत्व थे, जिनके कारण भारत ने गुटनिरपेक्षता को अपनाया और समय के साथ अन्य देश इसकी ओर आकर्षित हुए। गुटनिरपेक्षता की नीति के प्रेरक तत्वों का उल्लेख निम्न प्रकार है—

(i) राष्ट्रवाद की भावना– एशियाई-अफ्रीकी देशों ने राष्ट्रवाद की भावना के आधार पर लम्बे संघर्ष के बाद यूरोपियन साम्राज्यवाद से मुक्ति प्राप्त की थी। ऐसी स्थिति में सबसे पहले भारत और बाद में अन्य देशों ने स्वाभाविक रूप से सोचा कि किसी शक्ति गुट की सदस्यता को स्वीकार कर लेने पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वे उसके पिछलग्गू बन जायेंगे, जिससे उनके आत्म-सम्मान, राष्ट्रवाद और सम्प्रभुता को आघात पहुँचेगा। इस प्रकार राष्ट्रवाद की भावना ने उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वतन्त्र मार्ग अपनाने के लिए प्रेरित किया।

(ii) साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध– भारत और अन्य एशियाई-अफ्रीकी देशों ने लम्बे समय तक साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के अत्याचार भोगे थे और साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के प्रति उनकी विरोध भावना बहुत अधिक तीव्र थी। उन्होंने सही रूप से यह महसूस किया कि दोनों ही शक्ति गुटों के प्रमुख नव-साम्राज्यवादी हैं तथा साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध करने के लिए शक्ति गुटों से अलग रहना बहुत अधिक आवश्यक है।

(iii) शान्ति के लिए तीव्र इच्छा– दीर्घकालीन संघर्ष के बाद स्वतन्त्रता प्राप्त करने वाले अनेक एशियाई-अफ्रीकी देशों ने सत्य रूप में महसूस किया कि यूरोपियन देशों की तुलना में उनके लिए शान्ति बहुत अधिक आवश्यक है। उन्होंने यह भी सोचा कि उनके लिए युद्ध और तनाव की सम्भावना बहुत कम हो जाएगी, यदि वे अपने आपको शक्ति गुटों से अलग रखें।

(iv) आर्थिक विकास की लालसा– नवोदित राज्य शास्त्रास्त्रों की प्रतियोगिता से बचकर अपने देश का आर्थिक पुनर्निर्माण करना चाहते है। आर्थिक पुनर्निर्माण तीव्र गति से हो सके, इसके लिए विकसित राष्ट्रों से आर्थिक और तकनीकी सहयोग प्राप्त करना जरूरी है। गुटनिरपेक्षता का मार्ग अपनाकर ही कोई राष्ट्र बिना शर्त विश्व की दोनों महाशक्तियों-साम्यवादी और पूँजीवादी गुटों से आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग प्राप्त कर सकता था।

(v) जातीय एवं सांस्कृतिक पक्ष– गुटनिरपेक्षता की नीति का एक प्रेरक तत्व 'जातीय एवं सांस्कृतिक पक्ष' भी है। गुटनिरपेक्षता की नीति के अधिकांश समर्थक यूरोपियन राष्ट्रों का शोषण भुगत चुके हैं और अश्वेत जाति के हैं। इनमें सांस्कृति एवं जातीय समानताएँ भी विद्यमान हैं और कमजोर ही सही, लकिन इन समानताओं ने उन्हें शक्ति गुटों से अलग रहने के लिए प्रेरित किया है।

(vi) गुटनिरपेक्षता तथा गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के लक्ष्य– गुटनिरपेक्षता एक गतिशील नीति और आन्दोलन है तथा आज की परिस्थितियों में गुटनिरपेक्षता और गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के प्रमुख लक्ष्य निम्न प्रकार हैं—

(क) शान्ति और विश्व शान्ति के मार्ग की सभी बाधाओं को दूर करते हुए राष्ट्रों के बीच सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध और विश्व शान्ति बनाए रखना।

(ख) महाशक्तियों की दबावकारी भूमिका को नियन्त्रित करते हुए विकासशील देशों की सम्प्रभुता और हितों की रक्षा करना।

(ग) गुटनिरपेक्ष (विकासशील) देशों के आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना।

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संयुक्त राष्ट्र संघ को शक्तिशाली बनाना।

20. गुटनिरपेक्षता की अवधारणा स्पष्ट कीजिए। वर्तमान समय में यह कहाँ तक प्रासंगिक है?

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 17 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

10 आरक्षण की अवधारणा– आवश्यकता, क्षेत्र तथा परिणाम
(Concept of Reservation: Need, Scope and Consequences)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 153 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 154 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. आरक्षण की परिभाषा दीजिए।

उ०– आरक्षण वह व्यवस्था है, जिसमें सरकार समाज के दुर्बल वर्गों को उनके आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास के लिए अन्य वर्गों की अपेक्षा कुछ विशेष अवसर और सुविधा प्रदान करती है।

2. आरक्षण के पक्ष में चार तर्क प्रस्तुत कीजिए।

उ०– आरक्षण के पक्ष में निम्नलिखित चार तर्क दिए जाते हैं—

(i) आरक्षण से समाज के उच्च वर्गों के साथ निम्न वर्गों को भी शासन प्रणाली और राजनीतिक व्यवस्था में हिस्सेदारी प्राप्त हुई है।

(ii) आरक्षण ने कमजोर वर्गों की शिक्षा एवं राजनीतिक चेतना बढ़ाई है।

(iii) आरक्षण से संविधान के सामाजिक और आर्थिक न्याय संबंधी प्रावधानों का समुचित क्रियान्वयन हुआ है।

(iv) आरक्षण से लोक सेवाओं में पिछड़े वर्गों का प्रतिनिधित्व बढ़ने लगा है।

3. भारत में आरक्षण की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए।

उ०– भारतीय आर्थिक एवं सामाजिक परिवेश में समाज के कमजोर वर्गों का उत्थान सामाजिक न्याय के माध्यम से आज एक राजनीतिक मुद्दा बन चुका है। भारत में आरक्षण की आवश्यकता और उसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं—

(i) क्षेत्रीय विषमताओं के कारण आरक्षण की आवश्यकता।

(ii) सामाजिक न्याय की अवधारणा के अनुसार दुर्बल वर्गों को विशेष अवसर एवं सुविधाओं के लिए आरक्षण की आवश्यकता।

(iii) सामाजिक विषमताओं के कारण आरक्षण की आवश्यकता।

(iv) आरक्षण लोकतंत्र व्यवस्था की आवश्यकता है।

4. अनुसूचित जातियों के आरक्षण के दो आधार बताइए।

उ०– अनुसूचित जातियों के आरक्षण के दो आधार निम्नवत् हैं—

(i) अनुसूचित जातियों का साामजिक रूप से पिछड़ापन।

(ii) अनुसूचित जातियों का आर्थिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़ापन।

5. अनुसूचित जातियों को रोजगार में आरक्षण देने के पक्ष एवं विपक्ष में एक-एक तर्क दीजिए।

उ०– अनुसूचित जातियों को रोजगार में आरक्षण देने के पक्ष में तर्क यह है कि आरक्षण से अनुसूचित जातियों को शासन-प्रणाली और राजनीतिक व्यवस्था में भागीदारी प्राप्त हुई है। तथा विपक्ष में यह तर्क है कि आरक्षण से अनुसूचित जातियों की स्थिति में सुधार होने के बजाय उनकी निर्भरता बढ़ गई है। वे जतियाँ आरक्षण की बैसाखी की आदी हो गई हैं।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. आरक्षण क्या है? आरक्षण के उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए।

उ०– **आरक्षण–** आरक्षण समाज के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक रूप से पिछड़े वर्गों के उत्थान तथा कल्याण के लिए सरकार द्वारा चलाई गई नीतियाँ, कानून व सुविधाएँ हैं ताकि वे समाज के अन्य वर्गों की बराबरी कर सकें।

आरक्षण के उद्देश्य– आरक्षण के उद्देश्य निम्न प्रकार हैं—

(i) आरक्षण द्वारा कमजोर वर्गों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति को सुधारना।

(ii) आरक्षण से संविधान के सामाजिक और आर्थिक संबंधी प्रावधानों का क्रियान्वयन करना।

(iii) आरक्षण द्वारा पिछड़े वर्गों का लोक सेवाओं में प्रतिनिधित्व बढ़ाना।

(iv) आरक्षण से समाज के उच्च वर्गों के साथ निम्न वर्गों की शासन-प्रणाली और राजनीतिक व्यवस्था में भागीदारी सुनिश्चित करना।

(v) आरक्षण से कमजोर वर्गों में शिक्षा एवं राजनीतिक चेतना का विकास करना।

(vi) आरक्षण से कमजोर वर्गों को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु समान अवसर प्रदान करना।

(vii) आरक्षण द्वारा पिछड़े वर्गों में सामाजिक विषमताओं को दूर करना।

2. आरक्षण से आप क्या समझते हैं? जाति आधारित आरक्षण के भारतीय राजनीति पर प्रभाव का विश्लेषण कीजिए।

उ०– आरक्षण– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या– 1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

जाति आधारित आरक्षण के भारतीय राजनीति पर प्रभाव– विश्व में भारत ही एकमात्र ऐसा देश है, जिसमें जाति, धर्म सम्प्रदाय आदि के आधार पर आरक्षण की व्यवस्था स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी अपनाई जा रही है। वर्तमान में इसके स्वरूप को सीमित करने के स्थान पर इसका निरन्तर विस्तार किया जा रहा है। जातियों को विभिन्न वर्गीकरणों के आधार पर विभाजित किया जा रहा है, जबकि भारतीय संविधान राष्ट्रीय एकता तथा अखण्डता की बात करता है। जातिगत आधार पर आरक्षण की व्यवस्था को लागू करने के कारण समाज में विभिन्न जातियों के मध्य कटुता तथा संघर्ष की भावनाएँ उत्पन्न हो रही हैं।

अन्य पिछड़े वर्ग के आरक्षण में भी जाति को ही आरक्षण का आधार बनाया जाता है तथा जाति की यह पहचान करना कि यह आर्थिक, शैक्षिक तथा सामाजिक रूप से पिछड़ी हुई है, राज्य सरकारों के निर्णय पर आधारित है। इस स्थिति को देखते हुए भी मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू करने से, आर्थिक दृष्टि से पिछड़े उन लोगों को असन्तोष हुआ जिनकी समस्याओं का कोई समाधान मण्डल आयोग ने नहीं सुलझाया था। अत: उन लोगों को निराशा हुई जिनको वास्तव में आरक्षण का लाभ मिलना था।

इन समस्त परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए सरकार को सम्पूर्ण आरक्षण की व्यवस्था का पुनर्मूल्यांकन करना चाहिए। जाति को आरक्षण का आधार न मानते हुए आर्थिक स्तर को आरक्षण का आधार मानना अधिक उपर्युक्त तथा तर्कसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि सामान्य जाति में भी ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक है जो सामन्यतया गरीबी की रेखा के नीचे जीवन–यापन कर रहे है अथवा आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए है। जिन जातियों को आरक्षण का लाभ मिल रहा है, उनमें भी ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक हो सकती है, जितना आर्थिक यथा शैक्षिक स्तर बहुत ऊँचा है। उन्हें आरक्षण प्रदान करके आरक्षण की व्यवस्था का दुरूपयोग ही हो रहा है। अनेक मेडिकल तथा इंजीनियरिंग कॉलेज में आरक्षण के आधार पर ऐसे विद्यार्थियों को प्रवेश मिल जाता है, जिन्होंने प्रतियोगी परीक्षा में न्यूनतम अंक भी प्राप्त नहीं किए है, जबकि सामान्य वर्ग के विद्यार्थियों को उसकी तुलना में बहुत अधिक अंक प्राप्त होने पर भी प्रवेश नहीं मिल पाता है। ये परिस्थितियाँ आरक्षण की सम्पूर्ण व्यवस्था पर भी प्रश्न–चिन्ह लगा देती हैं। अत: इस व्यवस्था पर गहन रूप से चिन्तन करने की आवश्यकता है। अनेक राज्यों में तो आरक्षण 50 प्रतिशत की सीमा को भी पार कर गया है। शिक्षण संस्थाओं में आरक्षण प्रतिभाशाली छात्रों में कुण्ठा को जन्म देता है।

जाति आधारित आरक्षण व्यवस्था के कुछ अच्छे परिणाम भी हुए है। सर्वप्रथम समाज में दलित, पिछड़ी तथा कमजोर जातियों को अपना जीवन–स्तर सुधारने का अवसर मिला है। उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी बढ़ी है तथा राजनीतिक सहयोग सहभागिता का क्षेत्र भी विस्तृत हुआ है। आरक्षण के कारण सर्वाधिक लाभ, अनुसूचित जातियों और जनजातियों को मिला है।

3. आरक्षण पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उ०– आरक्षण पर निबन्ध–

(i) भूमिका– आरक्षण का अर्थ है सुरक्षित करना। हर स्थान पर अपनी जगह सुरक्षित करने या रखने की इच्छा प्रत्येक व्यक्ति को होती है, चाहे वह रेल के डिब्बे में यात्रा करने के लिए हो या किसी अस्पताल में अपनी चिकित्सा कराने के लिए, विधानसभा या लोकसभा का चुनाव लड़ने की बात हो या किसी सरकारी विभाग में नौकरी पाने की। लोग अनेक तरह की दलीलें देकर अपनी जगह सुनिश्चित करवाने और सामान्य प्रतियोगिता से अलग रहना चाहते हैं।

(ii) आरक्षण के आधार– आरक्षण पाने का कोई आधार होना आवश्यक है। रेल, बस आदि में सफर करना हो, तो आरक्षण के लिए सामान्य किराये के अलावा कुछ अतिरिक्त राशि देना आवश्यक होता है, अन्यथा आपको भीड़ में या पंक्ति में रहना पड़ेगा।

गारंटी नहीं कि आप यात्रा कर पायेंगे अथवा नहीं। यदि कहीं अस्पताल में आपको चिकित्सा करवानी हो या किसी डॉक्टर से इलाज कराना हो, तो अतिरिक्त राशि दीजिए नहीं तो आपको अच्छी सुविधा या अच्छी चिकित्सा नहीं मिल सकती।

यदि आप चुनाव में जीतना चाहते हैं तो किसी बड़ी जनसंख्या वाली जाति या धर्म का होना जरूरी है अथवा किसी आरक्षित जाति का होना जरूरी है। किसी सरकारी विभाग में नौकरी कम अंकों पर मिल जाए, इसके लिए भी किसी खास जाति का होना आवश्यक होता है।

इस प्रकार जाति, धर्म आदि आज हमारे समाज में सुविधाओं को सबसे पहले और सबसे अधिक पाने का आधार हैं। यही नहीं कुछ खास पदों पर होना भी आरक्षण पाने के लिए जरूरी समझा गया है।

(iii) लाभ-हानि– आरक्षण वास्तव में समाज के उन्हीं लोगों के लिए हितकर हो सकता है जो अपंग हैं किंतु शिक्षा और गुण होते हुए भी अन्य लोगों से जीवन में पीछे रह जाते हैं। उन गरीब लोगों के लिए भी आरक्षण आवश्यक है जो गुणी होते हुए भी गरीबी में जीवन बीता रहे हैं।

केवल जाति, धर्म और धन के आधार पर आरक्षण से गुणी व्यक्तियों को पीछे धकेल कर हम देश को नुकसान ही पहुँचा रहे है। यह देश जाति-धर्म, धनी-गरीब आदि आधारों पर और अधिक विभाजित होता जा रहा है।

(iv) **उपसंहार–** आज यदि हम देश को उन्नति की ओर ले जाना चाहते हैं और देश की एकता बनाए रखना चाहते हैं, तो जरूरी है कि आरक्षणों को हटाकर हम सबको एक समान रूप से शिक्षा दें और अपनी उन्नति का अवसर पाने का मौका दें।

4. भारत में आरक्षण की आवश्यकता एवं प्रभाव का परीक्षण कीजिए।

उ०– **भारत में आरक्षण की आवश्यकता–** भारतीय आर्थिक एवं सामाजिक परिवेश में समाज के कमजोर वर्गों का उत्थान सामाजिक न्याय के माध्यम से आज एक राजनीतिक मुद्दा बन चुका है। आरक्षण की आवश्यकता और उसके पक्ष में प्रमुख रूप से निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं—

(i) **क्षेत्रीय विषमताओं के कारण आरक्षण की आवश्यकता–** आरक्षण की आवश्यकता सबसे ज्यादा क्षेत्रीय विषमता के कारण है। बड़े राज्यों में कुछ क्षेत्र ऐसे होते हैं जो विकास से अछूते बने रहते हैं। उनका विकास प्रयास के बाद भी उस स्तर तक नहीं हो पाता है जहाँ तक अन्य क्षेत्रों का होता है। अत: उनके क्षेत्रीय विषमता को दूर करने के लिए आरक्षण की आवश्यकता होती है। भारत में इस प्रकार के क्षेत्र में रहने वाले को वनवासी, आदिवासी, गिरीजन एवं जनजाति आदि के नाम से पुकारा जाता है।

(ii) **सामाजिक न्याय का साधन–** सामाजिक न्याय लोकतंत्र का एक प्रमुख आधार है। सामाजिक न्याय की अवधारणा के अनुसार राज्य के दुर्बल वर्गों को अन्य व्यक्तियों की तुलना में कुछ विशेष अवसर और सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए और यह आरक्षण के आधार पर ही सम्भव है।

(iii) **सामाजिक विषमता के कारण आवश्यक–** एक देश के अन्तर्गत जब कुछ क्षेत्र विकास की दृष्टि से बहुत अधिक पिछड़े होते हैं, तब ये वर्ग और क्षेत्र अपना विकास तभी कर पाते हैं जबकि उन्हें प्रतिनिधित्व और सेवाओं के क्षेत्र में विशेष अवसर दिया जाए। इस प्रकार की विशेष सुविधाएँ और विशेष अवसर आरक्षण के द्वारा की सम्भव हो सकती है।

(iv) **भारत की सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से आरक्षण आवश्यक–** शुरू से ही हिन्दू परम्परा एवं रीति-रिवाज के आधार पर दो वर्गों में विभाजित हो रहे हैं— उच्च एवं निम्न वर्ग। उच्च वर्ग शुरू से ही अपने को श्रेष्ठ मानते हुए निम्न वर्ग के प्रति अमानवीय व्यवहार करता रहा है। समाज की इस विषमता को आरक्षण के माध्यम से ही मिटाया जा सकता है।

(v) **लोकतंत्र के अनुकूल–** लोकतंत्र समानता पर आधारित होता है। यह समानता तभी सम्भव है जबकि सभी वर्गों को विकास का समुचित अवसर मिले। आरक्षण यही कार्य करता है तथा इस दृष्टि से आरक्षण लोकतंत्र और समानता के अनुकूल है, प्रतिकूल नहीं। आरक्षण वह व्यवस्था है कि जो लोकतांत्रिक व्यवस्था को मात्र कागजी नहीं, वरन् वास्तविकता का रूप देने का प्रयत्न करता है।

भारत में आरक्षण का प्रभाव– भारत जैसे विभिन्न भाषा-भाषी व विभिन्नता वाले देश में आरक्षण की आवश्यकता तो स्वयंसिद्ध है, परन्तु देश में जिस तरह से आरक्षण के प्रश्न को राजनीति से लपेटा लगाया है और विभिन्न राजनीतिक दलों ने इसे अपनी स्वार्थसिद्धि का साधन बनाया है, उस दृष्टि से आरक्षण व्यवस्था के परिणाम अच्छे नहीं कहे जा सकते हैं। आरक्षण व्यवस्था ने जातिवाद और सम्प्रदायवाद को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया है और राष्ट्रीय एकता के लिए खतरा उत्पन्न कर दिया है। आज विभिन्न जातियों के बीच जो ईर्ष्या भाव तथा कटुता देखने को मिलती है, उसका एक प्रमुख कारण आरक्षण व्यवस्था भी है।

मण्डल विरोधी आन्दोलन के समय हुई हिंसात्मक घटनाएँ, समय-समय पर छात्र आन्दोलन तथा अनेक जटिल समस्याएँ आरक्षण के कारण ही बढ़ी है। आरक्षण में भ्रष्टाचार के प्रवेश ने स्थिति को बहुत अधिक भयावह बना दिया है। आज तो स्थिति यह है कि कोई भी धन के बल पर फर्जी पिछड़ी जाति का प्रमाण-पत्र प्राप्त कर सकता है और उसके आधार पर आरक्षण की सुविधा ले सकते हैं।

आरक्षण का इतिहास देखने से पता चलता है कि 'आरक्षण' ने ही भारत में साम्प्रदायिकता का बीजारोपण किया और जिसका परिणाम भारत विभाजन के रूप में हमारे सामने आया। स्वाधीनता के बाद आरक्षण व्यवस्था को सामाजिक विषमता को समाप्त करने तथा आर्थिक समानता को लाने के लिए लागू किया गया, परन्तु आज देश में कितनी सामाजिक विषमता दूर हुई हैं और कितनी आर्थिक समानता है, यह किसी भी व्यक्ति से छिपा नहीं है।

वास्तविकता तो यह है कि दोष आरक्षण व्यवस्था में नहीं है, क्योंकि आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से पिछड़े तथा कमजोर लोगों को सुविधाएँ मिलनी ही चाहिए। लेकिन देश में आरक्षण को राजनीति का आवरण देकर इसके वास्तविक उद्देश्य को ही छिन्न-भिन्न कर दिया है।

इतना होने पर भी आरक्षण व्यवस्था के कुछ अच्छे परिणाम भी हुए है। सर्वप्रथम समाज में दलित, पिछड़ी तथा कमजोर जातियों को अपना जीवन-स्तर सुधारने का अवसर मिला है। उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी बढ़ी है तथा राजनीतिक सहभागिता का क्षेत्र भी विस्तृत हुआ है। आरक्षण के कारण सर्वाधिक लाभ, अनुसूचित जातियों और जनजातियों को मिला है।

5. आरक्षण की व्यवस्था करने की क्यों आवश्यकता पड़ी? क्या यह समाज के लिए लाभकर है? कारण सहित उत्तर दीजिए।

उ०– **आरक्षण की आवश्यकता–** इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 4 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।
समाज के लिए आरक्षण का मूल्यांकन– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 4 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

6. जाति आधारित आरक्षण के गुण एवं दोषों का परीक्षण कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 2 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

7. सरकारी सेवाओं में जातीय आधार पर आरक्षण के औचित्य का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

उ०– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 2 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

11 सरकार के अंग– व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका
(Problems and Solutions of Tribes in India)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 160 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 160 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. जनजातीय कल्याण में स्वयंसेवी संस्थाओं की भूमिका का वर्णन कीजिए।

उ०– भारत में अधिकांश जनजातियों को आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं अन्य कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन समस्याओं को दूर करके ही इन जनजातियों का कल्याण हो सकता है। जनजातीय कल्याण में सरकार के अतिरिक्त अनेक स्वयंसेवी संस्थाएँ भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। सरकार द्वारा जनजातियों के कल्याण हेतु चलाई जा रही योजनाओं के क्रियान्वयन में ये संस्थाएँ अपना योगदान दे रही हैं। इसके अतिरिक्त ये संस्थाएँ इन जनजातियों के बीच रहकर उन्हें शिक्षा एवं रोजगार संबंधी सहायता भी प्रदान कर रही हैं।

2. भारत में आदिवासियों की दो समस्याएँ लिखिए तथा उनके समाधान के उपाय भी बताइए।

उ०– भारत में आदिवासियों की दो प्रमुख समस्याएँ हैं—

(i) अशिक्षा एवं निरक्षरता की समस्या (ii) आर्थिक समस्या

अशिक्षा एवं निरक्षरता की समस्या का समाधान करने के लिए सरकार द्वारा उनके शिक्षण एवं प्रशिक्षण हेतु विशेष सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाती हैं। आदिवासियों में शिक्षा का विकास करने के लिए नि:शुल्क शिक्षा, छात्रवृत्ति तथा छात्रावास की सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। जनजातियों की आर्थिक समस्याओं का समाधान करने के लिए सरकार ने कुछ राज्यों में वनों से प्राप्त उत्पादों के विपणन के सम्बन्ध में विपणन विकास संघ एवं सहकारी समितियों की स्थापना की है।

3. भारत में अनुसूचित जनजातियों की समस्याओं की व्याख्या कीजिए और उनके समाधान हेतु आवश्यक उपायों पर अपने सुझाव दीजिए। अथवा भारत में अनुसूचित जनजातियों की प्रमुख समस्याओं का उल्लेख कीजिए।

उ०– भारत में अनुसूचित जनजातियों की प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

(i) आर्थिक समस्याएँ (ii) औद्योगीकरण के कारण उत्पन्न समस्याएँ
(iii) सामाजिक समस्याएँ (iv) राजनीतिक समस्याएँ
(v) अशिक्षा एवं निरक्षरता की समस्याएँ (vi) धार्मिक समस्याएँ
(vii) हत्या एवं यौन शोषण की समस्याएँ (viii) स्वास्थ्य तथा जनसंख्या की समस्याएँ
(ix) विस्थापन की समस्याएँ (x) आवागमन तथा संचार की समस्याएँ

अनुसूचित जनजातियों की उपर्युक्त समस्याओं को सरकार एवं जनसामान्य के संयुक्त प्रयासों से ही दूर किया जा सकता है।

4. भारत में अनुसूचित जनजातियों की चार समस्याओं का वर्णन कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या— 3 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

5. अनुसूचित जनजातियों की विशेषताएँ लिखिए।

उ०– अनुसूचित जनजातियों की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) प्रत्येक जनजाति का कोई-न-कोई कुलदेवता होता है और उस जनजाति के सभी लोग उस कुलदेवता की पूजा करना अपना परम कर्त्तव्य मानते हैं।

(ii) आदिवासी जनजाति के लोग अपने दैनिक प्रयोग में आने वाली सभी वस्तुओं का निर्माण प्राय: स्वयं करते हैं। अतएव कहा जा सकता है कि जनजाति आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होती है।

(iii) एक जनजाति के सभी लोग एक समय में एक निश्चित भू-खण्ड में निवास करते हैं।

(iv) प्रत्येक जनजाति अपना एक नेता निर्वाचित करती है और नेता के नियंत्रण में संगठित रहना अपना कर्त्तव्य मानती है।

(v) एक जनजाति के सभी लोग आपस में मिलकर रहते हैं। जनजाति के लोगों में 'हम' की प्रबल भावना (संगठित होकर काम करने की भावना) पाई जाती है।

(vi) एक जनजाति के लोग बाह्य शत्रु से युद्ध करने के लिए संगठित होते हैं और शत्रु पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं।

(vii) आदिवासी जनजाति के सभी लोग अपनी ही जनजाति के अन्दर विवाह करते हैं। वस्तुत: जनजाति एक अन्तर्विवाही जन-समूह होता है।

(viii) भारतीय जनजातियों में युवा-गृह की संस्था भी पाई जाती है।

(ix) जनजाति में उपजातियों जैसी श्रेणियों का अभाव पाया जाता है।

(x) एक जनजाति के सदस्य अपने सांस्कृतिक तत्वों को मानते हैं और प्राय: एक जैसे रीति-रिवाजों का ही पालन करते हैं।

6. अनुसूचित जातियों के आरक्षण के दो आधार लिखिए।

उ०– अनुसूचित जातियों के आरक्षण के दो आधार हैं—

(i) अनुसूचित जातियों का सामाजिक रूप से पिछड़ापन।

(ii) अनुसूचित जातियों का आर्थिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़ापन।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. भारत की विभिन्न जनजातियों का उल्लेख करते हुए उनकी समस्याओं पर प्रकाश डालिए।

उ०– भारत के विभिन्न राज्यों में पाई जाने वाली प्रमुख जनजातियाँ निम्नलिखित हैं—

(i) असम– असम में निम्नलिखित जनजातियाँ पाई जाती हैं— (क) योनपास, (ख) मिजिस, (ग) आवास, (घ) खलास और (ङ) उफलास।

संविधान की छठी अनुसूची में उपबन्धों के अनुसार असम में संयुक्त खासी, जयन्तिया पहाड़ियों, गारो पहाड़ियों, मिजो पहाड़ियों, उत्तर कचार पहाड़ियों तथा मिकिर पहाड़ियों में निवास करने वालों को आदिवासियों में सम्मिलित किया गया है।

(ii) आन्ध्र प्रदेश एवं तेलंगाना– आन्ध्र प्रदेश में जो जनजातियाँ पाई जाती है, उनमें चेंचुस, कोंडा रेड्डी, कोडा कायू, जाहायुस, कोलस, नायक पोड तथा साखरस/साबारस आदि प्रमुख हैं।

(iii) अरुणाचल प्रदेश– अरुणाचल प्रदेश में निशी, उफला, निशोंग, हिलभिरी, आयातानी, खोबास आदि जनजातियाँ पाई जाती है।

(iv) झारखण्ड– झारखण्ड में खरिया, मुंडा, ओरांव, खरवार, कहार, विरहोर तथा संथाल आदि प्रमुख जनजातियाँ हैं। झारखण्ड में कुल तीस जनजातियाँ पाई जाती हैं।

(v) कर्नाटक– कर्नाटक राज्य में अलेरु, मालेरु आदि प्रमुख जनजातियाँ हैं।

(vi) गुजरात– गुजरात में भील, नायका अथवा नायकडा आदि प्रमुख जनजातियाँ हैं।

(vii) महाराष्ट्र– महाराष्ट्र में भील, हल्बा-हल्बी, धोबा, हल्ला-कोरटी, महादेव कोली, गोंड तथा ठाकुर आदि जनजातियाँ प्रमुख रूप से पाई जाती हैं।

(viii) राजस्थान– राजस्थान में अनुसूचित जनजाति के रूप में भीलों का वास है परन्तु इसके अतिरिक्त मीणा, दामोर, राकारिया, गारसिया भी अधिक संख्या में निवास करती हैं।

(ix) ओडिशा– ओडिशा राज्य में आदिवासियों की 62 जातियाँ पाई जाती हैं।

(x) पश्चिम बंगाल– पश्चिम बंगाल में संथाल प्रमुख अनुसूचित जनजाति है।

(xi) मध्य प्रदेश तथा छत्तीसगढ़– मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ में जनजातियों की संख्या 46 के लगभग है। भील, भिलाला, वरेला, परनिया, बैंगा, भारिया, भूमिया, हल्बा-हल्बी, कंवर-कनकार, धानका-पनगढ़ तथा सहरिया अन्य महत्वपूर्ण जनजातियाँ हैं।

(xii) उत्तर प्रदेश– उत्तर प्रदेश में थारू, बुक्सा, खरवार व माहीगीर जनजातियाँ अल्प संख्या में पाई जाती हैं।

(xiii) उत्तराखण्ड– उत्तराखण्ड में भोटिया, बुक्सा, जौनसारी, थारू, राजि तथा कोल्टा जनजातियाँ पाई जाती हैं।

(xiv) नागालैण्ड– नागालैण्ड की प्रमुख जनजाति का नाम **नागा** है। यह जनजाति नागा पहाड़ियों, पटकोई की पहाड़ियों तथा अरुणाचल प्रदेश में निवास करती हैं।

(xv) तमिलनाडु– दक्षिण भारत में तमिलनाडु राज्य की नीलगिरि तथा उटकमण्ड पहाड़ियों में टोडा जनजाति निवास करती है।

भारत में जनजातियों की समस्याएँ– भारत में जनजातियों की निम्नलिखित समस्याएँ हैं—

(i) आर्थिक समस्याएँ– वर्तमान में भूमि तथा वन कानून भारतीय जनजातियों के लिए बहुत कठोर हैं। उन्हें आजीविका के लिए वनों के प्रयोग करने की स्वतंत्रता नहीं है। वन अधिकारी, ठेकेदार तथा साहूकार इनका शोषण करते हैं। इस कारण जनजातियों की परम्परागत अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई हैं तथा आर्थिक रूप से ये बहुत पिछड़ गए हैं। अधिकांश आदिवासी आधुनिक समय में भी गरीबी की रेखा के नीचे जीवन यापन कर रहे हैं। आदिवासी उपयोजना, बीस-सूत्री कार्यक्रम, केन्द्रीय सहायता तथा विशेष योजनाओं के बावजूद भी आदिवासियों की आय में गिरावट आ रही है। गरीबी दूर करने की आई० आर० डी० पी० योजना में छोटे तथा सीमान्त आदिवासी किसानों को सरकार व्यापार करने के गुण सिखा रही है। अशिक्षा तथा शहरी सभ्यता से दूर, जंगलों में निवास करने वाले आदिवासियों का आर्थिक शोषण अभी भी जारी है। वनों से प्राप्त नैसर्गिक सम्पदा के लिए ठेकेदारों, व्यापारियों तथा बिचौलियों द्वारा उनका भारी शोषण किया जाता है। वनोत्पाद (वनों से प्राप्त पदार्थ) जैसे चिरौंजी, शहद तथा महँगी वस्तुओं वस्तुओं का उचित मूल्य आदिवासियों को नहीं मिल पाता है। मध्य प्रदेश में चावल व्यापारियों की ऐसी लॉबी है, जिनका वनोत्पाद पर एकाधिकार स्थापित है। तेंदु पत्ते के व्यापार में ठेकेदारों का ऐसा जाल बिछा है कि आदिवासी कदम-कदम पर ठगा महसूस करता है। लघु वन उत्पादों के मूल्य में जो वृद्धि की गई है, उसका लाभ इन लाखों आदिवासियों को न मिलकर चन्द बिचौलियों की तिजोरियों में बन्द होने लगा है।

(ii) औद्योगीकरण के कारण उत्पन्न समस्याएँ– औद्योगीकरण के नाम पर जो ढाँचा खड़ा किया जा रहा है, उससे सम्पूर्ण देश में बेदखल किए गए लोगों की आबादी काफी बढ़ चुकी है। चाहे कोयले की खानें हो या पनबिजली, बाँध हों या अन्य भारी कारखाने या उद्योग कुल मिलाकर उनका लाभ कुछ वर्ग विशेष के लोगों तक ही सीमित होकर रह गया है। जिस गरीब आदिवासी की जमीन से कोयला निकाला जाता है तथा विकास के लिए जिस निर्माण की बुनियाद रखी जाती है, उसमें आदिवासियों की भूमिका केवल ढाँचे के निर्माण तक ही सीमित रहती है। सैंकड़ों वर्षों से जिस जमीन से वह जुड़ा हुआ है, औद्योगीकरण के नाम पर उसे उस भूमि से वंचित कर दिया है। उसकी जमीन के बदले हर्जाने के लिए कोई समय-सीमा निर्धारित नहीं की जाती। एक अधिसूचना के द्वारा (जिसे आदिवासी पढ़ नहीं सकता) जमीन सरकार की हो जाती है। आज यह सब स्वीकार करते हैं कि गाँव के छोटे किसान तथा आदिवासियों तक शासन द्वारा निर्धारित विकास का लाभ नहीं पहुँच पाता हैं। औद्योगीकरण के कारण इन क्षेत्रों में निम्नलिखित समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं—

(क) अनैतिक कार्यों में वृद्धि, (ख) बेरोजगारी तथा गरीबी, (ग) भारी संयंत्र के आस-पास निवास करने वाले आदिवासियों के साथ सामाजिक तथा व्यावसायिक भेदभावपूर्ण व्यवहार, (घ) जल प्रदूषण, (ङ) भविष्य में पुन: बेदखली, (च) आदिवासियों के जीवन में हस्तक्षेप, (छ) शहरी अपराध जैसे डकैती और जुए की प्रवृत्ति में वृद्धि, (ज) भूमि से वचिंत होना आदि।

(iii) सामाजिक समस्याएँ– भारतीय जनजातीय समाज में निम्नलिखित समस्याएँ प्रमुख रूप से पाई जाती हैं—

(क) जनजातियों में बाल-विवाह पाए जाते हैं।

(ख) जनजातियों में पाए जाने वाले युवा-गृहों में शिथिलता आ गई है और उनकी उपादेयता कम हो गई हैं।

(ग) वधू-मूल्य के कारण मौद्रिक अर्थव्यवस्था में बहुत अधिक वृद्धि हुई हैं, जिससे जनजातियों में विवाहों में धन का अत्यन्त महत्व हो गया हैं।

(घ) जनजातियों में गोत्रीय विवादों जैसी जटिलता पाई जाती है।

(ङ) सामाजिक संगठन की समरूपता, श्रम विभाजन से समाप्त हो चुकी है, जिसके कारण जनजातियों का सामाजिक संगठन कमजोर हुआ हैं।

(च) जनजातीय लोगों में मद्यपान का प्रचलन दीर्घकाल से चला आ रहा है। अत: मद्यपान से न केवल उनमें स्वास्थ्य संबंधी समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं, बल्कि आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण पारिवारिक कलह भी बढ़ गई हैं।

(छ) जनजातियों में भौतिकवादी विश्व की चमक से वेश्यावृत्ति एवं विवाहेत्तर यौन संबंधों की समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं।

(iv) राजनीतिक समस्याएँ– आदिवासियों में राजनीतिक जागरूकता प्राय: शून्य के बराबर थी, परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् विभिन्न स्तरों पर आरक्षण, प्राथमिकता, प्रजातांत्रिक अधिकारों के अन्तर्गत चुनने एवं चुने जाने के अधिकार मिलने से आदिवासी भी शासन में भागीदारी निभाने लगे हैं, परिणामस्वरूप वे अपनी सामाजिक व आर्थिक समस्याओं के प्रति जागरूक हो गए हैं। परन्तु इसके साथ ही अनेक जनजातियों में विद्रोह, संघर्ष एवं अलगाववादी विचारधारा का जन्म हुआ है। अनेक आदिवासी क्षेत्रों में आर्थिक, औद्योगिक तथा सामाजिक विकास के लिए अलग राज्यों की माँग होने लगी है। बिहार का विभाजन कर नवनिर्मित झारखण्ड तथा मध्यप्रदेश में नवनिर्मित छत्तीसगढ़ राजनीतिक अलगाववादी प्रवृत्तियों के ही परिणाम कहे जा सकते हैं।

(v) **अशिक्षा एवं निरक्षरता की समस्याएँ–** जनजातियों की प्रमुख समस्याएँ अशिक्षा तथा निरक्षरता से संबधित हैं। इनमें निरक्षरता का प्रतिशत आज भी अन्य जातियों की तुलना में काफी अधिक है। अशिक्षा के कारण ही जनजातीय समाज अनेक कुरीतियों, अन्धविश्वासों एवं अनैतिक परम्पराओं में फँसे हुए हैं। वर्ष 1961 ई० में आदिवासी जनसंख्या का 8.5 प्रतिशत साक्षर थे, जिनकी संख्या 2001 ई० में बढ़कर 19.8% हो गई है।

(vi) **धार्मिक समस्याएँ–** जनजातियों में धर्म, जादू-टोने आदि का विशेष प्रचलन पाया जाता है। प्राय: बीमार व्यक्ति का इलाज टोने-टोटके से किया जाता है। बाह्य प्रभावों एवं सामाजिक संगठनों की सक्रियता के कारण अब जादू-टोने का असर कम होता सा दिखाई देता है। आदिवासियों में धर्मान्तरण की गम्भीर समस्या ने विकराल रूप धारण कर लिया है। मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा आदि अनेक पूर्वोत्तर राज्यों की 70 प्रतिशत आदिवासी जनसंख्या धर्मान्तरण करके ईसाई धर्म स्वीकार कर चुकी है। आदिवासियों के आर्थिक एवं सामाजिक विकास की भूमिका के संदर्भ में संसद को धर्मान्तरण जैसे विषयों से जूझना पड़ता हैं। **नियोगी समिति** (1986 ई०) की रिपोर्ट में यह स्पष्ट किया गया है कि मध्य प्रदेश में अमेरिका, कनाडा, बेल्जियम, डेनमार्क, फ्रांस, जर्मनी तथा नार्वे आदि देशों द्वारा 29 करोड़ 27 लाख 39 हजार रुपए मिशन को उपलब्ध कराए गए। सन् 1986 ई० में धर्मान्तरण व मिशन के कार्य हेतु पूरे भारत के लिए विदेशी धन के आँकड़े 216 करोड़ 27 लाख रुपए बताए गए।

(vii) **हत्या एवं यौन शोषण की समस्याएँ–** संसद में यह स्वीकार किया गया है कि वर्ष 2004 ई० में सम्पूर्ण देश में आदिवासियों पर हिंसक मामलों की संख्या 20,000 से अधिक है। तेंदु पत्ता उद्योग के लिए बिचौलियों, दलालों तथा ठेकेदार द्वारा गरीब तथा असहाय युवतियों व महिलाओं का यौन शोषण करने के मामले भी प्रकाश में आए हैं।

(viii) **स्वास्थ्य तथा जनसंख्या की समस्याएँ–** अधिकांश जनजातियों को समुचित स्वास्थ्य-सेवाएँ उपलब्ध नहीं है, जबकि तराई क्षेत्रों, जंगलों आदि में अनेक प्रकार की बीमारियाँ पाई जाती हैं। सरकार ने कुछ प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र खोले भी हैं, परन्तु वहाँ चिकित्सा-सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं है। सफाई की कमी के कारण पोलियों, मलेरिया, हैजा, चेचक आदि बीमारियाँ बढ़ती रहती है। स्वास्थ्य की समुचित सुविधाएँ उपलब्ध न होने से मृत्यु-दर बहुत अधिक हैं। इसके साथ ही कुछ जनजातियों जैसे भील, गोंड आदि से जनसंख्या भी तेजी से बढ़ रही है और कोरवा एवं टोडा जनजातियों की जनसंख्या कम होती जा रही है।

(ix) **विस्थापन की समस्या–** आदिवासी क्षेत्रों में भारी संयन्त्रों की स्थापना, आदिवासियों के समक्ष विस्थापित होने की समस्या उत्पन्न कर देती है। उपलब्ध स्रोतों के अनुसार विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान भारत में 199 कल-कारखानों की स्थापना से 17 लाख ग्रामीण जनता को अपनी भूमि से विस्थापित होना पड़ा है, जिनमें आदिवासियों की जनंसख्या लगभग 8 लाख 10 हजार से अधिक थी। अनुसूचित जनजाति आयोग, भारत सरकार की छठी रिपोर्ट में बताया गया है कि देश के विभिन्न राज्यों में स्थापित 17 परियोजनाओं के कारण 43,328 आदिवासी परिवार अपनी जमीन से बेदखल किए जा चुके हैं।

(x) **आवागमन तथा संचार की समस्याए–** अधिकांश जनजातियाँ दुर्गम भौगोलिक स्थानों में रहती हैं, अत: उनका सम्पर्क आधुनिक समाज से बहुत कम हो पाता है। आधुनिक संचार एवं यातायात के साधनों का विकास बहुत कम हुआ है। इस प्रकार का वातावरण न होने के कारण जनजातियाँ विकास के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो पाती हैं।

2. अनुसूचित जनजातियों से आप क्या समझते हैं? भारत में अनुसूचित जनजातियों की प्रमुख समस्याओं की विवेचना कीजिए।

उ०– **आदिवासी अथवा अनुसूचित जनजाति का अर्थ एवं परिभाषाएँ–** आदिवासियों को जिन अन्य नामों से जाना जाता है उनमें वनवासी, पहाड़ी, आदिम जाति, वन्य जाति, अनुसूचित जनजाति तथा सर्वजीववादी प्रमुख है। अनुसूचित जनजातियों में केवल उन जनजातियों को रखा जाता है, जिनको संविधान की अनुसूची में सम्मिलित किया गया है। आदिवासी शब्द को मानवशास्त्र में एक सामाजिक समूह के रूप में परिभाषित किया जाता है, जो उसे अन्य जातियों से भिन्नता प्रदान करती है। इस समूह का एक अलग नाम होता है तथा इसमें रहने वाले आदिवासियों में एक ही प्रकार की संस्कृति पाई जाती है। यह जनजाति एक पृथक भौगोलिक क्षेत्र (सामान्यत: जंगलों, पहाड़ों या बीहड़ क्षेत्रों) में निवास करती है। प्रमुख विद्वानों ने इसे निम्नलिखित रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया है—

''जनजाति से हमारा तात्पर्य आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो सामान्य भाषा बोलता हो तथा बाह्य आक्रमणों से अपनी सुरक्षा करने के लिए संगठित हो। **–बोआस**

''एक ऐसा ग्रामीण समुदाय या ग्रामीण समुदायों का ऐसा समूह जिसकी सामान्य भूमि हो, सामान्य संस्कृति हो, सामान्य भाषा हो और जिस समुदाय के व्यक्तियों का जीवन आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे के साथ जुड़ा हो, जनजाति कहलाता है।''

–जैकब्स एवं **स्टर्न**

''स्थानीय आदिवासियों के किसी भी ऐसे समूह को हम जनजाति कहते हैं जो एक सामान्य क्षेत्र में निवास करता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो तथा सामान्य संस्कृति के अनुसार व्यवहार करता हो।'' **–गिलिन** एवं **गिलिन**

भारत में अनुसूचित जनजातियों की समस्याएँ– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

3. भारत में जनजातियों की प्रमुख समस्याओं की विवेचना कीजिए। उनकी दशा में सुधार लाने के लिए दो उपायों को लिखिए।

उ०– **भारत में जनजातियों की समस्याएँ–** इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

जनजातियों की दशा में सुधार लाने के लिए दो उपाय निम्न हैं—

(i) अनुसूचित जनजातियों को शिक्षण व प्रशिक्षण हेतु विशेष सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाती हैं। सरकार ने शिक्षा का विकास करने के उद्देश्य से आदिवासियों को नि:शुल्क शिक्षा, छात्रवृत्ति तथा छात्रावास की सुविधाएँ प्रदान की हैं।

(ii) विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में आदिवासियों के विकास तथा कल्याण से संबंधित अनेक कार्यक्रमों तथा योजनाओं को स्थान दिया गया है। आदिवासी उपयोजना कार्यक्रम का लक्ष्य है— गरीबी को दूर करना। बीस सूत्री कार्यक्रमों में सर्वोच्च स्थान **गरीबी के विरुद्ध संघर्ष** को दिया गया था। छठी योजनाकाल में पूरे देश में 27,59,379 आदिवासियों को गरीबी की रेखा से ऊपर उठाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था।

4. भारत में जनजातियाँ मुख्यत: किन भागों में पाई जाती हैं? इनकी प्रमुख समस्याएँ क्या हैं? इनके समाधान के लिए सरकार की ओर से क्या उपाय किए जा रहे हैं?

उ०– **भारत में जनजातियाँ की समस्याओं के समाधान के उपाय–** अनुसूचित जनजातियों की समस्याओं के समाधान हेतु सरकार ने अनेक कदम उठाए हैं। इन्हें संवैधानिक सुरक्षा प्रदान करने के साथ-साथ इनकी समस्याओं के समाधान हेतु निम्नलिखित उपाय भी किए गए हैं—

(i) शासकीय सेवाओं में आरक्षण की सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

(ii) जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन हेतु कल्याण व सलाहकार अभिकरणों की स्थापना की गई हैं।

(iii) सभी राज्यों में विकास एवं कल्याण कार्यक्रम संबंधी विभागों की स्थापना की गई हैं जो कि जनजातीय कल्याण कार्यों की देख-रेख करते हैं।

(iv) लोकसभा तथा राज्य विधानमण्डलों में इनके लिए स्थानों के आरक्षण की व्यवस्था की गई हैं।

(v) संवैधानिक संरक्षणों के क्रियान्वयन की जाँच हेतु संसदीय समिति का गठन किया गया है।

(vi) अनुसूचित जनजातियों के बीच कार्य कर रहे गैर-सरकारी स्वैच्छिक संगठनों को अनुदान प्रदान किया जाता है।

(vii) अनुसूचित जनजातियों को शिक्षण व प्रशिक्षण हेतु विशेष सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाती हैं। सरकार ने शिक्षा का विकास करने के उद्देश्य से आदिवासियों को नि:शुल्क शिक्षा, छात्रवृत्ति तथा छात्रावास की सुविधाएँ प्रदान की हैं।

(viii) विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में आदिवासियों के विकास तथा कल्याण से संबंधित अनेक कार्यक्रमों तथा योजनाओं को स्थान दिया गया है। आदिवासी उपयोजना कार्यक्रम का लक्ष्य है—गरीबी को दूर करना। बीस सूत्री कार्यक्रमों में सर्वोच्च स्थान **गरीबी के विरुद्ध संघर्ष** को दिया गया था। छठी योजनाकाल में पूरे देश में 27,59,379 आदिवासियों को गरीबी की रेखा से ऊपर उठाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था।

(ix) पंचवर्षीय योजनाओं में अनुसूचित जनजातियों के विकास हेतु विशेष प्रावधान किए गए हैं।

(x) अनुसूचित जाति और जनजाति की महिलाओं और बच्चों के हित सुरक्षित करने के लिए केन्द्रीय कल्याण राज्यमन्त्री की अध्यक्षता में सलाहकार बोर्ड की स्थापना की गई है।

(xi) वन से प्राप्त उत्पादों के विपणन के संबंध में सहकारी समितियों की स्थापना की गई है। मध्य प्रदेश में नई तेंदू पत्ता नीति के चलते ठेकेदारों के आदमी आदिवासियों का शोषण नहीं कर पाएँगे क्योंकि तेंदू पत्ता एकत्र कराने का कार्य सहकारिता के अन्तर्गत आ गया है।

(xii) संविधान की पाँचवीं अनुसूची में अनुसूचित क्षेत्र वाले तथा राष्ट्रपति के निर्देश पर अनुसूचित आदिम जातियों वाले राज्यों में आदिम जाति के लिए सलाहकार परिषदों की स्थापना की व्यवस्था है। तमिलनाडु, गुजरात, ओडिशा, आन्ध्र प्रदेश, बिहार, पश्चिम-बंगाल, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र तथा राजस्थान में ऐसी परिषदों की स्थापना की जा चुकी है। ये परिषदें आदिवासियों के कल्याण संबंधी विषयों पर राज्यपालों को परामर्श देती है।

(xiii) कुछ राज्यों में भारतीय जनजातीय विपणन विकास संघ की स्थापना भी की गई हैं जिससे उनका आर्थिक शोषण कम किया जा सके।

(xiv) **राष्ट्रीय आदिवासी नीति 2006–** 21 जुलाई, 2006 को केन्द्र सरकार द्वारा राष्ट्रीय आदिवासी नीति का मसौदा जारी किया गया जिसके अन्तर्गत आदिवासियों से संबंधित 23 मुद्दे हैं— आदिवासियों की जमीन छीनने, उनके विस्थापन व पुनर्वास, शिक्षा, सफाई, राज्यों के पेशा कानून को केन्द्रीय कानून के समान बनाना, लैंगिक भेदभाव के अधिकार को दूर करना, उनकी संस्कृति की सुरक्षा करने आदि पर बल तथा जंगल की जमीन पर आदिवासियों के अधिकार को भी शामिल किया गया हैं।

(xv) गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की दृष्टि से सरकार द्वारा समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारण्टी कार्यक्रम आदि को आदिवासी क्षेत्रों में लागू किया गया है।

(xvi) केन्द्र तथा राज्य सरकारों के द्वारा अनुसूचित जनजातियों के लिए बनाए गए संवैधानिक तथा कानूनी सुरक्षा उपायों को लागू किया जा रहा है तथा इसके प्रभावशाली क्रियान्वयन पर भी अधिक जोर दिया जा रहा है।

5. सरकार द्वारा आदिवासियों की समस्याओं के समाधान के लिए उठाए गए कदमों की व्याख्या कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 4 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

12

मानवाधिकार
(Human Rights)

<u>अभ्यास</u>

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 176-177 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 177-178 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मानवाधिकार का अर्थ एवं परिभाषा बताइए।

उ०– मानवाधिकार का अर्थ एवं परिभाषा– मानव अधिकारों से अभिप्राय मौलिक अधिकारों एवं स्वतंत्रता से हैं जिसके सभी मानव प्राणी हकदार है। अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं के उदाहरण के रूप में जिनकी गणना की जाती है, उनमें नागरिक और राजनीतिक अधिकारों, नागरिक और राजनैतिक अधिकार सम्मिलित हैं जैसे कि जीवन और आजाद रहने का अधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और कानून के सामने समानता एवं आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों के साथ ही साथ सांस्कृतिक गतिविधियों में भाग लेने का अधिकार, भोजन का अधिकार काम करने का अधिकार एवं शिक्षा का अधिकार।

मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम की धारा 2 (घ) के अनुसार, ''मानवाधिकारों से तात्पर्य जीवन, स्वतंत्रता, समता एवं व्यक्ति की गरिमा से हैं जिन्हें संविधान द्वारा प्रत्याभूत किया गया अथवा जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा में दिए गए हैं एवं भारतीय न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय है।''

2. भारत में मानवाधिकार की स्थिति पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उ०– भारत में मानवाधिकार की स्थिति– देश के विशाल आकार और विविधता, विकासनशील तथा संप्रभुता संपन्न धर्म-निरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणतंत्र के रूप में इसकी प्रतिष्ठा तथा एक भूतपूर्व औपनिवेशिक राष्ट्र के रूप में इसके इतिहास के परिणामस्वरूप भारत में मानवाधिकारों की परिस्थिति एक प्रकार से जटिल हो गई हैं। भारत का संविधान मौलिक अधिकार प्रदान करता है जिसमें धर्म की स्वतंत्रता भी अंतर्भूक्त हैं। संविधान की धाराओं में बोलने की आजादी के साथ कार्यपालिका और न्यायपालिका का विभाजन तथा देश के अन्दर एवं बाहर आने जाने की भी आजादी दी गई हैं। यह अक्सर मान लिया जाता है कि विशेषकर मानवाधिकार दलों और कार्यकर्ताओं के द्वारा कि दलित अथवा अछूत जाति के सदस्य पीड़ित हुए हैं एवं लगातार पर्याप्त भेदभाव झेलते रहे हैं। हालांकि मानवाधिकार की समस्याएँ भारत में मौजूद हैं फिर भी इस देश को दक्षिण एशिया के दूसरे देशों की तरह आमतौर पर मानवाधिकारों को लेकर चिंता का विषय नहीं माना जाता है। इन विचारों के आधार पर फ्रीडम हाऊस द्वारा फ्रीडम इन द वर्ल्ड 2006 को दिए गए रिपोर्ट में भारत को राजनीतिक अधिकारों के लिए दर्जा 2, एवं नागरिक अधिकारों के लिए दर्जा 3 दिया गया है जिससे भारत ने स्वाधीन होने का व संभवत: उच्चतम दर्जा (रेटिंग) अर्जित किया है।

3. मानव अधिकारों का संक्षिप्त महत्व बताइए।

उ०– मानव अधिकारों का महत्व– मानव अधिकार वह मौलिक तथा अन्यसंक्राम्य अधिकार है जो मनुष्य के जीवन के लिए अति आवश्यक है। मानव अधिकार ही मानव को समानता का अधिकार दिलाते हैं, यही उसे यह अहसास कराते हैं कि वह अन्य मानवों के समान हैं, चाहे वह किसी भी राष्ट्रीयता, प्रजाति या नस्ल धर्म लिंग का हो। मानव अधिकार हमारी प्रकृति में अन्तर्निहित है, इनके बिना हम मानवों की भाँति जीवित नहीं रह सकते। मानवीय अधिकार तथा मौलिक स्वतंत्रताएँ हमें अपने गुणों, ज्ञान प्रतिभा तथा अन्तर्विवेक का विकास करने में सहायक होते हैं जिससे हम अपनी भौतिक आध्यात्मिक तथा अन्य आवश्यकताओं की संतुष्टी कर सके। संविधान में वर्णित सभी मौलिक कर्त्तव्य की मानवाधिकारों की नींव हैं। इन मौलिक कर्त्तव्यों के अतिरिक्त सरकार ने अनेक कानून बनाए हैं जिनसे मानव को अपने मानव होने का अधिकार प्राप्त होता है।

4. महिलाओं के हित के लिए बनाए गए किन्हीं दो प्रमुख अधिकारों का उल्लेख कीजिए।

उ०– महिलाओं के हित के लिए बनाए गए दो प्रमुख अधिकार निम्न हैं—

(i) महिलाओं के राजनीतिक अधिकार (ii) विवाहित महिलाओं के राष्ट्रीयता संबंधी अधिकार

5. बच्चों के हित के लिए बनाए किन्हीं दो प्रमुख अधिकारों का उल्लेख कीजिए।

उ०– भारतीय संविधान में बच्चों के हित के लिए बनाए गए दो प्रमुख अधिकार निम्न हैं—

(i) 6-14 वर्ष की आयु समूह वाले सभी बच्चों को अनिवार्य और नि:शुल्क प्रारम्भिक शिक्षा का अधिकार।

(ii) 14 वर्ष की उम्र तक के बच्चों को किसी भी जोखिम वाले कार्य से सुरक्षा का अधिकार।

6. बच्चों के अधिकारों की घोषणा (1959) में उल्लिखित किन्हीं 5 सिद्धान्तों को लिखिए।

उ०– बच्चों के अधिकारों की घोषणा (1959 ई०) में उल्लिखित 5 सिद्धान्त जो बच्चों के कल्याण की संहिता के समान हैं, निम्नलिखित हैं—

(i) बच्चे घोषणा में उल्लिखित सभी अधिकारों का उपभोग करेंगे। बिना किसी अपवाद के प्रत्येक बच्चा जाति, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक या अन्य मत, राष्ट्रीय या सामाजिक उत्पत्ति, सम्पत्ति, जन्म या अन्य प्रास्थिति, चाहे उसके या उसके परिवार के हों, के भेदभाव बिना इन अधिकारों का अधिकारी होगा।

(ii) बच्चा विशेष संरक्षण का उपभोग करेगा तथा उसे विधि तथा उन साधनों द्वारा अवसर तथा सुविधाएँ दी जाएँगी जिससे उसका शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक विकास स्वस्थ तथा साधारण ढंग से तथा स्वतंत्रता एवं गरिमा की दशाओं में हो सके। इस प्रयोजन के लिए कानून बनाए जाने में, बच्चों के सर्वोत्तम हित पर प्रमुख विचार होगा।

(iii) जन्म से ही बच्चा एक नाम एवं राष्ट्रीयता का अधिकारी होगा।

(iv) बच्चे सामाजिक सुरक्षा के हितों का लाभ उपभोग करेंगे। वह बढ़ने तथा स्वस्थ विकास का अधिकारी होगा तथा इस उद्देश्य से उसकी तथा उसकी माँ की जन्म से पूर्व एवं जन्म के बाद विशेष देखभाल एवं संरक्षण होगा।

(v) बच्चे जो शारीरिक, मानसिक या सामाजिक रूप से असुविधाग्रस्त हैं उन्हें उनकी विशेष दशा के अनुसार विशेष उपचार, शिक्षा एवं देखभाल प्रदान की जाएगी।

7. संविधान में वर्णित बच्चों के कोई दो प्रमुख अधिकार बताइए।

उ०– संविधान में वर्णित बच्चों के दो अधिकार निम्न हैं—

(i) जीवन के रहन-सहन के एक उपयुक्त प्रतिमान को पाने का अधिकार– बच्चे के उपयुक्त शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, नैतिक एवं सामाजिक विकास के लिए राज्य पक्षकार स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक बच्चा जीवन के रहन-सहन का एक उपयुक्त प्रतिमान पाने का अधिकारी है। इसकी प्राथमिक जिम्मेदारी माता-पिता या बच्चे के लिए जो जिम्मेदार हैं उनकी है। राज्य पक्षकार अपनी राष्ट्रीय दशाओं एवं साधनों को ध्यान में रखते हुए माता-पिता या बच्चों के लिए जिम्मेदार लोगों की इस मामले में सहायता हेतु उपयुक्त उपाय करेंगे। **(अनुच्छेद 27)**

(ii) शिक्षा पाने का अधिकार– प्रत्येक बच्चे को शिक्षा पाने का अधिकार है तथा इस अधिकार की क्रमिक प्राप्ति के लिए तथा समान अवसर के आधार पर राज्य पक्षकार विशेषकर—

(क) प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य करेंगे तथा उसे सभी को नि:शुल्क उपलब्ध कराएँगे;

(ख) विभिन्न प्रकार की माध्यमिक शिक्षा को प्रोत्साहित करेंगे;

(ग) उच्च शिक्षा प्रत्येक उपयुक्त साधनों से क्षमता के आधार पर सभी को अधिगम्य कराएँगे;

(घ) शैक्षिक एवं व्यावसायिक सूचना एवं मार्गदर्शन सभी बच्चों को उपलब्ध कराएँगे;

(ङ) स्कूलों में नियमित उपस्थिति को प्रोत्साहन करने के लिए तथा शिक्षा मध्य में छोड़ने के दर को न्यून करने के उपाय करेंगे। **(अनुच्छेद 28)**

8. बच्चों के अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार से आप क्या समझते हैं?

उ०– बच्चों के अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार– बच्चे को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार होगा। इस अधिकार में सभी प्रकार की सूचना एवं विचार को खोजने, प्राप्त करने तथा देने का अधिकार सम्मिलित होंगे। यह अधिकार कुछ प्रतिबन्धों के अधीन हो सकता है परन्तु यह प्रतिबन्ध ऐसे होने चाहिए जो विधि द्वारा उपबन्धित हो तथा (i) अन्य लोगों के अधिकार या प्रतिष्ठा के सम्मान के लिए या (ii) राष्ट्रीय सुरक्षा के संरक्षण के लिए लोक व्यवस्था या लोक स्वास्थ्य या नैतिकता के लिए आवश्यक होना चाहिए। **(अनुच्छेद 13)**

9. विश्व मानवाधिकार दिवस पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उ०– विश्व मानवाधिकार दिवस– 'विश्व मानवाधिकार दिवस' सम्पूर्ण विश्व में प्रत्येक वर्ष 10 दिसम्बर को मनाया जाता है। संयुक्त राष्ट्र महासभा ने सन् 1948 ई० सार्वभौमिक मानवाधिकार घोषणा-पत्र स्वीकार किया था। तब से 10 दिसम्बर को प्रत्येक वर्ष मानवाधिकार दिवस के रूप में सम्पूर्ण विश्व में मनाया जाता है। भारत में 28 सितंबर, 1993 ई० मानव अधिकार कानून अमल में आया। 12 अक्टूबर, 1993 ई० में सरकार ने राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग का गठन किया।

मानवाधिकार, किसी भी इन्सान की जिंदगी, आजादी, बराबरी और सम्मान का अधिकार है। अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार दिवस प्रत्येक वर्ष 10 दिसम्बर को मानवीय अधिकारों को पहचान देने और वजूद को अस्तित्व में लाने के लिए तथा अधिकारों के लिए जारी हर लड़ाई को ताकत देने के लिए मनाया जाता है सम्पूर्ण विश्व में मानवता के खिलाफ हो रहे जुल्मों-सितम को रोकने, उसके खिलाफ संघर्ष को नई परवाज देने में इस दिवस की महत्वपूर्ण भूमिका है।

10. मानवाधिकारों के समक्ष उत्पन्न चुनौतियों का उल्लेख कीजिए।

उ०– **मानवाधिकार के समक्ष चुनौतियाँ अथवा समस्याएँ–** दुनिया में विभिन्न देशों की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मौद्रिक दशाएँ अलग-अलग हैं। लोग भौतिकता की दृष्टि से जितने आधुनिक हुए है उतने विचारों की दृष्टि से नहीं। यह विचार-संकीर्णता हमें लोगों के अधिकारों का सम्मान करने से रोकती है स्त्रियों के प्रति सामूहिक भेद-भाव विभिन्न समाजों एवं राष्ट्रों में आज भी हो रहा है। तानाशाही कानूनों का प्रचलन समाप्त नहीं किया जा सका है, वर्ग संघर्ष और अनावश्यक रक्तपात का दौर जारी है। ऐसे में जहाँ लोगों के जीने का अधिकार भी खतरे में पड़ जाता है तो वहाँ अन्य मानवाधिकारों, जैसे— समानता, विचार अभिव्यक्ति, धार्मिक स्वतंत्रता आदि के बारे में बातें करना भी व्यर्थ है। बाल मजदूरी, महिलाओं को यौन शोषण, धार्मिक अल्पसंख्यकों का उत्पीड़न, जातिगत भेद-भाव, लूट-पाट, बलात्कार आदि सभी बातें मानवाधिकारों के खिलाफ जाती हैं। दंगे-फसाद, आतंक व दहशत पर आधारित सामाजिक व्यवस्था में हमारे मूलभूत अधिकारों का हनन सर्वाधिक होता है। सबल सरकारी तंत्र अपने निहत्थे नागरिकों का उत्पीड़न करता है, तो मानवाधिकारवादी फिर किससे गुहार करें। जब निर्धन और असहाय व्यक्ति को मामूली अपराध में वर्षों जेल में सड़ना पड़ता है तब मानवाधिकारों की बात बेमानी हो जाती है। युद्धबंदियों को जब अमानवीय यातनाएँ दी जाती है तो मानवाधिकारों पर कुठाराघात होता है। कानूनी दाँवपेचों में फँसकर रह जाने वाला हमारा न्यायतंत्र उचित समय पर न्याय नहीं कर पाता है तो इसका कुफल भी आम नागरिकों को ही भुगतना पड़ता है।

समस्या का एक और पहलू यह है कि लोग मानवाधिकारों की व्याख्या अपने-अपने ढंग से करते हैं। कई देशों में इसे लोगों के धार्मिक अधिकारों से जोड़कर अधिक देखा जाता है। कहीं-कहीं व्यक्तियों के अधिकार धार्मिक कानूनों की आड़ में कुचल दिए जाते हैं। जनसंख्या बहुल देशों में पुलिस तंत्र समाज के दबे-कुचलों पर अधिक कहर बरसाता है। बच्चों के अधिकार, अभिभावकों द्वारा कम कर दिए जाते हैं।

11. मानवाधिकारों के समक्ष उत्पन्न चुनौतियों के समाधान पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उ०– **मानवाधिकार के समक्ष उत्पन्न चुनौतियों का समाधान–** संयुक्त राष्ट्र संघ का एक अंग मानवाधिकारों के प्रति समर्पित होकर काम कर रहा है, विभिन्न देशों की सरकारों ने अपने यहाँ मानवाधिकार आयोग जैसी संस्थाएँ गठित की हैं। पूरी दुनिया के लोग मानवाधिकारों के बारे में जागरूक हो सकें, लोग अपने व दूसरों के अधिकारों को जाने आदि उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इन संस्थाओं का गठन किया जा रहा है। आधुनिक समाज से नैतिक भावनाओं का शनैः-शनै लोप होना भी मानवाधिकार के हनन के लिए जिम्मेदार तत्व बन गया है। धार्मिक कट्टरता, आतंकवाद जैसे कारक भी इसके लिए जिम्मेदार हैं। विश्व मानवाधिकार दिवस हमें इन बातों का चिंतन करने का अवसर प्रदान करता है।

मानवाधिकारों के प्रति सम्मान केवल संयुक्त राष्ट्र संघ की चिन्ता का विषय नहीं है, विभिन्न सरकारों एवं वहाँ की आम जनता को भी इस संबंध में अपनी सक्रियता दिखानी होगी। एमनेस्टी इंटरनेशनल नामक संस्था मानवाधिकारों के मामले में प्रतिवर्ष अपनी रिपोर्ट प्रकाशित करती है।

वर्तमान भारत में शासन की जो भी नीतियाँ या राजनीतिक विचारधारा हो, जनता अपने कटु अनुभवों के कारण, मानव अधिकारों के संरक्षण की अधिक बेसब्री से माँग कर रही है। जनता चाहती है कि आर्थिक समानता के साथ राजनीतिक स्वतंत्रता एवं सक्रिय सहभागिता भी उसे प्राप्त हो। इसमें दो मत नहीं है कि मानव अधिकारों के संरक्षण के मार्ग में अनेक अवरोध और कठिनाइयाँ है।

मानव अधिकारों के प्रति आदर और इनको साकार करने के लिए सदस्य राष्ट्रों को स्वयं स्वविवेक से पहल करने की अपेक्षा है। मानव अधिकारों का हनन रोकने के लिए बंधनकारी आदेश जारी करने का संयुक्त राष्ट्र के पास आज कोई अधिकार नहीं हैं परन्तु विद्यमान विषम परिस्थितियों में यह सुस्पष्ट होता जा रहा है कि केवल आदर्श के रूप में नहीं अपितु मानव जगत के अनुभवों के आधार पर आम आदमी की मानव अधिकरों के संरक्षण की माँग बढ़ती ही जानी है।

इसकी आलोचनाओं का कुछ तो असर होता ही है। लेकिन जब हमारी आलोचना हो, तभी हम मानवाधिकारों के प्रति सजग हों, यह धारणा उचित नहीं है। विभिन्न राष्ट्रों को स्वयं अपने यहाँ की मानवाधिकारों की स्थिति की निरंतर समीक्षा करनी चाहिए तथा सुधारों के लिए तत्परता दिखानी चाहिए। हमें व्यक्तिगत स्तर पर अपनी जवाबदेही स्वीकार करनी ही होगी।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. मानवाधिकार का अर्थ एवं परिभाषा बताइए तथा भारत में मानवाधिकार की स्थिति को भी स्पष्ट कीजिए।

उ०– **मानव अधिकारों से आशय व परिभाषा–** मानव अधिकारों से अभिप्राय मौलिक अधिकारों एवं स्वतंत्रता से हैं जिसके सभी मानव प्राणी हकदार है। अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं के उदाहरण के रूप में जिनकी गणना की जाती है, उनमें नागरिक और राजनीतिक अधिकारों, नागरिक और राजनैतिक अधिकार सम्मिलित हैं जैसे कि जीवन और आजाद रहने का अधिकार,

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और कानून के सामने समानता एवं आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों के साथ ही साथ सांस्कृतिक गतिविधियों में भाग लेने का अधिकार, भोजन का अधिकार, काम करने का अधिकार एवं शिक्षा का अधिकार।

आधुनिक मानवाधिकार कानून तथा मानवाधिकार की अधिकांश अपेक्षाकृत व्यवस्थाएँ समसामयिक इतिहास से संबंध है। द टवेल्स आर्टिकल्स ऑफ द ब्लैक फॉरेस्ट (1525) को यूरोप में मानवाधिकारों का सर्वप्रथम दस्तावेज माना जाता है। यह जर्मनी के किसान-विद्रोह स्वाबियन संघ के समक्ष उठाई गई किसानों की माँग का ही एक हिस्सा है। ब्रिटिश बिल ऑफ राइट्स ने युनाइटेड किंगडम में सिलसिलेवार तरीके से सरकारी दमनकारी कार्रवाइयों को अवैध करार दिया। सन् 1776 ई० में संयुक्त राज्य में और सन् 1789 ई० में फ्रांस में 18वीं शताब्दी के दौरान दो प्रमुख क्रांतियाँ घटीं। जिसके फलस्वरूप क्रमशः संयुक्त राज्य की स्वतंत्रता की घोषणा एवं फ्रांसीसी मनुष्य की मानव तथा नागरिकों के अधिकारों की घोषणा का अभिग्रहण हुआ। इन दोनों क्रांतियों ने ही कुछ निश्चित कानूनी अधिकार की स्थापना की। कोई भी देश अपने ''मानवाधिकारों'' को लेकर अक्सर विवाद में बना रहता है। ये समझ पाना मुश्किल हो जाता है कि क्या वाकई में मानवाधिकारों की सार्थकता है। यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है कि तमाम प्रादेशिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सरकारी और गैर सरकारी मानवाधिकार संगठनों के बावजूद मानवाधिकारों का परिदृश्य तमाम तरह की विसंगतियों और विद्रूपताओं से भरा पड़ा है। किसी भी इंसान की जिंदगी, आजादी, समानता और सम्मान का अधिकार ही मानवाधिकार है। भारतीय संविधान इस अधिकार की न सिर्फ गारंटी देता है, बल्कि इसे तोड़ने वाले को अदालत सजा भी देती हैं।

मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम की धारा 2 (घ) के अनुसार, ''मानवाधिकारों से तात्पर्य जीवन, स्वतंत्रता, समता एवं व्यक्ति की गरिमा से हैं जिन्हें संविधान द्वारा प्रत्याभूत किया गया अथवा जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा में दिए गए हैं एवं भारतीय न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय है।''

भारत में मानवाधिकारों की स्थिति– देश के विशाल आकार और विविधता, विकासनशील तथा संप्रभुता संपन्न धर्म-निरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणतंत्र के रूप में इसकी प्रतिष्ठा तथा एक भूतपूर्व औपनिवेशिक राष्ट्र के रूप में इसके इतिहास के परिणामस्वरूप भारत में मानवाधिकारों की परिस्थिति एक प्रकार से जटिल हो गई हैं। भारत का संविधान मौलिक अधिकार प्रदान करता है जिसमें धर्म की स्वतंत्रता भी अंतर्भूक्त हैं। संविधान की धाराओं में बोलने की आजादी के साथ कार्यपालिका और न्यायपालिका का विभाजन तथा देश के अन्दर एवं बाहर आने जाने की भी आजादी दी गई हैं। यह अक्सर मान लिया जाता है कि विशेषकर मानवाधिकार दलों और कार्यकर्ताओं के द्वारा कि दलित अथवा अछूत जाति के सदस्य पीड़ित हुए हैं एवं लगातार पर्याप्त भेदभाव झेलते रहे हैं। हालांकि मानवाधिकार की समस्याएँ भारत में मौजूद हैं फिर भी इस देश को दक्षिण एशिया के दूसरे देशों की तरह आमतौर पर मानवाधिकारों को लेकर चिंता का विषय नहीं माना जाता है। इन विचारों के आधार पर फ्रीडम हाऊस द्वारा फ्रीडम इन द वर्ल्ड 2006 को दिए गए रिपोर्ट में भारत को राजनीतिक अधिकारों के लिए दर्जा 2, एवं नागरिक अधिकारों के लिए दर्जा 3 दिया गया है जिससे भारत ने स्वाधीन होने का व संभवतः उच्चतम दर्जा (रेटिंग) अर्जित किया है।

2. मानव अधिकारों के महत्व को विस्तारपूर्वक बताइए।

उ०– मानव अधिकारों का महत्व– मानव अधिकार वह मौलिक तथा अन्यसंक्राम्य अधिकार है जो मनुष्य के जीवन के लिए अति आवश्यक है। मानव अधिकार ही मानव को समानता का अधिकार दिलाते हैं, यही उसे यह अहसास कराते हैं कि वह अन्य मानवों के समान हैं, चाहे वह किसी भी राष्ट्रीयता, प्रजाति या नस्ल धर्म लिंग का हो। मानव अधिकार हमारी प्रकृति में अन्तर्निहित है, इनके बिना हम मानवों की भाँति जीवित नहीं रह सकते । मानवीय अधिकार तथा मौलिक स्वतंत्रताएँ हमें अपने गुणों, ज्ञान प्रतिभा तथा अन्तर्विवेक का विकास करने में सहायक होते हैं जिससे हम अपनी भौतिक आध्यात्मिक तथा अन्य आवश्यकताओं की संतुष्टी कर सकें। संविधान में वर्णित सभी मौलिक कर्त्तव्य मानवाधिकारों की नींव हैं। इन मौलिक कर्त्तव्यों के अतिरिक्त सरकार ने अनेक कानून बनाए हैं जिनसे मानव को अपने मानव होने का अधिकार प्राप्त होता है, जैसे—

(i) जनवध के अपराध को रोकने एवं दंडित करने का संविधान
(ii) युद्धबन्दियों के व्यवहार पर जेनेवा संविधान
(iii) व्यक्तियों के अवैध व्यापार तथा अन्य लोगों की वेश्यावृत्ति के शोषण के दमन पर अन्तर्राष्ट्रीय संविधान
(iv) दासता, दास व्यापार एवं दासता के समान संस्थाएँ व व्यवहार की समाप्ति का संविधान
(v) सभी प्रकारों के जातीय भेदभाव को समाप्त करने का अन्तर्राष्ट्रीय संविधान
(vi) खेलों में जातीय भेदभाव के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय संविधान (1985)
(vii) बन्धक बनाने या लिए जाने के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय संविधान (1979)
(viii) यंत्रणा एवं अन्य निर्दयी, अमानवीय या अपमानित करने वाले व्यवहार या दंड के विरुद्ध संविधान (1984)
(ix) रोजगार (या नियोजन) एवं उपजीविका (या पेशा) से भेदभाव से संबंधित संविधान
(x) शिक्षा में भेदभाव के विरुद्ध संविधान
(xi) शरणार्थियों की प्रास्थिति का संविधान (1951)
(xii) राष्ट्रीयताहीन व्यक्तियों से संबंधित संविधान (1954)

(xiii) विराष्ट्रीयता को कम करने का संविधान (1961)
(xiv) सभी प्रवासी कामगारों एवं उनके परिवारों के सदस्यों के अधिकारों के संरक्षण का अन्तर्राष्ट्रीय संविधान (1990)
(xv) अयोग्यता वाले व्यक्तियों के अधिकारों का संविधान
(xvi) जबरन गायब हुए व्यक्तियों के संरक्षण पर अन्तर्राष्ट्रीय संविधान (2006) आदि।

विश्व में सभी मानवाधिकारों तथा अन्य मौलिक अधिकारों की सुरक्षा व उन्हें सुचारु रूप से संचालित करने हेतु समय-समय पर अनेक संस्थाएँ बनाई गई हैं तथा आवश्यकता के अनुसार इनमें व्यापक परिवर्तन भी किए गए है। विश्व के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों द्वारा इन अधिकारों की सुरक्षा व संचालन के लिए बनाई गई प्रमुख संस्थाए हैं— मानव अधिकार परिषद्, संयुक्त राष्ट्र मानव अधिकार कमीशन, भेदभाव को रोकने एवं अल्पसंख्यकों के संरक्षण हेतु उप-कमीशन, महिलाओं की प्रास्थिति पर कमीशन, मानव अधिकारों का उच्च कमिश्नर, शरणार्थियों के लिए उच्च कमिश्नर, मानव अधिकारों का संयुक्त राष्ट्र केन्द्र आदि।

3. महिलाओं के हित के लिए बनाए गए प्रमुख संविधानों का वर्णन कीजिए।

उ०– **महिलाओं के हित के लिए बनाए गए प्रमुख मानवाधिकार संविधान–** भारतीय संविधान के अन्तर्गत निर्मित सभी मानवाधिकार प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इन मानव अधिकारों में महिलाओं व बच्चों की आर्थिक, सामाजिक व सामाजिक दशा सुधारने का भरसक प्रयास किया गया है, जिसका परिणाम हम आज के बालकों व महिलाओं की भूतकाल से तुलना करने पर प्रत्यक्ष रूप में देख सकते हैं। भारत में महिलाओं एवं बच्चों के लिए बनाए गए मानवाधिकार संविधान निम्नलिखित हैं—

(i) महिलाओं के राजनीतिक अधिकार का संविधान, 1952– संयुक्त राष्ट्र चार्टर के पुरुष एवं महिलाओं के समान अधिकारों के सिद्धान्त को कार्यान्वित करने की इच्छा रखते हुए तथा यह स्वीकार करते हुए कि प्रत्येक को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चुने गए प्रतिनिधियों के माध्यम से देश की सरकार में भाग लेने का अधिकार है तथा प्रत्येक देश की लोक सेवा में प्रवेश पाने का अधिकार है तथा यह इच्छा करते हुए कि राजनीतिक अधिकारों के उपभोग में पुरुषों एवं महिलाओं की प्रास्थिति को संयुक्त राष्ट्र चार्टर एवं मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के अनुसार समान किया जाए, राज्य पक्षकारों ने महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों के संविधान (1952) को स्वीकार किया। इस अभिसमय के मुख्य उपबन्ध निम्नलिखित हैं—

(क) महिलाओं को पुरुषों के समान तथा बिना किसी भेदभाव के सभी चुनावों में मतदान करने का अधिकार होगा। **(अनुच्छेद 1)**

(ख) राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत सभी जनता द्वारा चुने निकायों में महिलाएँ पुरुषों के समान तथा बिना किसी भेदभाव के चुने जाने की पात्रता प्राप्त होंगी। **(अनुच्छेद 3)**

(ग) महिलाएँ राष्ट्रीय विधि द्वारा स्थापित सभी लोक पद प्राप्त करने तथा लोक कार्य करने की पुरुषों के समान तथा बिना किसी भेदभाव के, अधिकारी होंगी। **(अनुच्छेद 2)**

संविधान के अनुच्छेद 4 में यह उपबन्धित किया गया है कि यह संविधान संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्यों तथा उन अन्य राज्यों, जिन्हें महासभा ने आमंत्रित किया है, हस्ताक्षर हेतु खुला रहेगा। संविधान का अनुसमर्थन के संलेख को संयुक्त राष्ट्र के महासचिव के पास जमा करके किया जा सकेगा। (अनुच्छेद 4) संविधान उपर्युक्त वर्णित राज्यों के लिए सम्मिलन (accession) हेतु खुला रहेगा। (अनुच्छेद 5) छठे राज्य द्वारा अनुसमर्थन या सम्मिलन न किए जाने के उन्नीसवें (19) दिन अभिसमय विधिवत लागू हो जाएगा। (अनुच्छेद 6) अब तक 115 देश इसके पक्षकार हो चुके थे।

(ii) विवाहित महिलाओं की राष्ट्रीयता का संविधान, 1957– सन् 1949 ई० में महिलाओं की प्रास्थिति पर कमीशन ने यह मत व्यक्त किया कि विवाहित महिलाओं की राष्ट्रीयता पर एक संविधान तैयार किया जाए तथा उसे अंगीकार किया जाए जिससे महिलाओं को राष्ट्रीयता के मामले में पुरुषों के समान समानता तो प्राप्त हो सके तथा उन्हें विवाह या विवाह-विच्छेद से होने वाली विराष्ट्रीयता से बचाया जा सके । तत्पश्चात् कमीशन ने संविधान का प्रारूप तैयार किया तथा सन् 1957 ई० में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने विवाहित महिलाओं की राष्ट्रीयता पर संविधान को अंगीकार किया। इस संविधान में राज्य पक्षकारों ने निम्नलिखित प्रतिबद्धताएँ स्वीकार की हैं—

(क) राज्य पक्षकार के राष्ट्रिकता वाली महिला तथा विदेशी के मध्य विवाह अथवा विवाह-विच्छेद तथा न ही पति की राष्ट्रिकता में परिवर्तन से पत्नी की राष्ट्रिकता पर कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। **(अनुच्छेद 1)**

(ख) राज्य पक्षकार की राष्ट्रिकता वाले पुरुष द्वारा किसी अन्य राज्य की राष्ट्रिकता प्राप्त करने या राष्ट्रिकता त्याग करने से ऐसे व्यक्ति की पत्नी की राष्ट्रिकता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा अर्थात् पत्नी अपनी राष्ट्रिकता कायम रख सकती है। **(अनुच्छेद 2)**

(ग) राज्य पक्षकार की राष्ट्रिकता वाले पुरुष की विदेशी पत्नी विशेषाधिकृत प्राकृतिकरण प्रक्रिया से पति की राष्ट्रिकता प्राप्त कर सकती है। परन्तु ऐसी राष्ट्रिकता का प्रदान करना कुछ परिसीमाओं के अधीन हो सकता है जो राष्ट्रीय सुरक्षा या लोक नीति के आधार पर लगाई जा सकती है। **(अनुच्छेद 3, पैरा 1)**

(घ) वर्तमान संविधान ऐसे किसी कानून या न्यायिक अभ्यास पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालेगा जिससे ऐसी राष्ट्रिकता वाले व्यक्ति की पत्नी प्रार्थना करके अधिकार के रूप में अपने पति की राष्ट्रिकता को प्राप्त कर सकती है।

संविधान के अनुच्छेद 6 के अनुसार संविधान 6 राज्य संविधान पक्षकारों द्वारा अनुसमर्थन या सम्मिलन के संलेख जमा के करने के बाद 90 वें दिन लागू होना था। यह संविधान सन् 1958 ई० में लागू हो गया था। सन् 2013 ई० तक 74 देश इस संविधान के पक्षकार हो चुके थे।

महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के भेदभावों की समाप्ति का संविधान, 1979– जैसा कि संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद 1 तथा 55 में वर्णित है संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों में एक उद्देश्य लिंग आदि के भेदभाव के बिना मानव अधिकारों एवं मौलिक स्वतंत्रताओं की सार्वभौमिक प्रोन्नति करनी है। मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में भी यह उद्घोषित किया गया है कि प्रत्येक घोषणा में वर्णित सभी अधिकारों एवं मौलिक स्वतंत्रताओं का लिंग आदि भेदभावों के बिना प्राप्त होगा। महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव मानव गरिमा एवं समाज के कल्याण के विरुद्ध है तथा महिलाओं की समर्थताओं या संभाव्य शक्ति की पूर्ण प्राप्ति में बाधक है। 7 नवम्बर, 1967 ई० को महासभा ने महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव की समाप्ति पर घोषणा पारित की थी। इस घोषणा के अनुच्छेद 1 में यह उद्घोषित किया गया कि महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव या पुरुषों की अपेक्षा उनकी समानता को कम करना या इनकार करना मौलिक रूप से अनुचित है तथा मानव गरिमा के विरुद्ध एक अपराध है। घोषणा के अनुच्छेद 2 के अनुसार महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव करने वाली विधियाँ, प्रथाएँ, विनियमनों, एवं अभ्यासों को समाप्त करने के सभी उपयुक्त उपाय किए जाएँगे तथा महिलाओं एवं पुरुषों के समान अधिकारों के लिए उपयुक्त विधिक संरक्षण स्थापित किया जाएगा। अनुच्छेद 5 के अनुसार, पुरुषों के समान महिलाओं को राष्ट्रीयता प्राप्त करने, परिवर्तित करने तथा कायम रखने का अधिकार होगा। महिलाओं द्वारा विदेशियों से विवाह करने पर स्वत: ही उनकी राष्ट्रीयता समाप्त नहीं होगी तथा न ही उनको अपने पति की राष्ट्रीयता लेने को विवश किया जाएगा। अनुच्छेद 6 के अनुसार, महिलाओं को सिविल विधि के क्षेत्र में पुरुषों के समान अधिकार होंगे। उन्हें सम्पत्ति प्राप्त करने, उसका प्रशासन करने, उपभोग करने, व्ययन करने तथा उत्तराधिकार में प्राप्त करने का अधिकार है। अनुच्छेद 7 में उपबन्धित है कि दंड संहिताओं के सभी उपबन्ध जो महिलाओं के साथ भेदभाव करते हैं निरस्त किए जाएँगे। अनुच्छेद 8 के अनुसार, महिलाओं का सभी प्रकार का अवैध व्यापार, शोषण एवं वेश्यावृत्ति को समाप्त करने के लिए कानून समेत सभी उपयुक्त उपाय किए जाएँगे। अनुच्छेद 10 के उपबन्धों के अनुसार, आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में भी महिलाओं, चाहे वह विवाहित हों या अविवाहित, को पुरुषों के समान समानता के अधिकार दिए जाने के लिए सभी उपयुक्त उपाय किए जाएँगे। घोषणा के अन्तिम अनुच्छेद अर्थात् अनुच्छेद 11 में उपबन्ध हैं कि पुरुषों एवं महिलाओं के समान अधिकारों के सिद्धान्त की माँग की है कि संयुक्त राष्ट्र चार्टर के मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के अनुरूप सभी राज्यों में कार्यान्वयन हो। अत: सरकारी, गैर-सरकारी संस्थाओं एवं व्यक्तियों से अनुरोध किया जाता है कि वह इस घोषणा में उल्लिखित सिद्धान्तों के कार्यान्वयन अपनी शक्ति भर करें।

अन्तत: 18 दिसम्बर, 1979 ई० संयुक्त राष्ट्र महासभा ने महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के भेदभाव की समाप्ति पर संविधान को अंगीकार किया। संविधान के अनुच्छेद 27 के अनुसार, संविधान 20 राज्यों द्वारा अनुसमर्थन, सम्मिलन के संलेख जमा होने के 30 दिन बाद लागू होता था, इस आवश्यकता की पूर्ति सन् 1981 ई० में हो गई। 2 जून, 2012 ई० तक 187 देश इसके पक्षकार हो चुके थे।

महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के भेदभाव की समाप्ति का ऐच्छिक प्रोटोकॉल, 1999– संयुक्त राष्ट्र महासभा ने इस ऐच्छिक प्रोटोकॉल को 6 अक्टूबर, 1999 ई० को अंगीकार किया था। दसवें राज्य द्वारा अनुसमर्थन करने के बाद यह प्रोटोकॉल 22 दिसम्बर, 2000 ई० को लागू हो गया था। 30 मई, 2013 ई० तक 104 देश इसके पक्षकार हो चुके थे। भारत ने अभी तक इस प्रोटोकॉल पर हस्ताक्षर नहीं किया है। इस संविधान में दो प्रकार की प्रक्रियाओं का उपबन्ध है—

(i) व्यक्तिगत संसूचना प्रक्रिया, तथा (ii) जांच प्रक्रिया।

इस प्रकार संविधान में स्थापित समिति व्यक्तिगत शिकायतें सुन सकती हैं तथा उन पर विचार कर सकती है।

4. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–

(i) महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों का संविधान, 1952

(ii) विवाहित महिलाओं की राष्ट्रीयता का संविधान, 1957

(iii) महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के भेदभाव की समाप्ति का संविधान, 1979

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—3 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

5. बच्चों के हित के लिए बनाए गए प्रमुख अधिकारों का वर्णन कीजिए तथा इन अधिकारों के सुचारु रूप से संचालित करने हेतु राज्य पक्षकारों के दायित्वों का भी वर्णन कीजिए।

उ०– संविधान में वर्णित बच्चों के अधिकार एवं उनके संचालन हेतु राज्य पक्षकारों के दायित्व

(i) जीवन का अधिकार– प्रत्येक बच्चे के अन्तर्निहित जीवन के अधिकार को राज्य पक्षकार स्वीकार करते हैं। राज्य पक्षकार अधिकतम सीमा तक सम्भव बच्चे की उत्तरजीविता एवं विकास को सुनिश्चित करेंगे। **(अनुच्छेद 6)**

(ii) जन्म से एक नाम तथा राष्ट्रीयता प्राप्त करने का अधिकार– बच्चे के जन्म के बाद उसका तुरन्त रजिस्ट्रीकरण किया जाएगा तथा जन्म से एक नाम तथा राष्ट्रीयता प्राप्त करने का अधिकार तथा जहाँ तक सम्भव हो उसे जानने तथा माता-पिता द्वारा देखभाल किए जाने का अधिकार होगा। राज्य पक्षकार इन अधिकारों का कार्यान्वयन अपनी राष्ट्रीय विधि के अनुसार तथा इस क्षेत्र में सुसंगत अन्तर्राष्ट्रीय संलेखों के अन्तर्गत दायित्वों के अन्तर्गत करेंगे, विशेषकर जहाँ बच्चा अन्यथा राष्ट्रीयताहीन होता। **(अनुच्छेद 7)**

(iii) राष्ट्रिकता, नाम, पारिवारिक संबंध समेत अपनी पहचान परिरक्षित करने का अधिकार– राज्य पक्षकार यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक बच्चे को राष्ट्रियता, नाम, बिना हस्तक्षेप के कानून द्वारा स्वीकृत पारिवारिक संबंध परिरक्षित करने का अधिकार है। जहाँ किसी बच्चे को उसके पहचान के सभी या कुछ तत्वों से अवैध रूप से वंचित कर दिया गया है, राज्य पक्षकार शीघ्रता से उसकी पहचान पुन: स्थापित करने के लिए उपयुक्त सहायता एवं संरक्षण प्रदान करेंगे। **(अनुच्छेद 8)**

(iv) अपनी इच्छा के विरुद्ध अपने माता-पिता से पृथक न किए जाने का अधिकार– राज्य पक्षकार यह सुनिश्चित करेंगे कि कोई बच्चा अपनी इच्छा के विरुद्ध उसके माता-पिता से अलग न किया जाए। इसका केवल एक अपवाद यह है कि जहाँ न्यायिक पुनरीक्षण के अधीन बच्चे के सर्वोपरि हितों के कारण उसके माता-पिता से पृथक किया जाता है। यदि कोई बच्चा माता-पिता में से किसी एक या दोनों से पृथक किया गया है, राज्य पक्षकार ऐसे बच्चे के माता-पिता से व्यक्तिगत या प्रत्यक्ष सम्पर्क बनाए रखने के अधिकार का सम्मान करेंगे। **(अनुच्छेद 9)**

(v) बच्चे को अपने मामलों में अपने मत की स्वतंत्र अभिव्यक्ति करने का अधिकार– जो बच्चे अपने मामलों में मत बनाने की क्षमता रखते हैं उन्हें अपने मतों को स्वतंत्रता से अभिव्यक्त करने का अधिकार होगा तथा उसकी आयु एवं परिपक्वता के अनुसार उसके मत को महत्व दिया जाएगा। इस प्रयोजन के लिए, न्यायिक एवं प्रशासनिक कार्यवाहियों में बच्चों को प्रत्यक्ष रूप से या प्रतिनिधि या उपयुक्त निकाय के माध्यम से सुने जाने का अवसर प्रदान किया जाएगा।

(अनुच्छेद 12)

(vi) अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार– बच्चे को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार होगा। इस अधिकार में सभी प्रकार की सूचना एवं विचार को खोजने, प्राप्त करने तथा देने का अधिकार सम्मिलित होंगे। यह अधिकार कुछ प्रतिबन्धों के अधीन हो सकता है परन्तु यह प्रतिबन्ध ऐसे होने चाहिए जो विधि द्वारा उपबन्धित हो तथा (क) अन्य लोगों के अधिकार या प्रतिष्ठा के सम्मान के लिए या (ख) राष्ट्रीय सुरक्षा के संरक्षण के लिए लोक व्यवस्था या लोक स्वास्थ्य या नैतिकता के लिए आवश्यक होना चाहिए। **(अनुच्छेद 13)**

(vii) विचार, अन्त:करण एवं धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार– राज्य पक्षकार बच्चे के विचार, अन्त:करण एवं धर्म की स्वतंत्रता के अधिकार का सम्मान करेंगे। राज्य पक्षकार माता-पिता तथा प्रयोज्य होने पर अभिवावक को बच्चे के इस अधिकार के प्रयोग करने पर निर्देश करने के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को सम्मान करेंगे। **(अनुच्छेद 14)**

(viii) संघ एवं शांतिपूर्ण सभा करने की स्वतंत्रता का अधिकार– राज्य पक्षकार बच्चे के संघ बनाने एवं शान्तिपूर्ण सभा करने की स्वतंत्रता के अधिकार को स्वीकार करते हैं। इस अधिकार के प्रयोग पर केवल उन प्रतिबन्धों को छोड़कर जो विधि के अनुरूप हैं तथा प्रजातांत्रिक समाज में राष्ट्रीय सुरक्षा या लोक सुरक्षा, लोक व्यवस्था, लोक स्वास्थ्य या नैतिकता के संरक्षण या अन्य लोगों के अधिकारों एवं स्वतंत्रता के संरक्षण के लिए आवश्यक हो, अन्य प्रतिबन्ध नहीं लगाए जा सकते हैं। **(अनुच्छेद 15)**

(ix) गुप्तता, परिवार, गृह या पत्राचार तथा सम्मान या प्रतिष्ठा में मनमाने या अवैध हस्तक्षेप से स्वतंत्रता एवं विधि के संरक्षण का अधिकार– किसी भी बच्चे की गुणता, परिवार, गृह या पत्राचार या सम्मान या प्रतिष्ठा में मनमाने या अवैध ढंग से हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा। बच्चे को ऐसे हस्तक्षेप या अतिक्रमण के विरुद्ध विधि के संरक्षण का अधिकार है।

(अनुच्छेद 16)

(x) राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्त्रोतों से सूचना एवं सामग्री के प्रवेश एवं प्राप्त कराने का अधिकार– बच्चे को राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्त्रोतों से सूचना एवं सामग्री विशेषकर जिसका उद्देश्य उसके सामाजिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक कल्याण एवं उसके शारीरिक एवं मानसिक प्रोन्नति है, के प्रवेश एवं प्राप्त करने का अधिकार है। इस मामले में राज्य पक्षकार जनसम्पर्क साधन द्वारा सम्पादित किए जाने वाले महत्वपूर्ण कार्य को स्वीकार करते हैं। **(अनुच्छेद 17)**

(xi) स्वास्थ्य के उच्चतम प्राप्त होने वाले प्रतिमान के उपभोग करने का अधिकार– राज्य पक्षकार यह स्वीकार करते हैं कि बच्चे को स्वास्थ्य के उच्चतम प्राप्त होने वाले प्रतिमान के उपभोग करने का अधिकार तथा बीमार होने पर उपचार तथा स्वास्थ्य के पुन: प्राप्त करने का अधिकार है। राज्य पक्षकार यह सुनिश्चित करेंगे कि किसी भी बच्चे को स्वास्थ्य देखभाल सेवाओं में प्रवेश के अधिकार से वंचित न किया जाए। **(अनुच्छेद 24)**

(xii) सामाजिक सुरक्षा से लाभ उठाने का अधिकार– संविधान के राज्य पक्षकार यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक बच्चे को सामाजिक सुरक्षा से लाभ उठाने का अधिकार है। सामाजिक सुरक्षा में सामाजिक बीमा भी सम्मिलित हैं। अपनी राष्ट्रीय विधि के अनुसार, राज्य पक्षकार इस अधिकार की पूर्ण प्राप्ति के लिए आवश्यक उपाय करेंगे। **(अनुच्छेद 26)**

(xiii) जीवन के रहन-सहन के एक उपयुक्त प्रतिमान को पाने का अधिकार– बच्चे के उपयुक्त शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, नैतिक एवं सामाजिक विकास के लिए राज्य पक्षकार स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक बच्चा जीवन के रहन-सहन का एक उपयुक्त प्रतिमान पाने का अधिकारी है। इसकी प्राथमिक जिम्मेदारी माता-पिता या बच्चे के लिए जो जिम्मेदार हैं उनकी है। राज्य पक्षकार अपनी राष्ट्रीय दशाओं एवं साधनों को ध्यान में रखते हुए माता-पिता या बच्चों के लिए जिम्मेदार लोगों की इस मामले में सहायता हेतु उपयुक्त उपाय करेंगे। **(अनुच्छेद 27)**

(xiv) शिक्षा पाने का अधिकार– प्रत्येक बच्चे को शिक्षा पाने का अधिकार है तथा इस अधिकार की क्रमिक प्राप्ति के लिए तथा समान अवसर के आधार पर राज्य पक्षकार विशेषकर—

(क) प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य करेंगे तथा उसे सभी को नि:शुल्क उपलब्ध कराएँगे;

(ख) विभिन्न प्रकार की माध्यमिक शिक्षा को प्रोत्साहित करेंगे;

(ग) उच्च शिक्षा प्रत्येक उपयुक्त साधनों से क्षमता के आधार पर सभी को अधिगम्य कराएँगे;

(घ) शैक्षिक एवं व्यावसायिक सूचना एवं मार्गदर्शन सभी बच्चों को उपलब्ध कराएँगे;

(ङ) स्कूलों में नियमित उपस्थिति को प्रोत्साहन करने के लिए तथा शिक्षा मध्य में छोड़ने के दर को न्यून करने के उपाय करेंगे। **(अनुच्छेद 28)**

(xv) विश्राम एवं अवकाश का अधिकार– बच्चों को उनकी आयु के अनुसार खेलने एवं मनोरंजक कार्यकलापों को करने हेतु तथा सांस्कृतिक जीवन एवं कलाओं में स्वतंत्रतापूर्वक भाग लेने के लिए राज्य पक्षकार स्वीकार करते हैं कि बच्चे को विश्राम एवं अवकाश प्राप्त करने का अधिकार होगा। **(अनुच्छेद 31)**

(xvi) आर्थिक शोषण तथा खतरनाक कार्यों आदि से संरक्षण का अधिकार– राज्य पक्षकार यह स्वीकार करते हैं कि बच्चे का अधिकार है कि उसे आर्थिक शोषण, खतरनाक कार्यों या उसकी शिक्षा में हस्तक्षेप करने वाले कार्यों या ऐसे कार्यों जिससे उसके स्वास्थ्य या शारीरिक, मानसिक, अध्यात्मिक, नैतिक या सामाजिक विकास के लिए हानिकारक हैं, से उसे संरक्षित किया जाए। इस अधिकार के कार्यान्वयन को सुनिश्चित करने के लिए राज्य पक्षकार विधायनी, प्रशासनिक, सामाजिक एवं शैक्षिक उपाय करेंगे। इस उद्देश्य से तथा अन्तर्राष्ट्रीय संलेखों के उपबन्धों को ध्यान मे रखते हुए राज्य पक्षकार विशेषकर निम्नलिखित करेंगे—

(क) नियोजन में प्रवेश की न्यूनतम आयु उपबन्धित करेंगे;

(ख) नियोजन के उपयुक्त धन एवं दशाएँ निर्धारित करेंगे;

(ग) वर्तमान अनुच्छेद के प्रभावी प्रवर्तन को सुनिश्चित करने के लिए उपयुक्त दंड या अन्य अनुशास्तियाँ उपबन्धित करेंगे। **(अनुच्छेद 32)**

(xvii) लैंगिक शोषण एवं लैंगिक दुरुपयोग से संरक्षित किए जाने का अधिकार– राज्य पक्षकारों ने संकल्प किया है कि वह बच्चों को सभी प्रकार के लैंगिक शोषण एवं लैंगिक दुरुपयोग से संरक्षित करेंगे। **(अनुच्छेद 34)**

(xviii) यंत्रणा या अन्य निर्दयी, अमानवीय या परिभ्रष्ट करने वाले व्यवहार या दंड न किए जाने का अधिकार– राज्य पक्षकार यह सुनिश्चित करेंगे कि किसी भी बच्चे को यंत्रणा नहीं दी जाएगी या उसके साथ अन्य निर्दयी, अमानवीय या परिभ्रष्ट करने वाला व्यवहार नहीं किया जाएगा या दंड नहीं दिया जाएगा। 18 वर्ष से कम आयु के बच्चों को मृत्यु दंड या जीवनपर्यन्त कैद जिसमें नियुक्ति की कोई सम्भावना न हो, नहीं दी जाएगी। **(अनुच्छेद 37(क))**

(xix) अवैध या मनमाने ढंग से स्वतंत्रता से वंचित न किए जाने का अधिकार– किसी भी बच्चे को उसकी स्वतंत्रता से अवैध या मनमाने ढंग से वंचित नहीं किया जाएगा। बच्चों की गिरफ्तारी, निरोध या कैद विधि के अनुरूप ही की जा सकेगी तथा ऐसा केवल अंतिम उपाय के रूप में किया जाएगा तथा कम से कम समय के लिए किया जाएगा (अनुच्छेद 37 (ख))। प्रत्येक बच्चा जिसको स्वतंत्रता से वंचित किया गया उसके साथ मानवता का व्यवहार किया जाएगा तथा उसकी अन्तर्निहित गरिमा का सम्मान किया जाएगा (अनुच्छेद 37 (ग))। प्रत्येक बच्चा जिसे उसकी स्वतंत्रता से वंचित किया गया है उसे तुरन्त कानूनी तथा अन्य सहायता प्राप्त करने तथा स्वतंत्रता से वंचित किए जाने की वैधता को सक्षम एवं निष्पक्ष प्राधिकारी के समक्ष चुनौती देने का अधिकार होगा। **(अनुच्छेद 37(घ))**

(xx) दंड विधि के उल्लंघन के अभिकथित अभियुक्त बच्चों या उन बच्चों, जिन्होंने उल्लंघन किया है, के अधिकार– राज्य पक्षकार यह स्वीकार करते हैं कि दंड विधि के उल्लंघन के अभिकथित अभियुक्त या जिन्होंने उल्लंघन किया है उनका अधिकार है कि उनके साथ व्यवहार बच्चों की गरिमा एवं मूल्य की भावना तथा मानव अधिकारों को एवं मौलिक स्वतंत्रताओं की प्रोन्नति से सुसंगत व्यवहार का अधिकार है। इस उद्देश्य से तथा अन्तर्राष्ट्रीय संलेखों को ध्यान में रखते हुए राज्य पक्षकार, विशेषकर निम्नलिखित सुनिश्चित करेंगे कि—

(क) किसी भी बच्चे को उन कृत्यों या प्रतिविरतों के लिए दंड विधि का उल्लंघन करने का अभिकथित अभियुक्त या उल्लंघन करने वाला नहीं माना जाएगा यदि कृत्य या प्रतिविरति के समय वह राष्ट्रीय विधि या अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा निषिद्ध नहीं थे;

(ख) प्रत्येक बच्चा जो दंड विधि के उल्लंघन का अभिकथित अभियुक्त या उल्लंघन करने वाला हैं उसे कम से कम निम्नलिखित गारंटियाँ प्राप्त हों—

(अ) जब तक दोषी सिद्ध न हो उसे निर्दोष, प्रकल्पित या उपधारित किया जाए;

(ब) उसे तुरन्त तथा प्रत्यक्ष रूप से उसके ऊपर आरोपों की सूचना दी जाए;

(स) उसके मामले को बिना विलम्ब के एक सक्षम, स्वतंत्र एवं निष्पक्ष अधिकारी या न्यायिक निकाय द्वारा विधि के अनुसार न्यायोचित ढंग से निर्णीत करवाया जाए;

(द) उसे अपराध या दोष की गवाही देने या अस्वीकार करने को विवश नहीं किया जाए;

(य) यदि यह समझा गया है कि उसने दंड विधि का उल्लंघन किया है तो इस निर्णय को एक उच्चतर सक्षम, स्वतंत्र एवं निष्पक्ष प्राधिकार या न्यायिक निकाय से उसका पुनरीक्षण कराया जाए;

(र) यदि बच्चा प्रयोग की जाने वाली भाषा को नहीं समझता है तो उसे नि:शुल्क भाषान्तर करने वाले की सहायता दी जाए;

(ल) कार्यवाही के सभी चरणों में उसका एकान्तता का पूर्ण रूप से सम्मान किया जाए। **(अनुच्छेद 40)**

6. मानवाधिकार के समक्ष उत्पन्न चुनौतियाँ तथा इनके समाधान पर एक विस्तृत निबन्ध लिखिए।

उ०– **मानवाधिकार के समक्ष उत्पन्न चुनौतियाँ–** इसके लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या— 10 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

मानवाधिकार के समक्ष उत्पन्न चुनौतियों का समाधान– इसके लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या— 11 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

द्वितीय प्रश्न-पत्र (भारतीय शासन तथा नागरिक जीवन)

इकाई–1

13 राज्य सरकार का गठन तथा उसकी कार्यविधि
(Composition and Functioning of State Government)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 192-193 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 193-194 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राज्यपाल पद के लिए निर्धारित योग्यताओं का उल्लेख कीजिए।

उ०– संविधान के **अनुच्छेद 157** में राज्यपाल के पद के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ निर्धारित की गई हैं—

(i) वह भारत का नागरिक हो।

(ii) वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।

(iii) वह भारतीय संघ व उसके अन्तर्गत किसी राज्य के विधानमण्डल या सदन का सदस्य न हो। यदि वह नियुक्ति के समय किसी विधानमण्डल या सदन का सदस्य हो, तो उसके पद-ग्रहण करने की तिथि से यह स्थान रिक्त समझा जाएगा।

(iv) राज्यपाल कोई अन्य लाभ का पद धारण नहीं करेगा।

2. राज्यपाल की शक्तियों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए। अथवा
राज्यपाल के चार विवेकाधीन अधिकारों का वर्णन कीजिए।

उ०– राज्यपाल की शक्तियाँ निम्न प्रकार हैं—

(i) कार्यकारिणी शक्तियाँ

(ii) विधायी शक्तियाँ

(iii) वित्तीय शक्तियाँ

(iv) न्यायिक शक्तियाँ

(v) संकटकालीन अधिकार

(vi) स्वविवेक से किए जाने वाले कार्यों की शक्ति

3. राज्यपाल की किन्हीं चार कार्यपालिका शक्तियों का वर्णन कीजिए।

उ०– **कार्यपालिका शक्तियाँ–** राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होती है तथा उस शक्ति का प्रयोग राज्यपाल स्वयं या अपने अधीन अधीनस्थ कर्मचारियों के माध्यम से करता है। ये शक्तियाँ उन विषयों तक सीमित है जिनका उल्लेख राज्य सूची

और समवर्ती सूची में किया गया है। संघ सूची के विषयों के संबंध में उसको कोई शक्ति प्राप्त नहीं है संक्षेप में उसकी कार्यपालिका शक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(i) **कार्यपालिका का संचालन–** राज्यपाल राज्य का अध्यक्ष है तथा शासन संबंधी समस्त कार्यवाही उसी के नाम पर होती है। वह कार्यपालिका का संचालन करता है तथा आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन भी कर सकता है।

(ii) **राज्य सूची पर आधारित अधिकार–** संविधान के अनुसार जो विषय राज्य सूची में रखे गए हैं, उनके संबंध में उसको समस्त अधिकार प्राप्त है। समवर्ती सूची के विषयों पर भी उसका अधिकार है किन्तु इस क्षेत्र में वह केंद्रीय शासन की कार्यकारिणी शक्ति के अधीन है।

(iii) **मंत्रियों के कार्यों का विभाजन–** राज्यपाल ही मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों को कार्यों का विभाजन मुख्यमंत्री के परामर्श के अनुसार करता है। वह राज्य के शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए नियम भी बनाता है।

(iv) **नियुक्ति संबंधी शक्तियाँ–** विधानसभा के बहुमत प्राप्त दल के नेता को राज्यपाल मुख्यमंत्री के पद पर नियुक्त करता है और मुख्यमंत्री के परामर्श के अनुसार मंत्रिपरिषद् के अन्य सदस्यों की नियुक्ति करता है। इसके साथ-साथ वह राज्य के महाधिवक्ता (एडवोकेट जनरल), राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों आदि की नियुक्ति भी करता है।

4. राज्यपाल की नियुक्ति स्थानान्तरण वह हटाने का अधिकार किसको है? क्या एक ही व्यक्ति एक ही समय में एक से अधिक राज्यों का राज्यपाल रह सकता है?

उ०– राज्यपाल की नियुक्ति, स्थानान्तरण व हटाने का अधिकार राष्ट्रपति को है। हाँ, एक ही व्यक्ति एक ही समय में दो राज्यों का राज्यपाल रह सकता है।

5. किसी राज्य के मुख्यमंत्री की नियुक्ति किस प्रकार होती है?

उ०– मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है। विधानसभा में जिस राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त होता है, उसी दल के नेता को राज्यपाल मुख्यमंत्री नियुक्त करता है। यदि किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होता है, तो राज्यपाल स्वविवेक से ऐसे दल के नेता को मुख्यमंत्री नियुक्त करता है, जो बहुमत प्राप्त करने में सक्षम हो।

6. राज्य प्रशासन में मुख्यमंत्री का क्या स्थान है?

उ०– केन्द्रीय प्रशासन में जो स्थान प्रधानमंत्री का होता है, वहीं राज्य प्रशासन में मुख्यमंत्री का होता है। मुख्यमंत्री राज्य प्रशासन का प्रधान होता है। सत्ता की राजनीति में मुख्यमंत्री की स्थिति परिवर्तनशील होती है। साठ और सत्तर के दशक में मुख्यमंत्री राज्य की शक्ति के स्तम्भ समझे जाते थे, किन्तु बाद में मुख्यमंत्री पद की गरिमा निरन्तर घटती गई और आज मिली-जुली सरकारों के युग में तो मुख्यमंत्री को स्वयं अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए दाँव पेंच से काम लेना पड़ता है।

7. मुख्यमंत्री के चार अधिकारों और कार्यों का वर्णन कीजिए।

उ०– मुख्यमंत्री के चार अधिकार और कार्य निम्न हैं—

(i) मंत्रिपरिषद् का गठन
(ii) मंत्रियों के विभागों का वितरण
(iii) नियुक्ति संबंधी अधिकार
(iv) शासन व्यवस्था का संचालन

8. मुख्यमंत्री के महत्वपूर्ण कार्यों का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।

उ०– मुख्यमंत्री के महत्वपूर्ण कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) मंत्रिपरिषद् का गठन
(ii) मन्त्रियों के विभागों का वितरण
(iii) नियुक्ति संबंधी अधिकार
(iv) राज्यपाल का परामर्शदाता
(v) मंत्रिमण्डल का सभापति
(vi) नीति निर्धारण का अधिकार
(vii) शासन-व्यवस्था का संचालन
(viii) शासन के विभिन्न विभागों में समन्वय
(ix) विधानसभा का नेतृत्व
(x) सरकार का प्रमुख प्रवक्ता

9. राज्य के मुख्यमंत्री के महत्वपूर्ण कार्यों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या— 9 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

10. मुख्यमंत्री अपने सहयोगियों के चयन में किन-किन बातों का ध्यान रखता है?

उ०– मुख्यमंत्री अपने सहयोगियों के चयन में इन बातों का ध्यान रखता है कि—

(i) उसके सहयोगी शासन की नीतियों का विरोध न करते हों।
(ii) उसके सहयोगी विश्वासपात्र होने चाहिए। तथा
(iii) उसके सहयोगी उससे मतभेद न रखते हों।

11. यदि विधानसभा में किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं है तो सरकार की रचना में राज्यपाल किन-किन विकल्पों को प्रयोग कर सकता है?

उ०– यदि विधानसभा में किसी दल का स्पष्ट बहुमत नहीं है, तो राज्यपाल स्वविवेक का प्रयोग करते हुए किसी भी ऐसे दल के नेता को मुख्यमंत्री नियुक्त कर सकता है, जो बहुमत प्राप्त करने में सक्षम हो।

12. राज्यों के मंत्रिपरिषद् का गठन किस प्रकार किया जाता है?

उ०– संविधान राज्य के राज्यपाल को परामर्श देने के लिए एक परिषद् की व्यवस्था करता है। इसे मंत्रिपरिषद् कहते हैं। मुख्यमंत्री इस परिषद् का प्रधान होता है, जिसकी नियुक्ति राज्यपाल करता है। मुख्यमंत्री अपने पद की शपथ ग्रहण करने के पश्चात् मंत्रिपरिषद् के अन्य मंत्रियों के नामों तथा उन्हें दिए गए विभागों की सूची राज्यपाल को प्रस्तुत करता है जिसको साधारणतया राज्यपाल स्वीकृत कर देता है। इस प्रकार मंत्रिपरिषद् का गठन किया जाता है।

13. राज्यपाल और मंत्रिपरिषद् के संबंधों का विवेचन कीजिए।

उ०– राज्यपाल राज्य का नाममात्र का कार्यकारी और मंत्रिपरिषद् वास्तविक कार्यपालिका है। सामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल से मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों की मन्त्रणा के आधार पर ही कार्य करने की अपेक्षा की जाती है। **अनुच्छेद 167** के अनुसार राज्य के मुख्यमंत्री का कर्त्तव्य है कि राज्य के प्रशासन से संबंधित मंत्रिपरिषद् के परामर्श के बिना भी कार्य कर सकता है; जैसे— राज्य में संवैधानिक तंत्र के विफल होने पर राज्यपाल मंत्रिपरिषद् को बर्खास्त कर सकता है।

14. मंत्रिपरिषद् के कार्यों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उ०– मंत्रिपरिषद् राज्य के प्रशासन का मुख्य रूप से संचालन करती है। संक्षेप में इसके कार्य निम्न प्रकार हैं—

(i) कानून-निर्माण संबंधी कार्य
(ii) प्रशासन संबंधी कार्य
(iii) नीति निर्धारण संबंधी कार्य
(iv) वार्षिक आय-व्यय का विवरण तैयार करना
(v) विधानमण्डल में पूछे गए प्रश्नों के उत्तर देना
(vi) राज्यपाल को उच्च पदों पर नियुक्ति के संबंध में परामर्श देना।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति कौन करता है? राज्यपाल की शक्तियों का वर्णन कीजिए। अथवा राज्यपालों की नियुक्ति कैसे होती है? राज्य की राजनीति में राज्यपालों की भूमिका का परीक्षण कीजिए।

उ०– संविधान के अनुसार, प्रत्येक राज्य में राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। व्यवहार में राष्ट्रपति केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् के परामर्श पर राज्यपाल की नियुक्ति करता है। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि यदि वह आवश्यक समझे तो दो या दो से अधिक राज्यों के लिए एक ही व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त कर सकता है।

राज्यपाल को राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जाता है; जनता या राज्य की व्यवस्थापिका द्वारा उसका चुनाव नहीं होता है।

राज्यपाल के अधिकार और शक्तियाँ– राज्य का वैधानिक अध्यक्ष राज्यपाल होता है। उसके अधिकार एवं कार्य प्राय: वही हैं जो भारतीय केंद्र के शासन में राष्ट्रपति के हैं। **डॉ० दुर्गादास बसु** के अनुसार— ''संक्षेप में राज्यपाल की शक्तियाँ राष्ट्रपति के समान हैं, सिर्फ कूटनीतिक, सैनिक तथा संकटकालीन अधिकारों को छोड़कर।''

संविधान के अनुसार राज्यपाल को उसके कार्यों के सम्पादन मे सहायता देने के लिए मंत्रिपरिषद् होती है केवल उन कार्यों को छोड़कर जो संविधान के अनुसार राज्यपाल के स्वविवेक के अधीन रखे गए हैं इस प्रकार स्पष्ट है कि संविधान के अनुसार, राज्यपालों को अपने सभी कार्य मंत्रिपरिषद् की सहायता से संपादित करने होते हैं । राज्यपाल की इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए उसके कार्य को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं—

(i) कार्यकारिणी शक्तियाँ– राज्य की कार्यकारिणी शक्ति राज्यपाल में निहित होती है तथा उस शक्ति का प्रयोग राज्यपाल स्वयं या अपने अधीन अधीनस्थ कर्मचारियों के माध्यम से करता है। ये शक्तियाँ उन विषयों तक सीमित है जिनका उल्लेख राज्य सूची और समवर्ती सूची में किया गया है। संघ सूची के विषयों के संबंध में उसको कोई शक्ति प्राप्त नहीं है संक्षेप में उसकी कार्यकारिणी शक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(क) कार्यपालिका का संचालन– राज्यपाल राज्य का अध्यक्ष है तथा शासन संबंधी समस्त कार्यवाही उसी के नाम पर होती है। वह कार्यपालिका का संचालन करता है तथा आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन भी कर सकता है।

(ख) राज्य सूची पर आधारित अधिकार– संविधान के अनुसार जो विषय राज्य सूची में रखे गए हैं, उनके संबंध में उसको समस्त अधिकार प्राप्त है। समवर्ती सूची के विषयों पर भी उसका अधिकार है किन्तु इस क्षेत्र में वह केंद्रिय शासन की कार्यकारिणी शक्ति के अधीन है।

(ग) मंत्रियों के कार्यों का विभाजन– राज्यपाल ही मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों को कार्यों का विभाजन मुख्यमंत्री के परामर्श के अनुसार करता है। वह राज्य के शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए नियम भी बनाता है।

(घ) नियुक्ति संबंधी शक्तियाँ– विधानसभा के बहुमत प्राप्त दल के नेता को राज्यपाल मुख्यमंत्री के पद पर नियुक्त करता है और मुख्यमंत्री के परामर्श के अनुसार मंत्रिपरिषद् के अन्य सदस्यों की नियुक्ति करता है। इसके साथ-

साथ वह राज्य के महाधिवक्ता (एडवोकेट जनरल), राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों आदि की नियुक्ति भी करता है। ये सभी नियुक्तियाँ वह मंत्रिपरिषद् के परामर्श के अनुसार ही करता है। जिन राज्यों में विधानमण्डल के दो सदन हैं, उनमें उच्च सदन (विधानपरिषद्) के कुछ सदस्यों को भी मनोनीत करने का अधिकार संविधान द्वारा राज्यपाल को प्रदान किया गया है। राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों की सेवा-शर्तों का निर्धारण और उनके कार्य के संबंध में नियम बनाने के अधिकार भी राज्यपाल को प्रदान किए गए हैं।

(ङ) **राज्यपाल का स्वेच्छाधिकार–** राज्यपाल को कुछ विषयों पर स्वेच्छा से विचार करने का अधिकार भी प्राप्त है। असम के राज्यपाल को अनुसूचित जातियों वाले क्षेत्र में स्वेच्छापूर्वक निर्णय तथा शासन करने का अधिकार दिया गया है। अन्य राज्यों के राज्यपालों को यह अधिकार प्राप्त नहीं हैं। राज्यपाल की स्वेच्छाधिकार शक्ति का विरोध हृदय नाथ कुँजरू, हरिविष्णु कामथ जैसे विधिवेत्ताओं ने किया था किंतु उन्हें सफलता नहीं मिली थी।

(ii) **विधायी शक्तियाँ–** राज्यपाल की विधायी शक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(क) **वह राज्य के विधानमण्डल का अभिन्न अंग है–** यद्यपि राज्यपाल विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य नहीं होता तथापि उसे विधानमण्डल का अभिन्न अंग माना जाता है। अत: विधानमण्डल के संगठन तथा कार्य के संबंध में उसके अधिकार महत्वपूर्ण हैं।

(ख) **विधानमण्डल के अधिवेशन को बुलाना–** राज्यपाल समय-समय पर विधानमण्डल का अधिवेशन बुला सकता है किन्तु पहले अधिवेशन की अंतिम तिथि और दूसरे अधिवेशन के प्रारंभ होने की तिथि के बीच छ: महीने से अधिक का समय नहीं होना चाहिए।

(ग) **विधानमण्डल के कुछ सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार–** वह विधानपरिषद् के सदस्यों की कुल संख्या के लगभग 1/6 सदस्यों को मनोनीत करता है। यदि उसको यह विश्वास हो जाए कि सदन में आंग्ल-भारतीय (एंग्लो इण्डियन) सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है तो वह विधानसभा में भी उस सम्प्रदाय के एक सदस्य को मनोनीत कर सकता है।

(घ) **विधानमण्डल में संबोधन देना एवं संदेश भेजना–** वह किसी एक अथवा दोनों सदनों को संबोधित कर सकता है तथा उनको संदेश भेज सकता है। वास्तव में राज्य के विधानमण्डल का प्रत्येक अधिवेशन राज्यपाल के संबोधन से ही आरंभ होता है।

(ङ) **विधानसभा को भंग करना एवं अवधि में वृद्धि करना–** राज्यपाल विधानसभा को उसका कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व भंग भी कर सकता है तथा कुछ विशेष परिस्थितियों में विधानसभा की अवधि में वृद्धि भी कर सकता है।

(च) **धन विधेयक संबंधी अधिकार–** धन विधेयक केवल राज्यपाल की सिफारिश पर ही विधानसभा में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। उस पर कोई भी संशोधन राज्यपाल की सिफारिश के बिना प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। किन्तु राज्यपाल धन विधेयको को पुनर्विचार के लिए वापस नहीं भेज सकता, बल्कि सामान्यतया वह उनको स्वीकृति दे देता है।

(छ) **संयुक्त अधिवेशन बुलाने का अधिकार–** यदि किसी समय विधानमण्डल के दोनों सदनों के बीच कानून बनाने संबंधी किसी प्रश्न पर गत्यावरोध उत्पन्न हो जाता है तो राज्यपाल संयुक्त अधिवेशन बुला सकता है तथा संदेश भेज सकता है।

(ज) **विधेयक संबंधी अधिकार–** अधिनियम का रूप धारण करने से पूर्व प्रत्येक विधेयक पर राज्यपाल की स्वीकृति प्राप्त करना अनिवार्य हैं। उस समय तक कोई विधेयक अधिनियम नहीं बन सकता जब तक राज्यपाल उसको अपनी स्वीकृति प्रदान न कर दे। अत: विधानमण्डल द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक को राज्यपाल के सम्मुख प्रस्तुत करना आवश्यक होता है। राज्यपाल को यह भी अधिकार है कि वह उस विधेयक को स्वीकृत करे या न करे उसे पुनर्विचार के लिए सदन को वापस भेज दे। पुनर्विचार के पश्चात दूसरी बार राज्यपाल को उस विधेयक पर अपनी स्वीकृति देनी ही पड़ती है। जिन विधेयकों को राज्यपाल राष्ट्रपति को विचारार्थ भेजता है, उन्हें स्वीकार करने या न करने का अधिकार राष्ट्रपति को है। राष्ट्रपति को यह भी अधिकार है कि वह उन विधेयकों को अपने सुझावों के साथ राज्य की विधानसभा को पुनर्विचार के लिए लौटा दे। इस प्रकार लौटाए हुए विधेयकों पर राज्य की विधानसभा को छ: माह के अन्दर विचार करना होगा। यदि यह विधेयक पुन: स्वीकृत हो जाएँ तो इन्हें फिर से राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाएगा। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह विधेयक पर स्वीकृति दे या न दे। अत: अप्रत्यक्ष रूप से राज्यपाल किसी विधेयक को राष्ट्रपति के पास भेजकर समाप्त भी कर सकता है। कुछ विधेयक ऐसे भी है जिन्हें राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाना अनिवार्य हैं। यदि राज्यपाल की राय में किसी ऐसे विधेयक के स्वीकृत हो जाने से उच्च न्यायालय की शक्ति व स्थिति में कमी हो जाती है तो राज्यपाल के लिए अनिवार्य है कि वह उस विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ प्रेषित करे। इसके अतिरिक्त निम्नाकिंत विषयों से संबंधित विधेयकों को भी राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजना अनिवार्य हैं—

(अ) जिन विधेयकों को उद्देश्य विद्युत शक्ति के वितरण पर कर लगाना हो।

(ब) जिन विधेयकों को उद्देश्य व्यक्तिगत सम्पत्ति को राज्य द्वारा अनिवार्य रूप से हस्तगत करना हो।

(स) जिन विधेयकों का संबंध ऐसी वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कर लगाने के साथ हो जिन्हें संघ की संसद ने अनिवार्य वस्तु घोषित कर दिया हो।

(झ) अध्यादेश जारी करने का अधिकार– यदि राज्य में विधानमण्डल का अधिवेशन नहीं चल रहा हो तो राज्यपाल आवश्यकता पड़ने पर उन सभी विषयों पर अध्यादेश जारी कर सकता है जिन पर राज्य के विधानमण्डल को कानून बनाने का अधिकार है। ऐसे किसी अध्यादेश का प्रभाव वहीं होगा जो राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाए हुए किसी कानून का होता है। किन्तु इस प्रकार के अध्यादेश को विधानमण्डल के सम्मुख रखना पड़ता है और विधानमण्डल के अधिवेशन के आरंभ होने की तिथि से छ: सप्ताह बाद तक ही यह लागू रह सकता है । इससे पूर्व भी विधानसभा यदि चाहे तो इसे रद्द कर सकती है उन विषयों के बारे में जिनके संबंध में राष्ट्रपति की आज्ञा के बिना राज्य के विधानमण्डल में कोई विधेयक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, राज्यपाल राष्ट्रपति की अनुमति के बिना अध्यादेश जारी नहीं कर सकता है।

(iii) वित्तीय शक्तियाँ– राज्यपाल को वित्तीय वर्ष के आरंभ में राज्य की उस वर्ष की अनुमानित आय-व्यय का विवरण (बजट) विधानमण्डल के सम्मुख प्रस्तुत करने का अधिकार है। उसकी संस्तुति के बिना किसी अनुदान की माँग स्वीकृत नहीं की जा सकती है और न ही कोई धन विधेयक उसकी संस्तुति के बिना विधानसभा में प्रस्तुत किया जा सकता है। किन्तु किसी कर के घटाने के लिए प्रावधान करने वाले किसी संशोधन को उसकी संस्तुति की आवश्यकता नहीं होती है। राज्य की आकस्मिक निधि (Contingency Fund) उसके अधीन होती है, जिसमें से वह आकस्मिक व्यय के लिए विधानमण्डल की अनुमति के पूर्व भी धन दे सकता है।

(iv) न्यायिक शक्तियाँ– संविधान के अनुच्छेद 161 के अनुसार राज्यपाल को यह अधिकार प्राप्त है कि वह उन अपराधों के लिए दण्ड पाए हुए व्यक्तियों के दण्ड को कम कर सकता है, स्थगित कर सकता है या पूर्णतया समाप्त कर सकता है जिसका संबंध राज्य के अधिक-क्षेत्र से है। मृत्यु दण्ड को क्षमा करने या कम करने का अधिकार उसे नहीं हे। इसी प्रकार जिन अपराधों का संबंध संघ सरकार के अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत हो, उनके विषय में भी राज्यपाल को कोई अधिकार नहीं है।

(v) संकटकालीन अधिकार– राज्यपाल यदि यह अनुभव करता है कि राज्य पर कोई वैधानिक संकट या राज्य में आंतरिक शान्ति के भंग होने की संभावना है, तो वह राष्ट्रपति को इसकी तुरंत सूचना देता है। संकटकाल में वह राष्ट्रपति के आदेशानुसार शासन का समस्त भार अपने हाथ में ले सकता है।

(vi) स्वविवेक से किए जाने वाले कार्य– कुछ कार्य ऐसे भी है जिन्हें राज्यपाल मंत्रिपरिषद् से सलाह लेने के बाद भी अपने विवेक से करता है। इस प्रकार के कार्यों को किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है। राज्यपाल किस विषय पर अपने विवेक से कार्य करेगा, इसका निर्णय भी वह स्वयं ही करता है। राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिए राष्टपति को रिपोर्ट भेजना, कुछ विधेयकों को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए अपने पास रोक लेना आदि मामलों में राज्यपाल, मुख्यमंत्री और मंत्रिपरिषद् से सलाह नहीं लेता है।

राज्य की राजनीति में राज्यपाल की वास्तविक स्थिति या भूमिका– राज्यपाल की स्थिति या भूमिका के संबंध में सामान्य तौर पर दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण प्रचलित हैं। इनमें से प्रथम के अनुसार राज्यपाल को राज्य का केवल संवैधानिक अध्यक्ष माना गया है, लेकिन अध्यक्ष की अपेक्षा बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। राज्यपाल की वास्तविक स्थिति समझने के लिए इन दोनों दृष्टिकोणों का अध्ययन उचित होगा।

राज्यपाल संवैधानिक प्रधान के रूप में– संविधान द्वारा राज्यों में भी संघीय क्षेत्र के समान संसदीय शासन की व्यवस्था की गई है तथा संसदीय व्यवस्था में शासन की शक्तियाँ ऐसी मंत्रिपरिषद् में निहित होती है जो व्यवस्थापिका के निम्न सदन के प्रति उत्तरदायी हों। अत: मंत्रिपरिषद् राज्य की वास्तविक प्रधान है और राज्यपाल केवल एक संवैधानिक प्रधान।

डा० अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा था कि उन सिद्धान्तों के अनुसार, जिन पर राज्यों का शासन आधारित है, राज्यपाल को प्रत्येक कार्य में मंत्रिपरिषद् की सलाह अनिवार्य रूप से माननी होगी और ऐसा कोई भी अन्य कार्य नहीं करना होगा जिसके करने में उसे स्वविवेक या व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करना पड़े।

राज्यपाल को पूर्ण रूप से शक्तिहीन भी नहीं कहा जा सकता। वह शासन न करते हुए भी राज्य के विषयों में पर्याप्त प्रभाव रखता है। **के०एम० मुंशी** के मतानुसार– ''ऐसा समय आ सकता है कि संकटकाल में मुख्यमंत्री विभिन्न दलों के बीच सामंजस्य स्थापित करने में विफल रहे, विशेष रूप से जब विधानमण्डल में अनेक दल हों। ऐसे समय में राज्यपाल से मंत्रियों को बहुत अधिक सहायता मिल सकती है। वे उससे सभी प्रकार की गुप्त सूचना व सलाह प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि उसका सम्पर्क सभी दलों से होता है।''

इसके अतिरिक्त जब राज्यपाल स्वयं कोई कार्य नहीं करता और उसे मंत्रियों के निर्णय को अस्वीकार करने की कोई शक्ति प्राप्त नहीं होती, तो उसका यह नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है कि वह महत्वपूर्ण विषयों पर मंत्रिपरिषद को सलाह दे। यह कार्य वह किसी दल के प्रतिनिधि के रूप में नहीं, वरन् सम्पूर्ण जनता के प्रतिनिधि के रूप में करता है। **बी०जी० खेर** ने संविधान सभा में कहा

था– ''एक अच्छा राज्यपाल बहुत लाभ पहुँचा सकता है और एक बुरा राज्यपाल दुष्टता भी कर सकता है, यद्यपि संविधान ने उसको बहुत कम शक्तियाँ दी हैं।''

केन्द्र सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल की स्थिति– भारतीय संविधान ने राज्यपाल को दोहरी भूमिका प्रदान की है। एक ओर तो वह राज्य का प्रधान है तथा दूसरी ओर, वह राज्य में केन्द्र सरकार का प्रतिनिधि या एजेण्ट है। संविधान-निर्माताओं की इच्छा भारत में एक ऐसी संघीय व्यवस्था स्थापित करने की थी, जो सहयोगी संघवाद की भावना पर आधारित हो और केन्द्र तथा राज्य में सद्भावनापूर्ण संबंध स्थापित हो सकें। इसके साथ ही प्रशासनिक एकरूपता और राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य को भी प्राप्त किया जा सके। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्होंने राज्यपाल के पद की व्यवस्था केन्द्र सरकार के प्रतिनिधि के रूप में की। इस संबंध में **के० एम० मुंशी** ने विधानसभा में कहा था– ''राज्यपाल संवैधानिक औचित्य का प्रहरी तथा वह कड़ी है, जो राज्य को केन्द्र के साथ जोड़ते हुए भारत की एकता के लक्ष्य को प्राप्त करती है।'' केन्द्र सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल निम्नलिखित कार्य करता है–

(i) भारतीय संविधान के **अनुच्छेद 256** तथा **257** में कहा गया है कि केन्द्र सरकार राज्यों की कार्यपालिकाओं को आवश्यक निर्देश दे सकती है। केन्द्र सरकार द्वारा राज्य सरकारों को राष्ट्रीय महत्व की सड़कों तथा संचार साधनों की रक्षा का दायित्व सौंपा जा सकता है तथा **अनुच्छेद 258** के अन्तर्गत केन्द्र सरकार अपने कुछ प्रशासनिक कार्यों को भी राज्य सरकार को हस्तान्तरित कर सकती है। केन्द्र सरकार के द्वारा राज्य सरकार को इस प्रकार के निर्देश और आदेश राज्यपाल के माध्यम से ही दिए जाते हैं तथा राज्यपाल का यह कर्त्तव्य है कि वह देखे कि राज्य सरकार इन निर्देशों, आदेशों का पालन कर रही है अथवा नहीं। यदि राज्य का मन्त्रिमण्डल राज्यपाल को राष्ट्रपति के निर्देशों के विरुद्ध कार्य करने की सलाह देता है तो वह इस प्रकार की सलाह को अस्वीकार कर सकता है तथा राज्य सरकारों को राष्ट्रपति के निर्देश मानने के लिए बाध्य कर सकता है।

(ii) केन्द्र सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि वह राज्य के प्रशासन के संबंध में समय-समय पर राष्ट्रपति को रिपोर्ट देता रहे। इस रिपोर्ट में वह अपने सुझाव भी दे सकता है। राज्यपाल का सबसे प्रमुख कार्य यह देखना है कि राज्य सरकार संविधान के अनुसार कार्य कर रही है अथवा नहीं। यदि राज्य में संविधान के अनुरूप कार्य नहीं हो रहा है, तो राज्यपाल इस संबंध में राष्ट्रपति को रिपोर्ट देता है तथा इस रिपोर्ट के आधार पर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। राज्यपाल राष्ट्रपति को ऐसी रिपोर्ट स्वविवेक से भेजता है। इस संबंध में वह राज्य मंत्रिमण्डल की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं है।

(iii) **अनुच्छेद 200** के अनुसार– राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित किए गए किसी विधेयक को राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता है। उदाहरण के लिए सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण अथवा उच्च न्यायालय की स्वीकृति की शक्तियों को कम करने से संबंधित विधेयक राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखे जाएँगे। राज्यपाल इस संबंध में स्वविवेक से ही कार्य करता है।

(iv) **अनुच्छेद 213** के अनुसार– राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार दिया गया है, किन्तु उसको कुछ विषयों के संबंध में अध्यादेश जारी करने से पूर्व राष्ट्रपति से स्वीकृति लेनी होती है।

इन सब कार्यों के अतिरिक्त केन्द्र सरकार के प्रतिनिधि के रूप में यह देखना है कि राज्य सरकार संकीर्ण प्रान्तीयतावाद को न अपनाकर समस्त संघ के हितों को ध्यान में रखे। तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने एक राज्यपाल सम्मेलन में कहा था– ''संकीर्ण प्रान्तीयवाद पर विजय प्राप्त करने में राज्यपाल की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है।''

2. किसी राज्य में राज्यपाल के पद का क्या महत्व है? राज्यपाल के पद को निष्पक्ष बनाने के लिए सुझाव दीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या– 1 के उत्तर में 'राज्य में राज्यपाल की भूमिका' का अवलोकन कीजिए।

3. राज्यपाल के कार्यों तथा शक्तियों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

उ०– राज्यपाल के कार्य– श्री दुर्गादास बसु और **एम०सी० सीतलवाड़** ने अपनी रचनाओं में राज्यपाल के कुछ स्वविवेकी कार्यों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं–

(i) मुख्यमंत्री की नियुक्ति– यदि राज्य की विधानसभा में किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त है और बहुमत वाले राजनीतिक दल ने अपना नेता चुन लिया है, तो राज्यपाल के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह उसी व्यक्ति को मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त करे, लेकिन यदि राज्य की विधानसभा में दलीय स्थिति स्पष्ट नहीं है, या बहुमत वाले दल में नेता पद के लिए एक से अधिक दावेदार हैं, तो इस संबंध में राज्यपाल स्वविवेक का प्रयोग कर सकता है। ऐसी स्थिति में स्वयं राज्यपाल के द्वारा ही निर्णय किया जाएगा कि किस व्यक्ति के नेतृत्व में स्थायी सरकार का गठन हो सकता है। यही राज्यपाल का प्रथम कार्य होता है।

(ii) मंत्रीमण्डल को भंग करना– राज्यपाल को यह भी स्वविवेक शक्ति प्राप्त है कि वह मंत्रिपरिषद् को अपदस्थ कर राष्ट्रपति से सिफारिश करे कि संबंधित राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाए। राज्यपाल निम्नलिखित परिस्थितियों में मंत्रिमण्डल को भंग कर सकता है–

(क) यदि राज्यपाल को विश्वास हो जाए कि मंत्रिमण्डल का विधानसभा में बहुमत समाप्त हो गया है तो राज्यपाल

मुख्यमंत्री को त्याग-पत्र देने अथवा विधानसभा का अधिवेशन बुलाकर अपना बहुमत साबित करने के लिए कह सकता है। ऐसी स्थिति में यदि मुख्यमंत्री अधिवेशन बुलाने के लिए तैयार न हो तो राज्यपाल मंत्रिमण्डल को पदच्युत कर सकता है।

(ख) यदि किसी मंत्रीमण्डल के प्रति विधानसभा में अविश्वास का प्रस्ताव पारित हो जाने पर मंत्रीमण्डल त्यागपत्र न दे तो राज्यपाल उसे पदच्युत कर सकता है।

(ग) यदि मंत्रिमण्डल संविधान के अनुसार कार्य न कर रहा हो या उसकी नीतियों में राज्य या देश को खतरा हो या उसके द्वारा केन्द्र और राज्य के संघर्ष की स्थिति को जन्म दिया जा रहा हो तब भी मंत्रिमण्डल को पदच्युत किया जा सकता है।

(घ) यदि स्वतंत्र ट्रिब्युनल द्वारा मुख्यमंत्री को भ्रष्टाचार के आरोपों में दोषी घोषित किया गया हो तो राज्यपाल उसे पदच्युत कर सकता है।

श्री एम० वी० पायली लिखते हैं कि, ''यद्यपि वे सामान्य परिस्थितियाँ नहीं है फिर भी एक ऐसे देश में जहाँ लोकतांत्रिक संस्थाएँ अभी विकास की ही अवस्था में है और कुछ भागों में प्रादेशिक, भाषागत तथा अन्य विघटनकारी निष्ठाएँ जोर पकड़े हुए हैं, इस प्रकार की आकस्मिक घटनाओं की संभावना विरल नहीं है और अवसर पर उपस्थित एकमात्र ऐसा व्यक्ति राज्यपाल ही है जो संपूर्ण स्थिति को समझकर उचित कार्यवाही, जिसमें मंत्रीमण्डल को पदच्युत भी सम्मिलित है, कर सकता है।''

(iii) विधानसभा का अधिवेशन बुलाना– सामान्य रूप से राज्यपाल मुख्यमंत्री के परामर्श पर विधानसभा का अधिवेशन बुलाता है, किन्तु असाधारण परिस्थितियों में राज्यपाल स्वविवेक से भी विधानसभा का अधिवेशन बुला सकता है। यदि राज्यपाल के अनुसार कुछ ऐसे महत्वपूर्ण मामले हैं जिन पर तुरंत विचार किया जाना चाहिए, तो **अनुच्छेद 174** के अंतर्गत वह विधानमण्डल के अधिवेशन की कोई भी तिथि निर्धारित कर सकता है। इस संबंध में वह मुख्यमंत्री के परामर्श को मानने के लिए विवश है, चाहे मुख्यमंत्री को विधानसभा का बहुमत का समर्थन प्राप्त हो । **श्री संथानम** और अन्य कुछ विद्वानों के द्वारा ऐसा ही विचार व्यक्त किया गया है।

इसके अतिरिक्त यदि राज्यपाल को मुख्यमंत्री के बहुमत में सन्देह हो जाए तो वह मुख्यमंत्री को शीघ्र अधिवेशन बुलाने के लिए कह सकता है और मुख्यमंत्री द्वारा उसके परामर्श को स्वीकार न किए जाने पर वह स्वयं अधिवेशन बुला सकता है।

डा० एल०एम० सिंघवी के अनुसार, ''मंत्रिमण्डल को बहुमत की जाँच करना वह अपना ऐसा स्वविवेक अधिकार समझ सकता है जिसके लिए वह मंत्रिमण्डल के परामर्श के विपरीत भी अपनी इच्छानुसार विधानसभा का अधिवेशन बुला सकता है।''

(iv) विधानमण्डल को भंग करना– उत्तरदायी शासन की धारणा के अनुसार सामान्यतया यह माना जाता है कि विधानसभा को भंग करने का कार्य राज्यपाल उसी समय करेगा, जब मुख्यमंत्री उन्हें ऐसा करने के लिए परामर्श दे, लेकिन विशेष परिस्थितियों में राज्यपाल विधानसभा भंग करने के संबंध में मुख्यमंत्री के परामर्श को मानने से इंकार कर सकता है, अथवा मुख्यमंत्री के परामर्श के बगैर ही विधानसभा भंग कर सकता है । ऐसे उदाहरण हैं जिनमें इस संबंध में राज्यपाल ने अपने ही विवेक से कार्य किया।

उपर्युक्त बातों से यह बिलकुल स्पष्ट है कि, ''यद्यपि राज्यपाल को राज्य की कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान नहीं कहा जा सकता, लेकिन इसके साथ ही वह केवल नाममात्र का अध्यक्ष नहीं है। वह एक ऐसा अधिकारी है जो राज्य के शासन में महत्वपूर्ण रूप से भाग ले सकता है।

राज्यपाल केंद्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में– भारतीय संविधान के अन्तर्गत राज्यपाल की दोहरी भूमिका है—

(i) वह राज्य में संघीय सरकार का अभिकर्त्ता या प्रतिनिधि है।

(ii) वह राज्य का प्रधान है।

संविधान– निर्माता भारत में एक ऐसी संघीय व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे जिससे 'सहयोगी संघवाद' धारणा के आधार पर केन्द्र और राज्य में सद्भावनापूर्ण संबंध कायम हो सकें और प्रशासनिक एकरूपता तथा राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य को प्राप्त कर किया जा सके ओर उनके द्वारा राज्यपाल के पद की व्यवस्था इस लक्ष्य की पूर्ति के एक साधन के रूप में की गई है । **श्री के०एम० मुंशी** ने विधानसभा में कहा था, ''राज्यपाल संवैधानिक औचित्य का प्रहरी और वह कड़ी है जो राज्य को केंद्र के साथ जोड़ते हुए भारत की एकता के लक्ष्य को प्राप्त करती है।''

4. राज्यों के शासन में राज्यपाल की स्थिति एवं महत्व पर विस्तार से प्रकाश डालिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

5. उत्तर प्रदेश में राज्यपाल की भूमिका पर प्रकाश डालिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

6. ''राज्यपाल राज्य का संवैधानिक प्रधान है।'' इस कथन का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 3 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

7. मुख्यमंत्री की नियुक्ति कैसे होती है? इसकी प्रमुख शक्तियों और कार्यों का वर्णन कीजिए।

उ०– केंद्रीय मंत्रिपरिषद् में जो स्थिति प्रधानमंत्री की होती है, वही राज्य की मंत्रिपरिषद् में मुख्यमंत्री की होती है। मुख्यमंत्री राज्य की मंत्रिपरिषद् का प्रधान होता है। संविधान के **अनुच्छेद 164 (1)** में कहा गया है कि मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्य का राज्यपाल करेगा। विधानसभा में जिस राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त होता है, उसी दल के नेता को राज्यपाल मुख्यमंत्री नियुक्त करता है। यदि कभी ऐसी स्थिति आती है कि किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत नहीं होता है, तो राज्यपाल स्वविवेक का प्रयोग करते हुए किसी भी ऐसे दल के नेता को मुख्यमंत्री बना देता है, जो बहुमत प्राप्त करने में सक्षम हो। इसके पश्चात वह मुख्यमंत्री के परामर्श से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है।

मुख्यमंत्री के कार्य तथा शक्तियाँ– मुख्यमंत्री के कार्य एवं शक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(i) **मंत्रिपरिषद् का गठन–** मुख्यमंत्री का सर्वप्रथम तथा अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य मंत्रिपरिषद् का गठन करना होता है। मुख्यमंत्री मंत्रियों का चयन कर उसकी सूची राज्यपाल को प्रेषित करता है, जिसे राज्यपाल स्वीकार कर लेता है। मुख्यमंत्री की इच्छा के विरुद्ध सामान्यतया राज्यपाल किसी को भी मंत्री नियुक्त नहीं कर सकता है।

(ii) **नियुक्ति संबंधी अधिकार–** राज्यपाल को अनेक उच्च पदाधिकारियों, जैसे महाधिवक्ता और लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष को नियुक्त करने का अधिकार होता है, किन्तु इन पदों पर नियुक्तियाँ राज्यपाल प्राय: मुख्यमंत्री के परामर्श से ही करता है।

(iii) **मंत्रियों के विभागों का वितरण–** मुख्यमंत्री ही अन्य मंत्रियों के बीच विभागों और राज्य के अन्य कार्यों का वितरण करता है। वह चाहे तो अपने लिए कुछ अन्य मंत्रालयों का कार्यभार भी संरक्षित कर सकता है।

(iv) **मंत्रिपरिषद् का सभापति–** मुख्यमंत्री मंत्रिपरिषद् का अध्यक्ष होता है। वह मंत्रिपरिषद् के बैठकों की अध्यक्षता करता है। इस प्रकार मुख्यमंत्री का मंत्रिपरिषद् पर पूरा नियंत्रण रहता है।

(v) **नीति-निर्धारण का अधिकार–** व्यावहारिक रूप में मुख्यमंत्री राज्य के शासन की वास्तविक नीति निर्धारित करता है।

(vi) **राज्यपाल का परामर्शदाता–** मुख्यमंत्री ही राज्यपाल का प्रमुख परामर्शदाता है और वही राज्यपाल को विधानसभा भंग करने का परामर्श दे सकता है। वहीं मंत्रिपरिषद् के निर्णयों से उसे अवगत भी कराता है और राज्यपाल की आज्ञाओं एवं संदेशों को अन्य मंत्रियों तक पहुँचाता है। इस प्रकार वह राज्यपाल और मंत्रिपरिषद् के बीच एक कड़ी के रूप में कार्य करता है।

(vii) **शासन के विभिन्न विभागों में समन्वय–** मुख्यमंत्री इस बात का प्रयत्न करता है कि शासन के सभी विभागों में समन्वय बना रहे अर्थात् शासन के सभी विभाग एक इकाई के रूप में कार्य करें।

(viii) **शासन-व्यवस्था का संचालक–** संवैधानिक दृष्टि से राज्य का अध्यक्ष राज्यपाल होता है किन्तु व्यावहारिक रूप से राज्य के शासन का अध्यक्ष मुख्यमंत्री होता है। वही अपने मंत्रियों के बीच विभागों को बँटवारा करता है, उन पर नियंत्रण रखता है तथा विभागों के बीच मतभेद होने की स्थिति में उनमें आपस में समझौता करवाता है। मंत्रियों को सभी महत्वपूर्ण विषयों में उससे परामर्श आवश्यक रूप से लेना होता है। इस प्रकार मुख्यमंत्री कार्यपालिका का वास्तविक प्रमुख होता है।

(ix) **विधानसभा का नेता–** मुख्यमंत्री का व्यक्तित्व दोहरा है। एक ओर तो वह शासन का प्रधान होता है तथा दूसरी ओर वह विधानसभा का नेता भी होता है। विधानसभा के नेता के रूप में उसे कानून बनाने के क्षेत्र में महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। उसके परामर्श से ही विधानमण्डल के अधिवेशन बुलाए जाते हैं।

(x) **सरकार का प्रमुख प्रवक्ता–** मुख्यमंत्री राज्य सरकार का प्रमुख प्रवक्ता होता है। राज्य सरकार की ओर से अधिकृत घोषणाएँ मुख्यमंत्री द्वारा ही की जाती है।

8. मुख्यमंत्री की शक्तियों एवं महत्व का संक्षेप में वर्णन कीजिए। अथवा मुख्यमंत्री के कार्यों एवं शक्तियों का उल्लेख कीजिए।

उ०– **मुख्यमंत्री की शक्तियाँ एवं कार्य–** इससे लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—7 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

मुख्यमंत्री का महत्व अथवा भूमिका तथा स्थिति– प्रान्तीय प्रशासन में मुख्यमंत्री की भूमिका तथा स्थिति का वर्णन हम निम्नलिखित आधारों पर कर सकते हैं—

(i) **प्रशासनिक स्थिति–** वास्तव में प्रान्तीय प्रशासन का मुख्य सूत्रधार मुखिया तथा संचालनकर्त्ता मुख्यमंत्री ही होता है। कोई भी महत्वपूर्ण कार्य उसके बिना सम्पादित नहीं किया जा सकता और न कोई महत्वपूर्ण निर्णय ही लिया जा सकता है। वह प्रशासन पर नियन्त्रण, निर्देशन की सर्वोच्च शक्ति रखता है। प्रान्त के सभी महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्तियाँ उसी के द्वारा होती हैं। व्यवहार में प्रान्तीय प्रधानों का मुखिया वही है।

(ii) **विधायी शक्तियाँ–** विधि निर्माण में भी वह निर्णायक भूमिका निभाता है। प्रान्तीय तथा प्रशासन की सक्षम एवं प्रभावशाली बनाने के लिए वह विधियों के निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन में प्रभावशाली भूमिका प्रदान करता है। जब तक सदन में

उसका बहुमत होता है वह मनचाही विधियाँ पारित करा सकता है। विधि निर्माण कार्य वास्तव में आज मंत्रिपरिषद् ही करती है और उसमें मुख्यमंत्री की महत्वपूर्ण स्थिति होती है।

(iii) न्यायिक तथा वित्तीय स्थिति– उसकी न्यायिक तथा वित्तीय स्थिति भी अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है। वित्तीय प्रशासन पर नियन्त्रण तथा निर्देशन कार्य उसी का होता है। बजट निर्माण तथा विधानसभा में प्रस्तुत करने में उसकी प्रभावशाली भूमिका रहती है। प्रमुख वित्तीय नीतियों की घोषणा वहीं करता है। राज्य के द्वारा न्यायिक क्षेत्र में जो भी कार्य किए जाते हैं, वास्तव में मुख्यमंत्री द्वारा ही किये जाते हैं।

(iv) जन-प्रतिनिधि के रूप में–जन प्रतिनिधि के रूप में भी प्रान्तीय प्रशासन में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। जनता की भलाई हेतु वह सार्वजनिक घोषनाएँ, कल्याणकारी नीतियों का सम्पादन तथा प्रादेशिक विकास के कार्यक्रमों की घोषणा करता है। वह प्रशासन को इस घोषणाओं के कार्यान्वयन के लिए निर्देशित करता है तथा लोगों का विश्वास अपने नेता पर होता है। इसी रूप में जनता का विश्वास तथा सहयोग प्राप्त होता है।

9. उत्तर प्रदेश के प्रशासन में मुख्यमंत्री की भूमिका का वर्णन कीजिए तथा राज्यपाल के साथ उसके संबंधों की विवेचना कीजिए।

उ०– **राज्य प्रशासन में मुख्यमंत्री की भूमिका–** इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—8 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

मुख्यमंत्री तथा राज्यपाल के संबंध– निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर मुख्यमंत्री और राज्यपाल के संबंधों का निर्धारण किया जा सकता है—

(i) राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्री की नियुक्ति होती है।

(ii) यदि राज्य का शासन संविधान के अनुरूप नहीं चल रहा होता है तो राज्यपाल की रिपोर्ट पर राष्ट्रपति राज्य मंत्रिपरिषद् को भंग कर सकता है।

(iii) मुख्यमंत्री के परामर्श पर मंत्रिपरिषद् के अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा होती है।

(iv) मुख्यमंत्री के परामर्श पर राज्यपाल विधानसभा को भंग कर सकता है।

(v) मुख्यमंत्री राज्यपाल का प्रमुख परामर्शदाता होता है।

मुख्यमंत्री के कार्यो के विवरण के आधार पर राज्य के प्रशासन में मुख्यमंत्री की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। मुख्यमंत्री राज्यपाल एवं मंत्रिपरिषद् के बीच एक कड़ी के रूप में कार्य करता है। वह राज्यपाल को मंत्रिपरिषद् के निर्णयों के संबंध में सूचना देता है। वास्तव में, मंत्रिपरिषद् का अध्यक्ष होने के नाते संविधान ने उसका यह कर्त्तव्य निश्चित किया है कि वह राज्यपाल को न केवल मंत्रिपरिषद् के निर्णयों के संबंध में सूचना देगा अपितु उसे शासन और विधान संबंधी सुझावों के संबंध में भी सूचित करेगा उसे राज्यपाल के कहने पर किसी भी ऐसे मामले को, जिस पर मंत्रिपरिषद् ने विचार न किया हो मंत्रिपरिषद् के समक्ष प्रस्तुत करना होता है। इस प्रकार राज्यपाल और मुख्यमंत्री के बीच घनिष्ठ संबंध होता है।

10. उत्तर प्रदेश राज्य के मंत्रिपरिषद् और राज्यपाल के संबंधों का विवेचन कीजिए।

उ०– **मंत्रिपरिषद् और राज्यपाल में संबंध–** संविधान **(अनुच्छेद 163)** राज्यपाल को परामर्श देने के लिए एक परिषद् की व्यवस्था करता है। इसे मंत्रिपरिषद् कहा गया है। मुख्यमंत्री इस परिषद् का अध्यक्ष होता है। मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है तथा मुख्यमंत्री के परामर्श पर वह अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। संवैधानिक शब्दों में, मुख्यमंत्री और मंत्रिपरिषद् के सदस्य राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त ही पदासीन रह सकते हैं। सामान्यत मंत्रिपरिषद् के समस्त सदस्य राज्य विधानमण्डल के सदस्य होते हैं।

यद्यपि संविधान के **अनुच्छेद 163** में मंत्रिपरिषद् का कार्य राज्यपाल को सहायता और परामर्श देना ही उल्लिखित किया गया है, परन्तु वास्तविक स्थिति इसके विपरित है। संविधान द्वारा 'राज्यपाल को राज्य के शासन के संबंध में जो शक्तियाँ प्रदान की गई हैं, व्यवहार में उन सबका उपयोग मंत्रिपरिषद् के द्वारा ही किया जाता है। मंत्रिपरिषद् शासन संबंधी सभी महत्वपूर्ण निर्णय लेती है और मुख्यमंत्री इन निर्णयों से राज्यपाल को सूचित करता है। अत: राज्य कार्यपालिका शक्ति मंत्रीपरिषद् में निहित है। राज्य के शासन का संपूर्ण उत्तरदायित्व मंत्रीमण्डल का होता है। यह राज्य के शासन की नीति-निर्धारण करता है। राज्य में शांति व्यवस्था बनाए रखना, विकास हेतु योजनाएँ बनाना और उन्हें क्रियान्वित करने के अतिरिक्त, संघीय सरकार के आदेशों और योजनाओं को क्रियान्वित करना भी मंत्रिमण्डल का ही कर्त्तव्य है। इस प्रकार राज्यपाल को प्राप्त प्रशासकीय शक्तियों का वास्तविक प्रयोग मंत्रिपरिषद् की करती है।

इस प्रकार राज्यपाल नाममात्र का कार्यकारी और मन्त्रिपरिषद् वास्तविक कार्यपालिका है। सामान्यत परिस्थितियों में राज्यपाल से मंत्रियों की मन्त्रणा के आधार पर ही कार्य करने की अपेक्षा की जाती है। **अनुच्छेद 167** के अनुसार राज्य के मुख्यमंत्री का कर्त्तव्य है कि राज्य के प्रशासन से संबंधित मंत्रिपरिषद् के निर्णयों की सूचना राज्यपाल को दे। कुछ परिस्थितियों में राज्यपाल मंत्रीपरिषद् के परामर्श के बिना भी कार्य कर सकता है; जैसे— राज्य में संवैधानिक तन्त्र के विफल होने पर राज्यपाल मंत्रिपरिषद् को कुछ परिस्थितियों में बर्खास्त कर सकेगा।

11. राज्य मंत्रिपरिषद् का गठन कैसे होता है? राज्यपाल और मंत्रिपरिषद् के पारस्परिक संबंधों का वर्णन कीजिए।

उ०– राज्य मंत्रिपरिषद् का गठन– भारतीय संविधान द्वारा संघ की भाँति इकाई राज्यों में भी संसदात्मक शासन-प्रणाली स्थापित की गई हैं। इस प्रकार राज्यों में भी वास्तविक कार्यपालिका शक्ति मंत्रिपरिषद् में ही निहित होती है।

संविधान के **अनुच्छेद 163** के अनुसार— ''उन बातों को छोड़कर जिनमें राज्यपाल स्वविवेक से कार्य करता है, अन्य कार्यों को करने में उसकी सहायतार्थ एवं परामर्श हेतु एक मंत्रिपरिषद् होगी जिसका अध्यक्ष मुख्यमंत्री होगा।'' यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मंत्रिपरिषद् जो भी परामर्श राज्यपाल को देती है उसकी जाँच करने का अधिकार किसी भी न्यायालय को नहीं है।

(i) **मंत्रियों की नियुक्ति–** राज्यपाल विधानसभा के बहुमत प्राप्त दल के नेता को मुख्यमंत्री नियुक्त करता है। यदि किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होता है तो राज्यपाल ऐसे दल के व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त करता है जो बहुमत प्राप्त करने में सक्षम हो सके। तत्पश्चात् उसके परामर्श से वह मंत्रिपरिषद् के अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है।

(ii) **मंत्रियों की योग्यताएँ–** मंत्री बनने के लिए संविधान में किसी विशेष योग्यता का उल्लेख नहीं है, मंत्री बनने के लिए उन्हें केवल विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य होना आवश्यक है। यदि किसी मंत्री को मुख्यमंत्री के परामर्श से राज्यपाल ने मंत्री नियुक्त कर दिया है और वह किसी भी सदन का सदस्य नहीं है तो उसे छ: माह की अवधि में किसी भी सदन की सदस्यता ग्रहण करनी होगी अन्यथा उसे अपना पद त्यागना पड़ेगा।

(iii) **मंत्रिपरिषद् की कार्यावधि–** संविधान के अनुसार मंत्रिपरिषद् अपने पद पर उस समय तक ही कार्यरत रहेगी, जब तक राज्यपाल की इच्छा होगी किन्तु व्यवहार में मंत्रिपरिषद् उस समय तक कार्यरत रहती है जब तक विधानसभा में उसका बहुमत और विश्वास बना रहता है। सामान्य रूप से मंत्रिपरिषद् का कार्यकाल विधानसभा के कार्यकाल के समान 5 वर्ष ही है।

(iv) **सामूहिक उत्तरदायित्व–** मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है अत: किसी एक मंत्री के विभाग की आलोचना सब मंत्रियों के विभागों की आलोचना समझी जाती है। इस प्रकार नीति संबंधी मामलों में भी मंत्रिपरिषद् का सामूहिक उत्तरदायित्व होता है।

(v) **शपथ ग्रहण–** प्रत्येक मंत्री को मंत्री पद ग्रहण करने के लिए राज्यपाल के समक्ष अपने पद के प्रति निष्ठा एवं मंत्रिपरिषद् के कार्यों को गुप्त रखने की शपथ लेनी होती है।

(vi) **मंत्रियों के वेतन और भत्ते–** मंत्रियों के वेतन एवं भत्ते राज्य के विधानमण्डल द्वारा निश्चित किए जाते हैं। अत: भारतीय संघ के विभिन्न राज्यों में इस संबंध में अन्तर है।

(vii) **मंत्रियों की संख्या एवं कार्य विभाजन–** 91 वें संविधान संशोधन (2003 ई०) के अनुपालन में अब मंत्रियों की संख्या पर अंकुश लगा दिया गया है। यह संख्या विधानसभा के कुलसदस्यों की संख्या का 15 प्रतिशत होगी। सिक्किम, मिजोरम जैसे छोटे राज्यों में तो यह संख्या 12 से अधिक नहीं होगी। जहाँ तक मंत्रियों के बीच विभागों के बँटवारें का प्रश्न है, मुख्यमंत्री को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपनी इच्छानुसार मंत्रियों के बीच विभाग बाँट दें। राज्य के मंत्रिपरिषद् में भी तीन स्तर के मंत्री होते हैं— कैबिनेट स्तर के मंत्री, राज्यमंत्री और उपमंत्री।

12. राज्य में मंत्रिपरिषद् की शक्तियों का वर्णन करते हुए राज्य सरकार में मुख्यमंत्री की स्थिति स्पष्ट कीजिए।

उ०– राज्य मंत्रिपरिषद् की शक्तियाँ एवं कर्त्तव्य– मंत्रिपरिषद् की शक्तियों एवं कर्त्तव्य निम्नलिखित हैं—

(i) **शासन की नीति निर्धारित करना अथवा प्रशासनिक शक्तियाँ–** राज्य के शासन का संपूर्ण उत्तरदायित्व मंत्रिमण्डल का होता है। यह राज्य के शासन की नीति-निर्धारित करता है। राज्य में शांति व्यवस्था बनाए रखना, विकास हेतु योजनाएँ बनाना और उन्हें क्रियान्वित करने के अतिरिक्त, संघीय सरकार के आदेशों और योजनाओं को क्रियान्वित करना भी मंत्रिमण्डल का ही कार्य है। राज्य की समस्याओं का समाधान करना भी मंत्रिमण्डल का ही कर्त्तव्य है। इस प्रकार राज्यपाल को प्राप्त प्रशासकीय शक्तियों का वास्तविक प्रयोग मंत्रिपरिषद् ही करती है।

(ii) **विधायी शक्तियाँ–** संसदीय शासन-प्रणाली में विधानमण्डल घनिष्ठ रूप से संबंधित होने के कारण राज्य के समस्त कानून मंत्रिमण्डल द्वारा ही बनाये जाते हैं। जिन विषयों पर कानून बनाने की शक्ति राज्य विधानमण्डल को प्राप्त है, उन विधेयकों का प्रारूप मंत्रिमण्डल द्वारा ही तैयार किया जाता है और किसी मंत्री द्वारा उसे विधानमण्डल में प्रस्तुत किया जाता है। विधानमण्डल में मंत्रिमण्डल के दल का बहुमत होने के कारण सामान्यतया विधेयक विधानमण्डल द्वारा पारित कर दिए जाते हैं।

(iii) **वित्तीय शक्तियाँ–** राज्य के लिए वित्तीय नीति का निर्धारण और उसका क्रियान्वयन मंत्रिमण्डल द्वारा ही किया जाता है। कर लगाना, करों की दर निर्धारित करना, करों को समाप्त करना, वित्तीय विनियोग को कम या अधिक करना। आदि राज्य मंत्रिमण्डल के ही कार्य हैं। वित्तीय वर्ष के आरम्भ के पूर्व में राज्य का वार्षिक बजट वित्तमंत्री द्वारा विधानसभा में प्रस्तुत किया है लेकिन यह बजट मंत्रिमण्डल द्वारा निश्चित की गई नीति के आधार पर ही तैयार किया जाता है। बजट को पारित कराने का उत्तरदायित्व मंत्रिपरिषद् का होता है।

(iv) **न्यायिक शक्तियाँ–** संविधान द्वारा राज्यपाल को जो क्षमादान एवं अन्य न्याय संबंधी शक्तियाँ प्रदान की गई हैं, उसका प्रयोग वह मंत्रिमंडल के परामर्श से ही करता है। राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय राष्ट्रपति

संबंधित राज्य के राज्यपाल से परामर्श लेता है। राष्ट्रपति को दिए जाने वाले परामर्श के लिए भी राज्यपाल मंत्रिपरिषद् का परामर्श लेता है।

(v) **उच्च पदों पर नियुक्ति के संबंध में राज्यपाल को परामर्श–** संविधान के अनुसार राज्यपाल को राज्य के जिन उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति की शक्ति प्राप्त हैं, उनकी नियुक्ति का वास्तविक निर्णय मंत्रिपरिषद् द्वारा ही किया जाता है। केवल औपचारिक रूप से ही ये नियुक्तियाँ राज्यपाल द्वारा की जाती हैं व्यवहार में राज्य के महाधिवक्ता; लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों एवं अन्य पदाधिकारियों की नियुक्ति का निर्णय मंत्रिपरिषद् द्वारा ही लिया जाता है।

(vi) **विधानमण्डल में शासन का प्रतिनिधित्व–** विधानमण्डल की बैठकों में मंत्रीगण शासन का प्रतिनिधित्व करते हैं। मंत्रिगण विधानपरिषद् में उपस्थित होकर सदस्यों के प्रश्नों तथा आलोचनाओं का उत्तर देते हैं और शासन की नीति का समर्थन करते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि मंत्रिपरिषद् राज्य के प्रशासन की सबसे महत्वपूर्ण इकाई है।

राज्य सरकार में मुख्यमंत्री की स्थिति– स्वतंत्र भारत की राजनीति में मुख्यमंत्रियों की स्थिति परिवर्तनशील रही है। अनेक राज्यों के कुछ मुख्यमंत्री तो बहुत प्रभावशाली और शक्तिशाली रहे हैं और उन्हें 'किंग मेकर्स' की संज्ञा दी गई हैं। कुछ मुख्यमंत्री ऐसे भी हुए हैं, जिनका व्यक्तित्व तथा कार्यप्रणाली विवादास्पद रही है और उनके विरुद्ध जाँच आयोग भी बिठाए गए है। कुछ मुख्यमंत्रियों ने अपने घटक दलों के बलबूते पर अपना पद कायम रखा है। कुछ मुख्यमंत्रियों को केन्द्र सरकार का पिछलगू भी माना गया है। कुछ मुख्यमंत्रियों की गणना कठपुतली मुख्यमंत्री के रूप में की जाती है। **सी०पी० भाम्भरी** ने इन्हें 'पोस्टमैन' की संज्ञा दी है।

वास्तव में, सत्ता की राजनीति में मुख्यमंत्री की स्थिति परिवर्तनशील होती है। साठ और सत्तर के दशक में मुख्यमंत्री राज्य की शक्ति के स्तम्भ समझे जाते थे, किन्तु इसके बाद मुख्यमंत्री पद की गरिमा निरन्तर घटती गई और आज मिली-जुली सरकारों के युग में तो मुख्यमंत्री को स्वयं अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए दाँव-पेंच से काम लेना पड़ता है।

14 राज्यों का विधानमंडल– विधानपरिषद् और विधानसभा

(Legislature of States : Legislative Council and Legislative Assembly)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 206 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 206-207 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राज्य विधानमंडल के दोनों सदनों के नाम लिखिए।

उ०– राज्य विधानमंडल के दोनों सदनों के नाम निम्नलिखित हैं—

(i) विधानपरिषद् (ii) विधानसभा

2. विधानसभा की सदस्यता की अर्हताएँ क्या हैं?

उ०– विधानसभा की सदस्यता की अर्हताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) वह भारत का नागरिक हो।
(ii) उसकी आयु 25 वर्ष से कम न हो।
(iii) वह भारत सरकार अथवा राज्य सरकार के अन्तर्गत किसी लाभ के पद पर न हो।
(iv) उसमें वे योग्यताएँ हों जो संसद ने कानून द्वारा निश्चित की हैं। वह पागल, दिवालिया व अपराधी न हो।

3. विधानसभा के चार कार्य लिखिए।

उ०– विधानसभा के चार कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) विधानसभा राज्य सीमा के अन्दर अनेक प्रकार के कानून-निर्माण का कार्य करती है।
(ii) विधानसभा राज्य के बजट को स्वीकृति प्रदान करती है।
(iii) विधानसभा मंत्रिपरिषद् पर पूर्ण नियंत्रण रखती है।
(iv) राज्य की विधानसभा संविधान संशोधन संबंधी कार्यों में संसद का सहयोग करती है।

4. विधानसभा अध्यक्ष के कार्य लिखिए।

उ०– विधानसभा अध्यक्ष के कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) वह विधानसभा की बैठकों की अध्यक्षता करता है।

(ii) सदन की बैठकों की कार्यवाही नियमानुसार करता है।

(iii) वह सदन के सदस्यों के विशेषाधिकारों की रक्षा करता है।

(iv) सदस्यों को प्रश्न पूछने, प्रस्ताव रखने तथा भाषण करने की अनुमति देता है।

5. विधानपरिषद् की सदस्यता की अर्हताएँ लिखिए।

उ०– (i) वह भारत का नागरिक हो।

(ii) वह 30 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो।

(iii) केन्द्र या राज्य सरकार के अन्तर्गत किसी लाभ के पद पर न हो।

(iv) पागल व दिवालिया न हो।

(v) संसद द्वारा निर्धारित योग्यताएँ पूरी करता हो।

6. विधानपरिषद् के सभापति के कार्य बताइए।

उ०– विधानपरिषद् के सभापति के कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) वह विधानपरिषद् की बैठकों की अध्यक्षता करता है।

(ii) सदन की बैठकों की कार्यवाही नियमानुसार करता है।

(iii) वह सदन में शांति और अनुशासन बनाए रखता है। यदि कोई सदस्य अनुशासन भंग करे तो उसे निष्कासित कर सकता है।

(iv) वह सदस्यों को प्रश्न पूछने, प्रस्ताव रखने तथा भाषण की अनुमति प्रदान करता है।

(v) वह दलगत राजनीति से ऊपर उठकर निष्पक्ष रूप से कार्य करता है।

(vi) आवश्यकता पड़ने पर वह सदन की कार्यवाही स्थगित कर सकता है।

7. राज्य विधानसभा की दो शक्तियाँ लिखिए।

उ०– राज्य विधानसभा की दो शक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(i) विधायी शक्तियाँ (ii) वित्तीय शक्तियाँ

8. विधानसभा मंत्रिपरिषद् पर किस प्रकार नियंत्रण रखती है?

उ०– विधानपरिषद् विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है। विधानसभा के सदस्य विधानपरिषद् के मंत्रियों से प्रश्न व पूरक प्रश्न पूछकर, विधानसभा अविश्वास प्रस्ताव, काम रोको प्रस्ताव, निन्दा प्रस्ताव प्रस्तुत करके, मंत्रियों के कटौती द्वारा अथवा किसी महत्वपूर्ण विधेयक को पारित न करके विधानपरिषद् पर पूर्ण नियंत्रण रखती है।

9 अपने राज्य की विधानपरिषद् के गठन पर प्रकाश डालिए।

उ०– उत्तर प्रदेश की विधानपरिषद् का गठन इसके सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से एकल संक्रमणीय मत प्रणाली द्वारा किया जाता है। जिनकी संख्या विधानसभा के सदस्यों की संख्या की 1/3 से अधिक नहीं होनी चाहिए। इनका निर्वाचन निम्न प्रकार से होता है—

(i) कुल सदस्यों की संख्या के एक-तिहाई सदस्य नगर-पंचायतों, नगरपालिका परिषदों, नगर निगमों, जिला पंचायतों तथा अन्य स्थानीय संस्थाओं द्वारा चुने जाते हैं, जैसा कि संसद कानून द्वारा निर्धारित करे।

(ii) सदस्यों का 1/12 भाग राज्य के स्नातकों द्वारा निर्वाचित होता है। इसमें वे स्नातक होते हैं, जिन्हें स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण किए हुए 3 वर्ष हो गए हों।

(iii) सदस्यों का 1/12 भाग राज्य के अध्यापकों द्वारा निर्वाचित होता है। इसमें वे अध्यापक होते हैं, जो माध्यमिक विद्यालयों तथा उच्च शिक्षण संस्थाओं में 3 वर्ष से शिक्षण कार्य कर रहे हों।

(iv) एक-तिहाई सदस्यों का निर्वाचन उस राज्य की विधानसभा के सदस्य ऐसे व्यक्तियों में से करते हैं, जो विधानसभा के सदस्य न हों।

(v) कुल संख्या के 1/6 सदस्य राज्यपाल द्वारा उन व्यक्तियों में से मनोनित किए जा सकते हैं, जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला, समाज सेवा अथवा सहकारिता आन्दोलन का विशेष ज्ञान होता है।

विधानपरिषद् के सदस्यों को एम०एल०सी० कहा जाता है।

विधानपरिषद् के सदस्यों की योग्यताएँ वही हैं, जो विधानसभा के सदस्यों के लिए हैं, किन्तु विधानपरिषद् की सदस्यता की न्यूनतम आयु 30 वर्ष निर्धारित की गई है।

विधानपरिषद् एक स्थायी सदन है। इसके 1/3 सदस्य प्रत्येक दो वर्ष पश्चात् अपना स्थान रिक्त कर देते हैं और उनके स्थान पर नए सदस्य निर्वाचित किए जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य का कार्यकाल 6 वर्ष होता है।

10. विधानसभा विधानपरिषद् से अधिक शक्तिशाली है दो कारण बताइए।

उ०– विधानसभा विधानपरिषद् की तुलना में अधिक शकितशाली है। इसका कारण यह है कि विधानसभा का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से होता है और यह जनता का सदन है। इसके विपरीत विधानपरिषद् का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से होता है और यह कुछ वर्गों का प्रतिनिधित्व करता है। विधानसभा को विधानपरिषद् पर नियंत्रण रखने का अधिकार प्राप्त होता है।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. उत्तर प्रदेश की विधानपरिषद् की रचना एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।

उ०– **विधानपरिषद् का संगठन या रचना–** जिन राज्यों के विधानमंडल में दो सदन हैं, वहाँ द्वितीय सदन अथवा उच्च सदन को विधानपरिषद् कहते हैं। किसी राज्य की विधानसभा यदि अपनी पूरी सदस्य संख्या के बहुमत से और उपस्थित व मतदान करने वाले सदस्यों की संख्या के दो–तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करके संसद से प्रार्थना करे तो संसद उस राज्य के लिए विधानपरिषद् की स्थापना अथवा उन्मूलन कर सकती है। वर्तमान समय में केवल पाँच राज्यों (उत्तर प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, कर्नाटक और जम्मू–कश्मीर) में ही विधान परिषदें हैं।

विधानपरिषद् के सदस्य को एम०एल०सी० कहते हैं।

(i) सदस्य संख्या– संविधान द्वारा द्वि–सदनात्मक व्यवस्था वाले राज्य की विधानपरिषद् के सदस्यों की कुल संख्या उस राज्य की विधानसभा के सदस्यों की कुल संख्या के एक–तिहाई से अधिक नहीं होगी, परन्तु ऐसे किसी राज्य में विधानपरिषद् के सदस्यों की कुल संख्या किसी भी दशा में 40 से कम नहीं होगी। यहाँ जम्मू–कश्मीर इसका अपवाद हैं, जहाँ विधानपरिषद् में 36 सदस्य हैं।

(ii) विधानपरिषद् के सदस्यों का निर्वाचन– विधानपरिषद् के सदस्यों का निर्वाचन परोक्ष रूप से अनुपातिक प्रतिनिधित्व के अनुसार एकल संक्रमणीय मत पद्धति द्वारा होता है। निर्वाचन प्रणाली के अनुसार कुल सदस्यों की संख्या का विभाजन निम्न प्रकार है—

(क) स्थानीय संस्थाओं का निर्वाचक मंडल– विधानपरिषद् के कुल एक–तिहाई सदस्यों का निर्वाचन उस राज्य की स्थानीय संस्थाओं (नगरपालिका, जिला बोर्ड आदि) के सदस्यों द्वारा होता है।

(ख) विधानसभा का निर्वाचक मंडल– विधानपरिषद् के कुल सदस्यों के एक–तिहाई राज्य की विधानसभा के सदस्यों द्वारा उन सदस्यों में से निर्वाचित किए जाएँगे जो विधानसभा के सदस्य नहीं है।

(ग) स्नातकों का निर्वाचक मंडल– विधानपरिषद् की कुल सदस्य संख्या के 1/12 सदस्य विश्वविद्यालय के कम–से–कम तीन वर्ष पुराने स्नातकों द्वारा निर्वाचित किए जाएँगे।

(घ) शिक्षकों का निर्वाचक मंडल– विधानपरिषद् की कुल सदस्य संख्या के 1/12 सदस्य राज्य की माध्यमिक शिक्षा संस्थाओं एवं उनसे उच्च स्तर की शिक्षा संस्थाओं के कम–से–कम तीन वर्ष पुराने शिक्षकों द्वारा निर्वाचित होंगे।

(ङ) राज्यपाल द्वारा नामजद सदस्य– शेष 1/6 सदस्य राज्य के राज्यपाल द्वारा नामजद किए जाएँगे।

(iii) विधानपरिषद् के सदस्यों की योग्यताएँ–

(क) वह भारत का नागरिक हो।
(ख) वह 30 वर्ष की उम्र पूरी कर चुका हो।
(ग) केन्द्र या राज्य सरकार के अन्तर्गत किसी लाभ के पद पर न हो।
(घ) पागल व दिवालिया न हो।
(ङ) संसद द्वारा निर्धारित योग्यताएँ पूरी करता हो।

इसके अतिरिक्त निर्वाचित सदस्य को उस राज्य की विधानसभा के किसी निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक होना चाहिए और उस राज्य का निवासी होना चाहिए, जहाँ वह विधानपरिषद् का सदस्य बनना चाहता है विधानपरिषद् के सदस्यों का निर्वाचन, निर्वाचक मंडल द्वारा अनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर एकल संक्रमणीय मत पद्धति के अनुसार होता है।

(iv) राज्य विधानपरिषद् के सदस्यों द्वारा शपथ ग्रहण– राज्य विधानपरिषद् में अपना आसन ग्रहण करने से पहले सदस्यों को राज्यपाल या उसके द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के समक्ष देश की प्रभुसत्ता व अखण्डता की रक्षा व संविधान के प्रति निष्ठा की शपथ लेनी पड़ती है।

(v) विधानपरिषद् का कार्यकाल– राज्यसभा की भाँति विधानपरिषद् भी एक स्थानीय सदन है। इसे कभी भंग नहीं किया जा सकता है। इसके एक–तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य का कार्यकाल 6 वर्ष होता है।

(vi) स्थान की रिक्तता– यदि कोई सदन की आज्ञा बिना लगातार 60 दिनों तक विधानमंडल (दोनों सदनों के लिए समान नियम) की बैठकों से अनुपस्थित रहता है, तो सदन उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकता है।

(vii) वेतन एवं भत्ते– विधानपरिषद् के सदस्यों को भी विधानसभा के सदस्यों के समान वेतन, भत्ते एवं अन्य सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

(viii) विधानपरिषद् की गणपूर्ति व अधिवेशन– विधानपरिषद् की गणपूर्ति व अधिवेशन के नियम विधानसभा के अनुरूप ही हैं। यह कोरम 1/10 सदस्यों का है।

(ix) विधानपरिषद् के पदाधिकारी– विधानपरिषद् अपने ही सदस्यों में से एक सभापति व एक उपसभापति निर्वाचित करती है। सभापति के वही कार्य हैं जो राज्यसभा के सभापति के हैं। सभापति को निर्णायक मत देने का अधिकार होता है। 14 दिन की पूर्व सूचना के द्वारा पारित प्रस्ताव के द्वारा सभापति व उपसभापति को हटाया भी जा सकता है।

विधानपरिषद् के कार्य एवं शक्तियाँ– राज्य विधानपरिषद् को निम्नलिखित शक्तियाँ प्राप्त हैं—

(i) कानून निर्माण संबंधी शक्तियाँ– कानून निर्माण से संबंधित कोई भी साधारण विधेयक विधानपरिषद् के समक्ष भी प्रस्तुत किया जा सकता है। वह दोनों सदनों द्वारा पारित होना चाहिए, लेकिन यदि विधानसभा द्वारा पारित विधेयक विधानपरिषद् 4 माह तक पारित करके न भेजे तो वह अपने आप पारित किया हुआ मान लिया जाता है। विधानपरिषद् के संशोधन को भी विधानसभा रद्द कर सकती है। इससे सिद्ध होता है कि कानून निर्माण के क्षेत्र में विधानपरिषद् कम शक्तिशाली है।

(ii) वित्तीय शक्तियाँ– वित्तीय मामलों में विधानपरिषद् एक शक्तिहीन सदन है। कोई भी विधेयक विधानपरिषद् के समक्ष प्रस्तावित नहीं किया जा सकता। वित्त विधेयक सर्वप्रथम विधानसभा के समक्ष ही प्रस्तुत किया जाता है। विधानसभा द्वारा पारित वित्त विधेयक को 14 दिन के अन्दर विधानपरिषद् द्वारा पारित करके भेजना आवश्यक है। यदि विधानपरिषद् 14 दिन के अन्दर इसको पारित करके न भेजे तो वह अपने आप पारित किया हुआ मान लिया जाता है। विधानपरिषद् द्वारा की गई सिफारिशों को मानना या न मानना विधानसभा की इच्छा पर है।

(iii) कार्यपालिका संबंधी शक्तियाँ– विधानपरिषद् को कार्यपालिका पर नियंत्रण लगाने का अधिकार है। विधानपरिषद् में मंत्रिमंडल की नीतियाँ, कार्यों, सफलताओं तथा असफलताओं के संबंध में प्रश्न पूछे जा सकते हैं। काम रोको, ध्यानाकर्षण, निन्दा के प्रस्ताव भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं परन्तु विधानपरिषद् का मंत्रिमंडल पर नियंत्रण नगण्य है। मंत्रिमंडल केवल विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है, विधानपरिषद् के प्रति नहीं। विधानपरिषद् मंत्रिमंडल को अविश्वास प्रस्ताव पारित करके अपदस्थ नहीं कर सकती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विधानसभा की तुलना में विधानपरिषद् एक कमजोर सदन है। सच यह है कि विधानसभा ही राज्य की वास्तविक विधायिका है।

2. विधानमंडल के अधिकार एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।

उ०– **विधानमंडल के अधिकार एवं कार्य–** संविधान ने विधानमंडल को अनेक अधिकार प्रदान किए हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(i) वित्तीय शक्तियाँ– विधानमंडल का महत्वपूर्ण कार्य राज्य सरकार की आय और व्यय को निश्चित एवं नियन्त्रित करना है। परन्तु वित्त से संबंधित धन विधेयक केवल विधानमंडल के निम्न सदन (विधानसभा) में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। इन धन विधेयकों को विधानसभा में केवल वित्तमंत्री को ही प्रस्तुत करने का अधिकार होता है। प्राय: वित्तमंत्री ऐसे विधेयक मुख्यमंत्री के परामर्श पर ही सदन में प्रस्तुत करता है। राज्य सरकार की आय-व्यय का वार्षिक विवरण (बजट) राज्यपाल की पूर्व स्वीकृति से ही विधानसभा में प्रस्तुत किया जाता है। बजट की स्वीकृति एवं राज्य की वित्तीय नीति विधानसभा ही निश्चित करती है। इसके अतिरिक्त, पुराने करों को समाप्त करने और नए करों को लागू करने का अधिकार केवल विधानसभा को ही होता है। अत: राज्य की आर्थिक व्यवस्था पर विधानसभा का पूर्ण अधिकार होता है।

(ii) कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने का अधिकार– विधानमंडल का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य मंत्रिपरिषद् पर नियंत्रण रखना है। इस संबंध में भी विधानसभा को विधानपरिषद् से अधिक शक्तियाँ प्राप्त है। विधानसभा कार्यपालिका पर पूर्ण नियंत्रण रखती है क्योंकि मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। विधानसभा मंत्रिपरिषद् पर अनेक उपायों द्वारा नियंत्रण रखती है। विधानसभा के सदस्य मंत्रिपरिषद् के सदस्यों से प्रश्न पूछ सकती है, पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं, उनकी आलोचना कर सकते हैं, किसी भी विधेयक को अस्वीकृत कर सकते हैं तथा अविश्वास प्रस्ताव पारित कर मंत्रिपरिषद् को त्यागपत्र देने के लिए बाध्य कर सकते हैं। मंत्रिपरिषद् के सदस्य मंत्रियों से प्रश्न एवं पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं उनके कार्यों की आलोचना कर सकते हैं परन्तु वे मंत्रिपरिषद् के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव नहीं ला सकते हैं।

(iii) विधायिनी शक्तियाँ– राज्य विधानमंडल को राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार है। वह समवर्ती सूची के विषयों पर भी कानून बना सकता है। परन्तु वह कानून संसद के कानून के विरुद्ध नहीं होनी चाहिए। वरना वह अमान्य समझा जाएगा।

उल्लेखनीय है कि संसद भी कई स्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर कानून बना सकती है—

(क) संसद संकटकाल के समय राज्य सूची के सभी विषयों पर कानून बना सकती है।

(ख) राज्यसभा दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित कर दे कि राष्ट्रीय हित में राज्य सूची में सम्मिलित किसी विषय पर संसद द्वारा कानून बनाया जाना जरूरी है तो संसद ऐसे विषय पर कानून बना सकती है।

(ग) विधानसभा द्वारा स्वीकृति हो जाने पर कुछ विधेयक राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिए भेजे जा सकते हैं।

(घ) कुछ विधेयकों को राज्य विधानसभा में पेश किए जाने से पहले उन पर राष्ट्रपति की अनुमति जरूरी है।

(ङ) राष्ट्रपति शासन लागू हो जाने पर राज्य विधानसभा के सभी अधिकार संसद को प्राप्त हो जाते हैं।

साधारण विधेयक विधानमंडल के किसी भी सदन में पेश किया जा सकते हैं, परन्तु धन-विधेयक निचले सदन में ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं। किसी विधेयक को कानून रूप देने के लिए सदनों की स्वीकृति आवश्यक है, परन्तु केन्द्र की ही भाँति राज्यों में भी निर्णायक शक्ति निचले सदन के पास हैं।

(iv) संविधान के संशोधन की शक्ति– यद्यपि भारतीय संविधान के अधिकांश अनुच्छेदों के संसद ही अकेले संशोधन कर सकती है, फिर भी कुछ ऐसे महत्वपूर्ण अनुच्छेद हैं जिनमें संसद के विशेष बहुमत के साथ कम-से-कम आधे राज्यों के विधानसभा की स्वीकृति के बाद ही संविधान संशोधन हो सकता है। राज्य विधानमंडलों को संविधान में संशोधन प्रस्ताव रखने का अधिकार नहीं है।

(v) निर्वाचन संबंधी शक्ति– राज्य की विधानसभा के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते हैं।

3. ''राज्य की विधानसभा, विधानपरिषद् से अधिक शक्तिशाली है।'' इस कथन की उदाहरण सहित विवेचना कीजिए।

उ०– संविधान के अनुसार कुछ राज्यों के विधानमंडल में दो सदन है और शेष में एक। द्वि-सदनीय विधानमंडल में निम्न सदन को विधानसभा और उच्च सदन को विधानपरिषद् कहते हैं। विधानसभा के सदस्यों का चुनाव वयस्क मताधिकार द्वारा प्रत्यक्ष रीति से होता है। इसके सदस्यों की संख्या कम-से-कम 60 तथा अधिक-से-अधिक 500 तक हो सकती है। इसका कार्यकाल 5 वर्ष है। किन्तु विधानपरिषद् का चुनाव अप्रत्यक्ष विधि द्वारा होता है। इसके सदस्यों की संख्या कम-से-कम 40 होगी तथा विधानसभा के सदस्यों की संख्या से इसके सदस्यों की संख्या 1/3 से अधिक नहीं होगी। यह एक स्थायी सदन है तथा इसके सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष है। विधानसभा विधानपरिषद् की अपेक्षा काफी समर्थ एवं अधिकार-सम्पन्न होती है यह निम्नांकित शीर्षकों के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है—

(i) वित्तीय क्षेत्र में– धन विधेयक केवल विधानसभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। विधानपरिषद् में नहीं, किन्तु विधानपरिषद् से पारित होने के लिए प्रत्येक धन विधेयक उसके पास भेजा अवश्य जाता है। परन्तु विधेयक पर परिषद् द्वारा दी गई राय मानने के लिए विधानसभा बाध्य नहीं है। 14 दिन के अन्दर विधानपरिषद् को अपनी राय भेज देनी आवश्यक होती है। यदि इस अवधि में वह अपनी राय नहीं भेजती है तो भी विधेयक उसके द्वारा स्वीकृत माना जाता है। अर्थात उसकी स्वीकृति मात्र एक औपचारिकता है, उसकी राय का वास्तविक महत्व कुछ भी नहीं होता है। 14 दिन में स्वीकृति न आने पर विधेयक को स्वीकृत मानकर राज्यपाल के पास हस्ताक्षर हेतु भेज दिया जाता है। इस प्रकार धन विधेयकों के संबंध में विधानसभा शक्तिशाली है और विधानपरिषद् विधेयक को रोककर केवल 14 दिन का विलम्ब कर सकती है।

(ii) विधायी क्षेत्र में– साधारण विधेयक राज्य विधानमंडल के किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है, परन्तु ये विधेयक दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत होने चाहिए। जब कोई साधारण विधेयक विधानसभा द्वारा स्वीकृत हो जाता है, तब उस पर मंत्रिपरिषद् की स्वीकृति लेने के लिए उसे विधानपरिषद् के पास भेजा जाता है। यदि विधानपरिषद् के समक्ष विधेयक रखे जाने की तिथि से तीन माह तक उसे पारित न किया जाए तो विधानसभा पुन: इसे पारित करके विधानपरिषद् में भेजती है। इस बार भी यदि विधानपरिषद् इसे अस्वीकृत करती है या उसे संशोधित करती है अथवा एक महीने तक उस पर कोई निर्णय नहीं लेती है, तो ऐसी स्थिति में साधारण विधेयक स्वीकृत मान लिया जाता है और उसे राज्यपाल के पास हस्ताक्षर हेतु भेज दिया जाता है। इस प्रकार विधानपरिषद् साधारण विधेयक को चार माह तक विलम्बित अवश्य कर सकती है किन्तु उसे पारित होने से रोक नहीं सकती है।

(iii) कार्यपालिका के क्षेत्र में– सम्पूर्ण मंत्रिपरिषद् विधानसभा के प्रति ही सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है। विधानपरिषद् मंत्रिपरिषद् के सदस्यों से प्रश्न एवं पूरक-प्रश्न पूछ सकती है, उनकी आलोचना कर सकती है किन्तु उसे मंत्रिपरिषद् के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव रखने का अधिकार नहीं है। वास्तव में विधानसभा को ही मंत्रिपरिषद् पर नियंत्रण रखने का अधिकार प्राप्त होता है क्योंकि यह उसके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर सकती है।

(iv) अन्य क्षेत्रों में– राष्ट्रपति के निर्वाचन में विधानसभा के केवल निर्वाचित सदस्य ही भाग लेते हैं, विधानपरिषद् के नहीं। संविधान के संशोधन करने के संबंध में विधानमंडल के दोनों सदनों की शक्तियाँ अवश्य समान हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य विधानमंडल का द्वितीय सदन अथवा उच्च सदन एक शक्तिहीन सदन है। दोनों सदनों की शक्तियों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह पूर्णत: स्पष्ट हो जाता है कि विधानसभा

विधानपरिषद् की तुलना में अधिक शक्ति-सम्पन्न है। इसका कारण यह है कि विधानसभा का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से होता है और यह जनता का सदन है। इसके विपरीत विधानपरिषद् का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से होता है और यह कुछ वर्गों का प्रतिनिधित्व करता है। वस्तुत: विधानपरिषद् द्वितीय सदन ही नहीं है, बल्कि यह द्वितीय श्रेणी का सदन भी है। यथार्थत: विधानपरिषद् सम्मान का सदन है शक्ति का नहीं।

4. राज्य विधानमंडल में विधिनिर्माण प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन कीजिए।

उ०– **राज्य विधानमंडल में कानून निर्माण की प्रक्रिया–** विधानमंडल में कोई विधेयक किस प्रकार पारित होकर विधि (कानून) का स्वरूप प्राप्त करता है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है। सामान्यत: विधेयक दो प्रकार के होते हैं—
साधारण विधेयक और धन विधेयक।

साधारण विधेयकों के संबंध में– साधारण विधेयक मंत्रिपरिषद् के किसी सदस्य या राज्य विधानमंडल के किसी सदस्य द्वारा विधानमंडल के किसी भी सदन में रखे जा सकते हैं। यदि विधेयक किसी मंत्रिपरिषद् के सदस्य द्वारा रखा जाता है, तो इसे सरकारी विधेयक और राज्य विधानमंडल के किसी अन्य सदस्य द्वारा रखा जाता है, तो इसे निजी सदस्य विधेयक कहा जाता है। राज्य विधानमंडल को भी कानून-निर्माण के लिए लगभग वैसी ही प्रकिया अपनानी होती है, जैसी प्रक्रिया संसद के द्वारा अपनायी जाती है। ऐसे विधेयक को कानून का रूप ग्रहण करने के लिए निम्नलिखित चरणों से गुजरना होता है—

(i) **विधेयक को प्रेषित करना तथा प्रथम वाचन–** सरकारी विधेयक के लिए कोई पूर्व सूचना आवश्यक नहीं होती है, परन्तु निजी सदस्य विधेयकों के लिए एक महीने पहले ही सूचना देना आवश्यक है। सरकारी विधयेक साधारणत: सरकारी गजट में छापा जाता है। निजी सदस्य विधेयक को प्रस्तुत करने के लिए दिन निश्चित किया जाता है। निश्चित दिन को विधेयक प्रस्तुत करने वाला सदस्य अपने स्थान पर खड़ा होकर उस विधेयक को पेश करने के लिए सदन से आज्ञा माँगता है और विधेयक के शीर्षक को पढ़ता है । यदि विधेयक अधिक महत्वपूर्ण है, तो विधेयक पेश करने वाला सदस्य विधेयक पर एक संक्षिप्त भाषण भी दे सकता है। यदि उस सदन में उपस्थित और मतदान में भाग देने वाले सदस्य बहुमत से विधेयक का समर्थन करते हैं, तो विधेयक सरकारी गजट में छाप दिया जाता है। यही विधेयक का प्रथम वाचन समझा जाता है।

(ii) **द्वितीय वाचन–** निश्चित तिथि को वह विधेयक पुन: उसी सदन में प्रस्तुत किया जाता है। द्वितीय वाचन के समय विधेयक पर विस्तार से वाद-विवाद होता है। इस वाचन में विधेयक के साधारण सिद्धान्तों पर ही विचार होता है, प्रत्येक धारा पर नहीं।

(क) **प्रवर समिति अवस्था–** द्वितीय वाचन के बाद विधेयक को प्रवर समिति के पास भेज दिया जाता है। समिति विधेयक की प्रत्येक धारा पर विचार करती है तथा उसमें संशोधन हेतु समिति के द्वारा सुझाव प्रस्तुत किए जाते हैं। विधेयक पर विचार करके समिति अपना प्रतिवेदन सदन को भेजती है।

(ख) **प्रतिवेदन अवस्था–** समिति द्वारा प्रस्तुत सुझाव पर सदन द्वारा मतदान होता है। सदन के सदस्यों को भी अपने सुझाव पेश करने का अधिकार होता है। इस प्रकार की प्रत्येक धारा पर विचार और वाद-विवाद के उपरान्त विधेयक पारित किया जाता है।

(iii) **तृतीय वाचन–** जब विधेयक की प्रतिवेदन अवस्था समाप्त हो जाती है, तो कुछ समय पश्चात् इसका तृतीय वाचन प्रारम्भ होता है। इस अवस्था में विधेयक में संशोधन प्रस्तुत नहीं किए जा सकते हैं, विधेयक के साधारण सिद्धान्तों पर बहस की जाती है। इस अवस्था में विधेयक की धाराओं में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता, या तो सम्पूर्ण विधेयक स्वीकार कर लिया जाता है या अस्वीकार। किन्तु इस अवस्था में विधेयक प्राय: अस्वीकार नहीं किया जाता है।

(iv) **विधेयक द्वितीय सदन में–** इसके पश्चात् विधेयक दूसरे सदन में भेज दिया जाता है। वहाँ पर भी यही प्रक्रिया अपनायी जाती है। यदि द्वितीय सदन उसे पारित कर देता है तो वह विधेयक राज्यपाल की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है।

यदि कभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाए कि विधेयक एक सदन में तो पारित हो जाए और दूसरा सदन उसे पारित न करें या उसमें ऐसे संशोधन कर दे, जो पहले सदन को स्वीकार न हों, अथवा दूसरा सदन (विधानपरिषद्) तीन माह तक उस पर कोई कार्यवाही न करे, तो ऐसी दशा में यदि विधानसभा उस विधेयक को मूल रूप में अथवा संशोधन सहित पुन: पारित कर देती है तो वह विधेयक विधानपरिषद् की स्वीकृति के लिए पुन: भेजा जाएगा। विधानपरिषद् यदि उस विधेयक को अस्वीकार कर दे या एक माह तक कोई कार्यवाही न करें, अथवा उसमें ऐसे संशोधन करे जिनसे विधानसभा सहमत न हो तो भी वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित माना जाएगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि विधानपरिषद् किसी साधारण विधेयक को अधिक से अधिक 4 माह तक रोक सकती है।

(v) **राज्यपाल की स्वीकृति–** जब विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित हो जाता है, तो उसे राज्यपाल की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। राज्यपाल उस पर या तो हस्ताक्षर कर देता है या उसको अपने संशोधनों सहित विधानमंडल के पास पुनर्विचार के लिए भेज देता है। यदि राज्य विधानमंडल उस विधेयक को राज्यपाल द्वारा किए गए संशोधनों सहित अथवा उसके बिना पुन: पारित कर देता है, तो राज्यपाल को उस पर हस्ताक्षर करने ही होते हैं। राज्यपाल को कुछ विशेष प्रकार के विधेयकों

को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखना होता है। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह उस विधेयक को स्वीकार कर अथवा न करे। इस प्रकार यदि विधानमंडल उस विधेयक को राष्ट्रपति की सिफारिशों के अनुरूप पारित कर देता है तो उसे स्वीकृति मिल जाएगी अन्यथा नहीं।

विधेयक के संबंध में विवाद की स्थिति– विवाद की स्थिति में केंद्रीय विधायिका में संयुक्त अधिवेशन आहूत करने की परम्परा है, लेकिन राज्य विधायिका में ऐसा कोई नियम अथवा शिष्टाचार नहीं है। यदि विधानपरिषद् तीन माह तक किसी विधेयक पर निर्णय नहीं लेती है अथवा विधानसभा से असहमति रखती है तो संयुक्त अधिवेशन का प्रावधान न होने के कारण बहुमत निर्णय के अनुसार विधानसभा का संख्या बल अधिक होने पर उसी का संशोधन अथवा प्रस्ताव अंतिम रूप से पारित माना जाएगा।

धन विधेयक प्रस्तुत करने की प्रक्रिया– धन विधेयक के पारित होने की प्रक्रिया साधारण विधेयक से भिन्न है। धन विधेयक सर्वप्रथम विधानसभा में ही प्रस्तुत किया जाता है। विधानसभा उसे पारित कर विधानपरिषद् के पास भेज देती है। विधानपरिषद् को 14 दिन के अन्दर ही उस विधेयक को स्वीकृत अथवा अस्वीकृत कर विधानसभा को लौटा देना पड़ता है। यदि वह इस अवधि में उस विधेयक को नहीं लौटाती है, तो भी वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित माना जाता है। विधानपरिषद् उस विधेयक में कुछ संशोधन कर प्रथम सदन को लौटा सकती है, किन्तु उन संशोधनों को मानना या न मानना विधानसभा की इच्छा पर निर्भर होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि विधानपरिषद् धन विधेयक को केवल 14 दिन के लिए ही रोक सकती है। विधानपरिषद् के सम्मान को दृष्टिगत रखते हुए यह एक औपचारिकता मात्र है। दोनों सदनों द्वारा पारित धन विधेयक राज्यपाल की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है ओर उसके हस्ताक्षर हो जाने के बाद वह विधेयक कानून बन जाता है।

इकाई–2

15 केन्द्रशासित प्रदेश एवं उनकी शासन व्यवस्था
(Union Territories and their Administration)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 214 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 214 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली के विधानसभा सदस्यों की संख्या कितनी है? वहाँ के मुख्यमंत्री की नियुक्ति कौन करता है?

उ०– राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली में विधानसभा सदस्यों की संख्या— 70 है। दिल्ली के मुख्यमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।

2. केंद्रशासित राज्यों की कोई दो विशेषताएँ बताइए।

उ०– केंद्रशासित राज्यों की दो विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) केंद्रशासित प्रदेशों में शासन में स्थायित्व होने के कारण दीर्घकालीन योजना बनाकर ठीक प्रकार से प्रशासनिक कार्य किए जा सकते हैं।

(ii) केंद्रशासित प्रदेशों में शासन पद्धति लोकतंत्र के उस सिद्धान्त के अधिक अनुकूल है जिसे शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त कहते हैं।

3. केंद्रशासित प्रदेशों के प्रशासनिक ढाँचे का वर्णन कीजिए।

उ०– केंद्रशासित क्षेत्रों का शासन प्रशासक अपनी परिषदों की सहायता से संचालित करते हैं। प्रशासक के अधीन अनेक अधिकारी तथा कर्मचारी होते हैं। केंद्रीय क्षेत्रों का शासन भारत सरकार प्रशासक अथवा उप राज्यपालों के माध्यम से संचालित करती है। पहले दीव, दमन तथा अरुणाचल प्रदेश के शासन की देखभाल विदेश मंत्रालय करता था। अब समस्त केंद्रप्रशासित क्षेत्रों में प्रादेशिक सभाएँ (परिषदें) और परामर्शदात्री परिषदें है। गोवा के साथ जुड़े दमन एवं दीव पूर्व की भाँति केंद्रशासित क्षेत्र ही हैं। यहाँ का प्रशासन राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त प्रशासक के अधीन है।

इस प्रकार केंद्रशासित क्षेत्रों में अलग-अलग प्रकार की शासन-व्यवस्था हैं। दो केंद्रशासित क्षेत्रों (दिल्ली एवं पुदुचेरी) में संसदीय अधिनियम के अनुसार लोकप्रिय मंत्रिपरिषद् व विधानसभाएँ गठित की गई है और शेष 5 संघ राज्यों का प्रबंध पूर्ण रूप से केंद्र द्वारा किया जाता है। राष्ट्रपति को प्रत्येक संघीय क्षेत्र के लिए प्रशासक नियुक्त करने का अधिकार है। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली के प्रशासक की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। संविधान द्वारा संघ राज्य क्षेत्र के प्रशासकों को अध्यादेश जारी करने की शक्ति प्रदान की गई है। लेकिन वह अपनी इस शक्ति का प्रयोग राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से ही कर सकता है। यदि वह

चाहे तो किसी राज्य से लगे केंद्रीय क्षेत्र को उस राज्य के अन्तर्गत करने का अधिकार भी रखता है। संविधान ने राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया है कि वह अण्डमान व निकोबार द्वीप समूह, लक्षद्वीप दमन व दीव के प्रशासन एवं व्यवस्था के लिए कोई नियम बना सकता है। इन नियमों को संसद द्वारा पारित अधिनियमों के समान ही मान्यता प्राप्त होगी। इसी प्रकार संसद को यह अधिकार प्राप्त है कि वह इन क्षेत्रों के लिए अन्य व्यवस्था कर दें। राष्ट्रपति राज्य की कार्यपालिका शक्ति स्वयं भी धारण कर सकता है।

4. भौगालिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए किन्हीं दो केंद्रशासित क्षेत्रों के नाम लिखिए।

उ०– दो केंद्रशासित क्षेत्रों के नाम दिल्ली तथा चंडीगढ़ हैं।

दिल्ली की भौगालिक स्थिति– दिल्ली देश के उत्तरी भाग में गंगा की एक प्रमुख सहायक यमुना नदी के दोनों तरफ बसी है। यह एक राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र है। इसकी भौगोलिक स्थिति उत्तर— 28° 36' 36" व पूर्व— 77° 13' 48" है।

चंडीगढ़ की भौगोलिक स्थिति– चंडीगढ़ उत्तर भारत का प्रमुख नगर है। जो तीन ओर से पंजाब, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश से लगा हुआ है। इसकी भौगोलिक स्थिति उत्तर— 30° 44' 14" व पूर्व— 76° 47' 14" है।

5. केंद्रशासित कोई दो संघीय क्षेत्रों के नाम लिखिए जहाँ विधानसभा नहीं है।

उ०– अण्डमान-निकोबार द्वीप समूह तथा लक्षद्वीप ऐसे दो संघीय क्षेत्र हैं जहाँ विधानसभा नहीं है।

6. किन्हीं चार संघशासित क्षेत्रों के नाम लिखिए।

उ०– चार संघशासित क्षेत्रों के नाम निम्नलिखित हैं—

(i) दिल्ली
(ii) चंडीगढ़
(iii) लक्षद्वीप
(iv) अण्डमान-निकोबार द्वीप समूह

7. पुदुचेरी के शासकीय संगठन की रूपरेखा दीजिए।

उ०– पुदुचेरी का प्रशासन राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त प्रशासक के अधीन होता है। पुदुचेरी में संसदीय अधिनियम के अनुसार लोकप्रिय मंत्रिपरिषद् एवं विधानसभा गठित हैं। यहाँ का शासक भारत सरकार प्रशासक अथवा उपराज्यपाल के माध्यम से संचालित करती है।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. केंद्रशासित क्षेत्र पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उ०– **केंद्रशासित क्षेत्र या प्रदेश–** केंद्रशासित प्रदेश को संघशासित प्रदेश भी कहा जाता है। इन प्रदेशों का शासन राष्ट्रपति के अधीन होता है जो संघ (केंद्र) सरकार की सलाह से उसका संचालन करता है। भारत में केंद्रशासित प्रदेशों का गठन कई कारणों से किया जाता है। सीमाओं से सटे प्रदेश, विवादग्रस्त क्षेत्र, विदेशी बस्तियाँ, समुद्री क्षेत्र में स्थित दूरस्थ द्वीप तथा विद्रोही गतिविधियों के क्षेत्र शामिल हैं। इनकी आंतरिक और सामरिक स्थिति के कारण अभी तक इनमें उत्तरदायी शासन संभव नहीं हो पाया है। सन् 1956 ई० के बाद से अब तक कई केंद्रशासित प्रदेशों को पूर्ण राज्य का दर्जा भी दिया जा चुका है।

केंद्रशासित (अध्यक्षात्मक) शासन की विशेषताएँ– केंद्रशासित शासन में राज्य का प्रधान राष्ट्रपति होता है जो एक निश्चित अवधि के लिए नियुक्त किया जाता है। राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल कार्य करता है। राष्ट्रपति शासन चलाने के लिए एक मंत्रिपरिषद् का निर्माण करता है— केंद्रशासित शासन की कुछ अन्य विशेषताएँ इस प्रकार है—

(i) शासन में स्थायित्व– इस शासन व्यवस्था में कार्यपालिका प्रधान एक निश्चित अवधि के लिए चुना जाता है। व्यवस्थापिका का निर्माण भी एक निश्चित अवधि के लिए होता है और अवधि पूर्ण होने से पहले किसी को हटाया नहीं जा सकता। इस व्यवस्था के अंतर्गत शासन में स्थायित्व होने के कारण दीर्घकालीन योजना बनाकर ठीक प्रकार से प्रशासनिक कार्य किए जा सकते हैं।

(ii) प्रशासन में एकता– इस शासन-व्यवस्था में सम्पूर्ण शासन शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथ में होती है और इस व्यक्ति के कार्यों को व्यवस्थापिका की स्वीकृति की भी आवश्यकता नहीं होती है। प्रशासनिक एकता के परिणामस्वरूप शासन बहुत अधिक शक्तिशाली रूप में कार्य कर सकता है।

(iii) असाधारण परिस्थितियों के लिए उपयुक्त– अध्यक्षात्मक शासन में एक ही व्यक्ति के हाथों में समस्त शक्तियों का जो केंद्रीकरण होता है, उसके परिणामस्वरूप संकटकाल में यह पद्धति बहुत उपयोगी सिद्ध होती है। ऐसी कार्यपालिका असाधारण अवसरों पर राष्ट्रपति शीघ्र ही प्रभावशाली कार्यवाही कर संकट का सफलतापूर्वक सामना कर सकता है।

(iv) दलबंदी की बुराईयाँ कम– यद्यपि केंद्रशासित शासन में भी संगठित राजनीतिक दल होते हैं, किन्तु ये दल कार्यपालिका प्रधान के निर्वाचन के समय ही अधिक सक्रिय रहते हैं। कार्यपालिका प्रधान का निश्चित कार्यकाल होने के कारण कार्यपालिका के चुनाव हो जाने के बाद दलबंदी की भावना प्रकट होने के विशेष अवसर नहीं रहते हैं। निर्वाचन हो जाने पर राष्ट्रपति दलबंदी की भावना से पृथक होकर शासन कर सकता है। इस प्रकार केंद्रशासित शासन में संसदात्मक शासन की अपेक्षा दलबंदी की बुराईयाँ कम हो जाती है।

(v) **शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त का पालन–** यह शासन पद्धति लोकतंत्र के उस सिद्धांत के अधिक अनुकूल है जिसे शक्ति-पृथक्करण सिद्धांत कहते हैं। क्योंकि इसमें व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका एक-दूसरे से स्वतंत्र रहती है।

(vi) **बहुदलीय प्रणाली के लिए अत्यंत उपयुक्त–** जिस देश में बहुदलीय प्रणाली हो, वहाँ संसदीय पद्धति में सरकार बहुत जल्दी-जल्दी बदलती रहती है और लोकतंत्र सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर पाता।
''बहुदलीय प्रणाली में तो लोकतंत्रीय शासन का अध्यक्षात्मक रूप ही सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है।''

(vii) **शासन में कुशलता–** केंद्रशासित शासन में कार्यपालिका व्यवस्थापिका से स्वतंत्र होने के कारण अधिक साहस और स्वतंत्रता के साथ प्रशासनिक कार्य कर सकती है। मंत्री लोगों को व्यवस्थापिका के कार्यों में भाग लेने और लोकप्रिय होने के कारण समय खर्च नहीं करना पड़ता। इसीलिए वे अपनी समस्त शक्ति और समय का उपयोग अपने शासन कार्य में कर सकते हैं। राष्ट्रपति के द्वारा विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों को मंत्री पद पर नियुक्त कर प्रशासनिक कार्य में अधिक कुशलता लाई जा सकती है।

(viii) **योग्यतम व्यक्तियों के मंत्रिमंडल का निर्माण संभव–** संसदात्मक शासन के अंतर्गत मंत्रिपरिषद् का निर्माण करने में प्रधानमंत्री को अनेक बातें ध्यान में रखनी होती हैं, लेकिन केंद्रशासित शासन के अंतर्गत राष्ट्रपति जिन किन्हीं व्यक्तियों को मंत्रिपरिषद् में शामिल करना चाहे, वह उन व्यक्तियों को मंत्रिपरिषद् में शामिल कर सकता है।

2. राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र की शासन-व्यवस्था पर विस्तृत प्रकाश डालिए।

उ०– **राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली की शासन-व्यवस्था–** दिल्ली केंद्रशासित राज्य है लेकिन उसकी विशिष्ट स्थिति है। राष्ट्रीय राजधानी घोषित होने से उसके अधिकारों में वृद्धि हुई है। दिल्ली तथा पुदुचेरी की अपनी-अपनी विधानसभाएँ और मंत्रिपरिषदें हैं। दिल्ली के लिए विधानसभा का आश्वासन 21 दिसम्बर, 1991 ई० को पूर्ण हुआ जब 69वाँ संविधान संशोधन पारित हुआ। दिल्ली विधानसभा के लिए 70 प्रतिशत स्थान निश्चित किए गए। दिल्ली की विधानसभा के लिए प्रथम चुनाव 6 नवम्बर, 1993 ई० को हुए।

दिल्ली की अपनी प्रशासनिक विशेषताएँ है तथा भारत की राजधानी होने के कारण दिल्ली का विशेष महत्व है। दिल्ली का पुलिस बल राज्य के अधीन न होकर केंद्रीय गृह मंत्रालय के आंतरिक सुरक्षा विभाग के अधीन कार्य करता है। सन् 1993 ई० चुनाव में भारतीय जनता पार्टी को 48 स्थान प्राप्त हुए थे, जबकि कांग्रेस को 14 स्थान प्राप्त हुए। 2 दिसम्बर, 1993 ई० को मदनलाल खुराना दिल्ली के मुख्यमंत्री बन गए। वे दिल्ली के दूसरे मुख्यमंत्री थे। फिर सन् 1996 ई० में साहिब सिंह वर्मा, सन् 1998 ई० में श्रीमती सुषमा स्वराज मुख्यमंत्री बनीं। सन् 2008 ई० के दिल्ली विधानसभा चुनावों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को 43 स्थान प्राप्त हुए और श्रीमती शीला दीक्षित तीसरी बार दिल्ली की मुख्यमंत्री बनीं तथा 2013 तक इस पद पर रहीं। वर्तमान में श्री अरविन्द केजरीवाल एक भारतीय राजनीतिज्ञ, आम आदमी पार्टी के राष्ट्रीय संयोजक और दिल्ली के मुख्यमंत्री हैं। अपने पहले कार्यकाल के दौरान वह 28 दिसम्बर, 2013 ई० से 14 फरवरी, 2014 ई० तक इस पद पर रहे। 49 दिन की अल्पमत सरकार चलाने के बाद उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने त्यागपत्र की वजह अल्पमत में होने की वजह से अपने चुनावी वादे के अनुसार जनलोकपाल बिल विधानसभा में पारित नहीं करवा पाना बताया। सालभर के राष्ट्रपति शासन के बाद फरवरी 2015 के चुनावों में उनकी पार्टी ने भारी बहुमत हासिल किया तथा 14 फरवरी, 2015 ई० को अरविन्द केजरीवाल दोबारा दिल्ली के मुख्यमंत्री पद पर आसीन हुए।

वर्तमान में दिल्ली एक पूर्ण राज्य न होकर राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के अंतर्गत केंद्रशासित राज्य ही है। यहाँ की शासन-व्यवस्था के लिए राष्ट्रपति उपराज्यपाल की नियुक्ति करता है, जो मुख्यमंत्री की सलाह से कार्य करता है। लेकिन दिल्ली की कानून व्यवस्था और अन्य महत्वपूर्ण मामलों पर आज भी केंद्र सरकार का नियंत्रण है।

3. भारत के केंद्रशासित क्षेत्रों के नाम लिखिए। उनकी शासन-व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।

उ०– **भारत के केंद्रशासित क्षेत्र–** भारत के केंद्रशासित क्षेत्रों की संख्या 7 है; जिनके नाम निम्नलिखित हैं—

(i) अंडमान व निकोबार द्वीप समूह
(ii) दमन व दीव
(iii) दादरा व नगर हवेली
(iv) लक्षद्वीप
(v) चंडीगढ़
(vi) पाण्डिचेरी (पुदुचेरी)
(vii) राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली।

केंद्रशासित क्षेत्रों की शासन-व्यवस्था– संघीय क्षेत्र (केंद्रशासित क्षेत्र) की विधानसभा अपने संपूर्ण क्षेत्र या कुछ भाग के लिए उन नियमों के बारे में कानून का निर्माण कर सकती है, जो संविधान में दी गई सातवीं अनुसूची में राज्य सूची अथवा समवर्ती सूची में दिए गए हैं। यदि संघीय क्षेत्र की विधानसभा किसी ऐसे कानून का निर्माण कर देती है जो संसद के कानून के विरुद्ध है, तो उस क्षेत्र की विधानसभा का कानून वहाँ तक अवैध समझा जाएगा जहाँ तक कि वह संसद के कानून के विरुद्ध है। दिल्ली, पुदुचेरी तथा अण्डमान व निकोबार द्वीपसमूह प्रत्येक के लिए उप राज्यपाल नियुक्त होते हैं। दादरा व नगर हवेली, चंड़ीगढ़, दमन व दीव तथा लक्षद्वीप के लिए प्रशासक नियुक्त किए जाते हैं।

केंद्रशासित क्षेत्रों का शासन प्रशासक अपनी परिषदों की सहायता से संचालित करते हैं। प्रशासक के अधीन अनेक अधिकारी तथा कर्मचारी होते हैं। केंद्रीय क्षेत्रों का शासन भारत सरकार प्रशासक अथवा उप राज्यपालों के माध्यम से संचालित करती है। पहले दीव, दमन तथा अरुणाचल प्रदेश के शासन की देखभाल विदेश मंत्रालय करता था। अब समस्त केंद्रप्रशासित क्षेत्रों में प्रादेशिक सभाएँ (परिषदें) और परामर्शदात्री परिषदें है। गोवा के साथ जुड़े दमन एवं दीव पूर्व की भाँति केंद्रशासित क्षेत्र ही हैं। यहाँ का प्रशासन राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त प्रशासक के अधीन है।

इस प्रकार केंद्रशासित क्षेत्रों में अलग-अलग प्रकार की शासन-व्यवस्था है। दो केंद्रशासित क्षेत्रों (दिल्ली एवं पुदुचेरी) में संसदीय अधिनियम के अनुसार लोकप्रिय मंत्रिपरिषद् व विधानसभाएँ गठित की गई है और शेष 5 संघ राज्यों का प्रबंध पूर्ण रूप से केंद्र द्वारा किया जाता है। राष्ट्रपति को प्रत्येक संघीय क्षेत्र के लिए प्रशासक नियुक्त करने का अधिकार है। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली के प्रशासक की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। संविधान द्वारा संघ राज्य क्षेत्र के प्रशासकों को अध्यादेश जारी करने की शक्ति प्रदान की गई है। लेकिन वह अपनी इस शक्ति का प्रयोग राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से ही कर सकता है। यदि वह चाहे तो किसी राज्य से लगे केंद्रीय क्षेत्र को उस राज्य के अन्तर्गत करने का अधिकार भी रखता है। संविधान ने राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया है कि वह अण्डमान व निकोबार द्वीप समूह, लक्षद्वीप दमन व दीव के प्रशासन एवं व्यवस्था के लिए कोई नियम बना सकता है। इन नियमों को संसद द्वारा पारित अधिनियमों के समान ही मान्यता प्राप्त होगी। इसी प्रकार संसद को यह अधिकार प्राप्त है कि वह इन क्षेत्रों के लिए अन्य व्यवस्था कर दें। राष्ट्रपति राज्य की कार्यपालिका शक्ति स्वयं भी धारण कर सकता है।

16 भारतीय न्यायपालिका– सर्वोच्च न्यायालय, जनहित याचिकाएँ तथा लोक अदालत

(Indian Judiciary : Supreme Court, Public Interest Litigations and Lok Adalat)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 223-224 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 224-225 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में न्यायपालिका की स्वतंत्रता के कोई दो निर्णायक कारक बताइए।

उ०– भारत में न्यायपालिका की स्वतंत्रता के निर्णायक दो कारक निम्नलिखित हैं—

(i) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है और राष्ट्रपति इस संबंध में उक्त न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों से अनिवार्यत: परामर्श लेता है।

(ii) संसद और राज्य के विधानमंडलों में सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के ऐसे कार्यों पर वाद-विवाद नहीं किया जा सकता, जिन्हें उसने अपने कर्त्तव्य निर्वहन में किया हो।

2. उच्चतम न्यायालय के मुख्य कार्य क्या हैं?

उ०– उच्चतम न्यायालय के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) संविधान की व्याख्या करना
(ii) सामाजिक क्रांति का अग्रदूत
(iii) मौलिक अधिकारों का रक्षक
(iv) सलाहकारी निकाय के रूप में
(v) विशिष्ट परामर्श देना

3. भारतीय उच्चतम न्यायालय के दो प्रारम्भिक क्षेत्राधिकारों को लिखिए।

उ०– निम्नलिखित विवादों के संबंध में उच्चतम न्यायालय को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं—

(i) भारत सरकार और उसके साथ एक या एक से अधिक राज्यों तथा एक या अधिक राज्यों के बीच विवाद।

(ii) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच कोई ऐसा विवाद हो जिसमें कि कानून या तथ्य का कोई प्रश्न अन्तर्निहित हो, जिस पर किसी संवैधानिक अधिकार के अस्तित्व का विस्तार निर्भर करता हो।

4. उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश बनने के लिए व्यक्ति में किन अर्हताओं का होना आवश्यक है?

उ०– उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के लिए आवश्यक अर्हताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) वह भारत का नागरिक हो।

(ii) कम-से-कम 5 वर्ष तक किसी उच्च न्यायालय अथवा दो या दो से अधिक उच्च न्यायालयों का न्यायाधीश रह चुका हो। या किसी उच्च न्यायालय में दो या दो से अधिक उच्च न्यायालयों में लगातार 10 वर्ष तक अधिवक्ता रह चुका हो या राष्ट्रपति के मतानुसार वह विधिशास्त्र का विशिष्ट ज्ञाता हो।

5. उच्चतम न्यायालय का परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार क्या है? इसका एक उदाहरण दीजिए।

उ०– परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार– संविधान के अनुच्छेद 143 की व्यवस्था के अनुसार यदि राष्ट्रपति किसी संवैधानिक या कानूनी प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श लेना चाहे तो वह राष्ट्रपति को परामर्श दे सकता है परन्तु राष्ट्रपति उसके परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं है। अभी तक राष्ट्रपति ने 9 बार सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श प्राप्त किया है परन्तु दसवीं बार अयोध्या काण्ड के किसी बिन्दु पर राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श माँगा तो सर्वोच्च न्यायालय ने परामर्श देने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार अब यह बात स्पष्ट हो गई कि सर्वोच्च न्यायालय किसी विषय विशेष पर राष्ट्रपति को परामर्श देने से इनकार भी कर सकता है।

6. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को उसके पद से हटाने के आधारों एवं प्रक्रिया का उल्लेख कीजिए।

उ०– सर्वोच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश को 65 वर्ष की आयु से पूर्व भी असमर्थता का आरोप सिद्ध हो जाने पर हटाया जा सकता है। इसके लिए यह विधि है कि संसद के दोनों सदन अपने सदस्यों के बहुमत से तथा उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से राष्ट्रपति से यह प्रार्थना करें कि कोई न्यायाधीश कदाचार या अयोग्यता के कारण अपने पद के योग्य नहीं रहा है अत: उसे न्यायाधीश के पद से पृथक कर दिया जाना चाहिए। ऐसा प्रस्ताव संसद के दोनों सदनों द्वारा एक ही सत्र में पारित हो जाना आवश्यक है। ऐसा प्रस्ताव प्रस्तुत होने पर न्यायाधीश को इस बात का पूरा अवसर दिया जाएगा कि वह अपनी पैरवी कर सके। न्यायाधीश तब तक अपने पद से पृथक नहीं किया जा सकता जब तक कि वह वास्तविक रूप से अयोग्य अथवा दुराचारी न हो।

7. न्यायिक पुनरावलोकन का अर्थ समझाइए।

उ०– न्यायिक पुनरावलोकन का अर्थ– न्यायिक पुनरावलोकन का तात्पर्य न्यायालय द्वारा कानूनों तथा प्रशासकीय नीतियों की संवैधानिकता की जाँच तथा ऐसे कानूनों तथा प्रशासकीय नीतियों की संवैधानिकता की जाँच तथा ऐसे कानूनों एवं नीतियों को असंवैधानिक घोषित करना है, जो संविधान के किसी अनुच्छेद का अतिक्रमण करती हैं। **कारविन** के शब्दों में— ''न्यायिक पुनरावलोकन का अर्थ न्यायालयों की उस शक्ति से है, जो उन्हें अपने न्याय-क्षेत्र की अन्तर्गत लागू होने वाले व्यवस्थापिका के कानूनों की वैधानिकता का निर्णय देने के संबंध में तथा कानूनों को लागू करने के संबंध में प्राप्त है और जिन्हें वे अवैधानिक तथा व्यर्थ समझे।'' अमेरिकी न्यायाधीश **मार्शल** ने सन् 1803 ई० में 'मार्वरी बनाम मेडिसन' के मामले में न्यायिक पुनरावलोकन की व्याख्या करते हुए कहा था— ''न्यायिक पुनरावलोकन न्यायालय द्वारा अपने समक्ष प्रस्तुत विधायी कानूनों तथा कार्यपालिका अथवा प्रशासकीय कार्यों का वह निरीक्षण है जिसके द्वारा वह निर्णय करता है कि क्या यह एक लिखित संविधान द्वारा निषिद्ध किए गए हैं अथवा उन्होंने अपनी शक्तियों का अतिक्रमण कर कार्य किया है या नहीं।''

8. न्यायपालिका की स्वतंत्रता हेतु उठाए गए दो कदमों का उल्लेख कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या—1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

9. भारतीय न्याय व्यवस्था में जनहित याचिकाओं के महत्व पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

उ०– जनहित याचिकाओं का महत्व–

(i) जनहित याचिकाओं से लाखो-करोड़ों निर्धन तथा ज्ञान व साधन हीन व्यक्तियों को सस्ता व तुरन्त न्याय मिल जाता है।

(ii) अपने कर्त्तव्य के प्रति शासन की उपेक्षा, मनमानी व लापरवाही पर रोक लगती है।

(iii) जनहित याचिकाओं द्वारा पीड़ित व कमजोर वर्गों को केवल कानूनी न्याय ही नहीं, अपितु सामाजिक व आर्थिक न्याय भी प्रदान किया जाता है। उदाहरण के लिए बन्धुआ मुक्ति मोर्चा के पत्र को याचिका मानकर सर्वोच्च न्यायालय ने बन्धुआ मजदूरों की मुक्ति के आदेश दिए।

(iv) सर्वोच्च न्यायालय जनहित याचिकाओं की न्यायिक सक्रियता के आधार पर राज्य अथवा केंद्र सरकार को आवश्यक निर्देश तथा आदेश भी देता है। जिनका पालन न करने पर उन पर कोर्ट की अवमानना का मामला बन जाता है।

(v) जनहित याचिकाएँ कार्यपालिका प्रशासन को सदा जागरूक व सक्रिय बनाए रखने का कार्य करती हैं।

10. भारत में न्यायिक समीक्षा के अर्थ एवं महत्व का वर्णन कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या—7 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

11. उच्चतम न्यायालय मूल अधिकारों की रक्षा के लिए कौन-कौन से आदेश जारी कर सकता है? अथवा अधिकार के लेख से आप क्या समझते हैं?

उ०– भारतीय उच्चतम न्यायालय नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करता है। संविधान के भाग—3 द्वारा भारतीयों को अनेक मूल

अधिकार दिए गए हैं। नागरिकों के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की दृष्टि से ये मूल अधिकार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा का दायित्व संविधान के अनुच्छेद 13 तथा 32 द्वारा उच्चतम न्यायालय पर डाला गया है। उच्चतम न्यायालय मूल अधिकारों की रक्षा के लिए बंदी-प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण तथा अधिकार पृच्छा आदि विभिन्न प्रकार के न्यायादेश जारी कर सकता है।

अधिकार पृच्छा लेख– अधिकार पृच्छा लेख नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा हेतु जारी एक आदेश है। जिसके द्वारा यह किसी भी नागरिक को पूछ सकता है कि किसी प्रकार उसने कानून के विरुद्ध पद अधिकार प्राप्त किया हुआ है।

12. उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार का क्या अर्थ है? इसमें किस प्रकार के विवाद आते हैं?

उ०– उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार का अर्थ ऐसे मामले या विवाद हैं जिनको केवल उच्चतम न्यायालय में ही सुना जा सकता है, किसी अन्य न्यायालय में नहीं। उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार में निम्नलिखित विवाद आते हैं।

(i) भारत सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद।

(ii) भारत सरकार, राज्य या कई राज्यों तथा एक या अधिक राज्यों के बीच विवाद।

(iii) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच कोई ऐसा विवाद जिसमें कानून या तथ्य का कोई प्रश्न अन्तर्निहित हो, जिस पर किसी संवैधानिक अधिकार के अस्तित्व का विस्तार निर्भर करता हो।

13. भारतीय न्याय व्यवस्था में लोक अदालत पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उ०– लोक अदालत– भारत में न्याय व्यवस्था की दशा बड़ी शोचनीय है। देश के न्यायालयों में लाखों की संख्या में मुकदमें लम्बित पड़े हुए हैं। दीवानी न्यायालयों में तो 15-20 वर्ष पुराने मुकदमें आज भी निर्णय की प्रतीक्षारत हैं। इलाहाबाद उच्च न्यायालय में ही विचारधीन मुकदमों की संख्या ढाई लाख से ऊपर पहुँच चुकी है। आज भारत में मुकदमेंबाजी एक अभिशाप बन कर रह गई है। अत: जनता को सस्ता, सरल तथा यथाशीघ्र न्याय दिलाने के उद्देश्य से न्यायमूर्ति **पी०एन० भगवती** ने इस ओर केंद्र सरकार का ध्यान आकर्षित किया, जिसके फलस्वरूप न्यायमूर्ति पी०एन० भगवती की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की गई, जिसने लोक अदालतें स्थापित करने तथा नि:शुल्क विधिक सहायता देने की सिफारिश की।

वास्तव में लोक अदालत कानूनी विवादों के मैत्रीपूर्ण समझौते के लिए एक वैधानिक मंच है, जिसमें अवकाश प्राप्त न्यायाधीश, राजपत्रित अधिकारी एवं समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति परामर्शदाता के रूप में आसीन होते हैं। इन अदालतों में वादी और प्रतिवादी द्वारा वकील नहीं किए जाते हैं। **विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम (1987 ई०)**, जिसका संशोधन 2002 ई० में हो चुका है, द्वारा स्थायी लोक अदालतों की स्थापना का प्रावधान किया गया है। वर्तमान में देश के लगभग सभी जनपदों में लोक अदालतें स्थापित की गई हैं। इन अदालतों द्वारा अब तक एक करोड़ 43 लाख से भी अधिक वादों का निपटारा किया जा चुका है।

ऐसे फौजदारी मामलों को छोड़कर जिनमें समझौता होना संभव नहीं है, दीवानी, फौजदारी और राजस्व न्यायालयों में लम्बित सभी मुकदमों को मैत्रीपूर्ण समझौते के लिए लोक अदालत में प्रस्तुत किया जा सकता है। लोक अदालत के निर्णय अन्य किसी दीवानी न्यायालय के समान ही दोनों पक्षों पर लागू होते हैं। यह निर्णय अन्तिम होते हैं और उनके विरुद्ध अपील नहीं की जा सकती है।

14. जनपदीय न्यायप्रणाली का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उ०– जनपदीय न्याय प्रणाली– उत्तर प्रदेश उच्च न्यायालय के अधीन राज्य के प्रत्येक जनपद में निम्नलिखित न्यायालय कार्य करते हैं—

(i) दीवाना न्यायालय

(ii) फौजदारी न्यायालय

(iii) राजस्व या माल न्यायालय

(i) दीवानी न्यायालय– जिले का दीवानी न्यायालय चल या अचल सम्पत्ति, धनराशि आदि से संबंधित मुकदमों की सुनवाई करता है और उन पर निर्णय देता है। जिले के दीवानी न्यायालय की ऊपर से नीचे तक की कई श्रेणियाँ हैं, जिनका विवरण निम्न प्रकार है— जिला जज या जिला न्यायाधीश, सिविल जज, मुन्सिफ न्यायालय, खलीफा न्यायालय, न्याय पंचायत आदि।

(ii) फौजदारी न्यायालय– फौजदारी के अन्तर्गत हत्या, मारपीट, लड़ाई व जालसाजी आदि के मुकदमें आते हैं। जिले में फौजदारी न्यायालय की क्रमिक शृंखला इस प्रकार है— सेशन जज, तीन श्रेणियों में मजिस्ट्रेट, अवैतनिक मजिस्ट्रेट, न्याय पंचायत आदि।

(iii) राजस्व या माल न्यायालय– राजस्व संबंधी मामलों में सुनवाई के लिए उच्च न्यायालय के नीचे राजस्व परिषद् होती है। इसके नीचे क्रमश: कमिश्नर, कलेक्टर, डिप्टी कलेक्टर, तहसीलदार तथा नायब तहसीलदार के माल न्यायालय होते हैं। ये सब न्यायालय लगान, माल गुजारी, सिंचाई तथा बन्दोबस्त के मुकदमों की सुनवाई करते हैं तथा अपने-अपने क्षेत्र में शांति व व्यवस्था भी बनाए रखते हैं।

15. जनहित याचिकाओं के दो महत्व बताइए।

उ०– उत्तर के लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या—9 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

16. लोक अदालतों के दो गुणों का उल्लेख कीजिए।

उ०– लोक अदालतों के दो गुण निम्नलिखित हैं—

(i) लोक अदालतों में विवादों का आपसी मैत्रीपूर्ण समझौतों से निपटारा किया जाता है।

(ii) इन अदालतों में रियाटर्ड जज, राजपत्रित अधिकारी तथा समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति परामर्शदाता के रूप में बैठते हैं।

17. परिवार न्यायालय पर टिप्पणी लिखिए।

उ०– परिवार न्यायालय– सन् 1984 में संसद ने कानून बनाकर देश के विभिन्न भागों में परिवार न्यायालयों की स्थापना की है। इन न्यायालयों की स्थापना के उद्देश्य निम्न प्रकार हैं—

(i) महिलाओं व बच्चों के हित में पारिवारिक विवादों के संबंध में यथाशीघ्र समझौते कराना।

(ii) विवाह, तलाक, उत्तराधिकार, सम्पत्ति, भरण-पोषण तथा चरित्र आदि में संबंधित विवादों का मधुर वातावरण में निपटारा कराना।

(iii) कानूनी न्यायालयों की न्याय की लंबी व खचीर्ली प्रक्रिया से परिवारों को बचाना।

(iv) महिलाओं व बच्चों का उनके कानून-सम्मत अधिकार दिलाना।

(v) परिवारों में पड़ने वाली दरारों को रोकना।

देश में फरवरी, 2006 तक कुल 156 तथा उत्तर प्रदेश में 16 परिवार न्यायालय स्थापित किए जा चुके हैं, जिनमें हजारों पारिवारिक विवाद सौहाद्रपूर्ण वातावरण में निपटाए जा चुके हैं। परिवारों को सस्ता व शीघ्र न्याय दिलाने की दृष्टि से जनता में इनकी लोकप्रियता निरन्तर बढ़ रही है।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. उच्चतम न्यायालय को अभिलेख न्यायालय क्यों कहते हैं? उसके क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिए। अथवा नगरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय किसी प्रकार के लेख (रिट) जारी कर सकते हैं? किन्हीं दो उदहारणों को देते हुए समझाइए।

उ०– उच्चतम न्यायालय की समस्त कार्यवाही एवं निर्णय लिखित रूप में होते हैं और प्रकाशित किए जाते हैं, जिन्हें अभिलेखों के रूप में रखा जाता है। इसलिए उच्चतम न्यायालय को अभिलेख न्यायालय भी कहते हैं। इन अभिलेखों को आवश्यकतानुसार भविष्य में अधीनस्थ न्यायालयों के समक्ष उदाहरण या नजीर के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार, शक्तियाँ एवं कार्य– उच्चतम न्यायलय का क्षेत्राधिकार और शक्तियों का क्षेत्र विस्तृत है। उसकी शक्तियों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(i) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार, (ii) अपीलीय क्षेत्राधिकार, तथा

(iii) परामर्शदात्री।

इन शक्तियों का वर्णन निम्नलिखित है—

(i) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार– निम्नलिखित प्रकार के विवादों के संबंध में उच्चतम न्यायालय को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं—

(क) भारत सरकार और उसके साथ एक या एक से अधिक राज्यों तथा एक या अधिक राज्यों के बीच विवाद।

(ख) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच कोई ऐसा विवाद हो जिसमें कि कानून या तथ्य का कोई प्रश्न अन्तर्निहित हो, जिस पर किसी संवैधानिक अधिकार के अस्तित्व का विस्तार निर्भर करता हो।

(ग) केंद्र सरकार व एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद।

समवर्ती प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार– ऊपर जिन विवादों का वर्णन किया गया है, उनको केवल उच्चतम न्यायालय में ही सुना जा सकता है, किसी अन्य न्यायालय में नहीं। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय का उपर्युक्त क्षेत्राधिकार उसका अनन्य क्षेत्राधिकार है। इसके साथ ही उच्चतम न्यायालय को मूल अधिकारों का संरक्षक भी स्वीकार किया गया है। संविधान ने मूल अधिकारों की सुरक्षा का भार राज्यों के उच्च न्यायालयों को भी सौंपा है। इस प्रकार मूल अधिकारों को लागू कराने के लिए समुचित कार्यवाही करना, उच्चतम न्यायालय का समवर्ती प्रारम्भिक अधिकार है। यदि सरकार या नागरिक किसी व्यक्ति के मूल अधिकारों का अपहरण करे तो वह व्यक्ति उच्चतम न्यायालय की शरण ले सकता है। संविधान के द्वारा उच्चतम न्यायालय को निर्देशित किया गया है कि वह मूल अधिकारों को लागू कराने के लिए समुचित कार्यवाही करे। उच्चतम न्यायालय इस हेतु कुछ लेख व आदेश जारी कर सकता है जैसे— बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण, अधिकार-पृच्छा।

(ii) अपीलीय क्षेत्राधिकार– उच्चतम न्यायालय भारत का अन्तिम अपीलीय न्यायालय है। उच्चतम न्यायालय अधीनस्थ उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील भी सुनता है। इसके निर्णय के विरुद्ध कहीं भी अपील नहीं की जा सकती है। सन् 1935 ई० के अधिनियम के अन्तर्गत जिस संघीय न्यायालय की स्थापना की गई थी, वह भारत का अन्तिम अपीलीय न्यायालय नहीं था, क्योंकि उसके निर्णय के विरुद्ध ब्रिटेन में प्रिवी कौंसिल में अपील की जा सकती थी।

उच्चतम न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा जा सकता है—

(क) दीवानी मामले– इस संबंध में मूल संविधान के अंतर्गत जो व्यवस्था थी, उसे सन् 1972 ई० में हुए संविधान के 30वें संशोधन द्वारा परिवर्तित कर दिया गया। वर्तमान समय में **अनुच्छेद 133** को संशोधित करके 20 हजार की धनराशि की सीमा को समाप्त कर दिया गया है। अब यह निश्चित किया गया है कि उच्च न्यायालय से उच्चतम न्यायालय में ऐसे सभी दीवानी विवादो की अपील की जा सकेगी जिनमें उच्च न्यायालय द्वारा यह प्रमाणित कर दिया जाए कि इन विवादों मे कानून की व्याख्या से संबंधित सारभूत प्रश्न निहित हैं।

(ख) फौजदारी मामले– फौजदारी मामलों में उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में निम्नलिखित बातों के आधार पर अपील की जा सकती है—

(अ) यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद उच्चतम न्यायालय के विचार के योग्य है।

(ब) यदि उच्च न्यायालय ने अपील में किसी अपराधी की मुक्ति के आदेश को उलटकर उसे मृत्युदण्ड दिया हो।

(स) यदि उच्च न्यायालय ने अधीनस्थ न्यायालय से विवाद अपने विचारार्थ मँगाकर, अभियुक्त को मृत्युदण्ड दिया हो।

(ग) संवैधानिक मामले– उच्चतम न्यायालय किसी उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध संवैधानिक मामले में अपील उस स्थिति में सुन सकता है, जब उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि उस मामले में संविधान की व्याख्या से संबंधित कानून का कोई सारभूत प्रश्न अन्तर्निहित है। यदि उच्च न्यायालय इस प्रकार का प्रमाण-पत्र देने से इनकार कर दे तो भी उच्चतम न्यायालय अपील करने की विशेष अनुमति दे सकता है, यदि इसे ज्ञात हो जाए कि उस मामले में संविधान की व्याख्या का प्रश्न अन्तर्निहित हैं।

(घ) विशिष्ट मामले– उपर्युक्त के अतिरिक्त संविधान का **अनुच्छेद 136** उच्चतम न्यायालय को कुछ विशेष मामलों की अपीलें सुनने का अधिकार भी देता है इस अनुच्छेद में कहा गया है कि उच्चतम न्यायालय भारत के राज्य क्षेत्र के अन्तर्गत किसी भी न्यायालय या न्यायाधिकरण द्वारा दिए गए किसी भी निर्णय, विज्ञप्ति निर्धारण दण्ड या आदेश के विरुद्ध अपील करने की आज्ञा प्रदान कर सकता है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि उच्चतम न्यायालय का अपीलीय क्षेत्राधिकार अत्यधिक विस्तृत है उच्चतम न्यायालय सैनिक न्यायालय के विरुद्ध अपील नहीं सुन सकता है।

''यह कहना सत्य होगा कि स्वरूप तथा विस्तार की दृष्टि से इस न्यायालय का क्षेत्राधिकार तथा शक्तियाँ राष्ट्रमण्डल के किसी भी देश के उच्चतम न्यायालय तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के उच्चतम न्यायालय के कार्य क्षेत्र तथा शक्तियों से अधिक व्यापक है।''
–एम०सी० सीतलवाड़

(iii) परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार– संविधान के **अनुच्छेद 143** के अनुसार राष्ट्रपति किसी कानूनी या तथ्य के प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय से परामर्श माँग सकता है। उच्चतम न्यायालय को परामर्श देने के लिए खुली सुनवाई का भी प्रबन्ध करता है। अमेरिका के संविधान में उच्चतम न्यायालय द्वारा राष्ट्रपति को परामर्श दिए जाने की व्यवस्था नहीं है। इस न्यायालय पर संवैधानिक दृष्टि से ऐसी कोई बाध्यता नहीं है कि उसे परामर्श देना ही पड़े। राष्ट्रपति के लिए भी यह आवश्यक नहीं है कि वह उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए परामर्श के अनुसार ही कार्य करें।

(iv) विविध शक्तियाँ– उच्चतम न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय के रूप में भी कार्य करता है। इसका अर्थ यह है कि इसके निर्णय और इसकी समस्त न्यायिक कार्यवाहियाँ प्रकाशित होती है और सदैव साक्ष्य के रूप में सभी न्यायालयों में स्वीकार की जाती है। किसी भी न्यायालय में उन्हें प्रस्तुत करने पर प्रामाणिकता के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता है। अवहेलना करने वाले को न्यायालय की अवमानना के लिए दण्डित किया जा सकता है। इस न्यायालय को संसद द्वारा बने कानून तथा स्वयं अपने द्वारा बनाए गए नियमों, निर्णयों व आदेशों की समीक्षा करने की शक्ति प्राप्त है। न्यायालयों के अधिकारियों तथा अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश या उसके द्वारा मनोनीत किसी अन्य न्यायाधीश द्वारा की जाती है।

2. भारत के सर्वोच्च न्यायालय के कार्य एवं शक्तियों का उल्लेख कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

3. भारत के उच्चतम न्यायालय के संगठन तथा क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिए।

उ०– उच्चतम न्यायालय का संगठन– संविधान के अनुसार देश में एक उच्चतम न्यायालय की स्थापना की गई है। वर्तमान में उच्चतम न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा 30 अन्य न्यायाधीश हैं। आवश्यकतानुसार राष्ट्रपति तदर्थ न्यायाधीशों की भी नियुक्ति कर सकता है।

(i) न्यायाधीशों की योग्यता– उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए योग्यताएँ आवश्यक हैं—

(क) वह भारत का नागरिक हो।

(ख) कम-से-कम 5 वर्ष तक वह किसी उच्च न्यायालय अथवा दो या दो से अधिक उच्च न्यायालयों का लगातार न्यायाधीश रह चुका हो।

या किसी उच्च न्यायालय में अथवा दो या दो से अधिक उच्च न्यायालयों में लगातार 10 वर्ष तक अधिवक्ता (advocate) रह चुका हो, या राष्ट्रपति के मतानुसार वह विधिशास्त्र का विशिष्ट ज्ञाता हो।

वर्तमान में न्यायमूर्ति श्री जगदीश सिंह खेहर भारत के मुख्य न्यायाधीश हैं। इन्होंने 4 जनवरी, 2017 को पदभार ग्रहण किया है।

(ii) न्यायाधीशों की नियुक्ति– संविधान के अनुसार उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। भारत के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के संबंध में राष्ट्रपति द्वारा उच्चतम न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयों के ऐसे अन्य न्यायाधीशों से परामर्श लेता है, जिनसे वह इस संबंध में परामर्श लेना आवश्यक समझता है। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में जुलाई 1998 ई० को राष्ट्रपति द्वारा उच्चतम न्यायालय में भेजे गए स्पष्टीकरण प्रस्ताव पर विचार करते हुए नौ सदस्यीय खण्डपीठ ने सर्वसम्मति से निर्णय देते हुए स्पष्ट किया है कि उच्चतम न्यायालय में किसी न्यायाधीश की नियुक्ति तथा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश अथवा किसी न्यायाधीश के स्थानान्तरण के विषय में अपनी संस्तुतियाँ प्रेषित करने से पूर्व उच्चतम न्यायालय के चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों से परामर्श किया जाना आवश्यक है। यदि दो न्यायाधीश भी विपरीत मत प्रकट करते हैं तो मुख्य न्यायाधीश को सरकार को अपनी संस्तुति नहीं भेजनी चाहिए। भारत का मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से उच्चतम न्यायालय के किसी अवकाश प्राप्त न्यायाधीश को भी आवश्यक कार्य के लिए नियुक्त कर सकता है।

(iii) शपथ– अपना पद ग्रहण करने से पूर्व संविधान की तीसरी अनुसूची में निर्धारित प्रपत्र के अनुसार प्रत्येक न्यायाधीश राष्ट्रपति के समक्ष शपथ ग्रहण करता है।

(iv) उच्चतम न्यायालय की कार्य-विधि– उच्चतम न्यायालय की कार्य-विधि के संबंध में संविधान में कुछ व्यवस्थाएँ की गई हैं। इस संबंध में नियम बनाने का अधिकार संविधान द्वारा संसद को दिया गया है और जिन बातों पर संविधान और संसद ने कोई व्यवस्था न की हो, ऐसी बातों पर स्वयं उच्चतम न्यायालय की अनुमति से कानून बन सकता है। उच्चतम न्यायालय की कार्यविधि के संबंध में निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गई हैं—

(क) उच्चतम न्यायालय के सम्मुख किसी ऐसे मुकदमें की अपील भी पेश की जा सकती है, जिसकी सुनवाई के पश्चात यह अनुभव किया जाए कि उसमें संविधान की व्याख्या करना अनिवार्य है या कानून के अभिप्राय को तात्विक रूप से प्रकट करना होगा। इसी प्रकार के मुकदमें आरम्भ में 5 से कम न्यायाधीशों के सम्मुख प्रस्तुत किए जा सकते हैं परन्तु यदि यह स्पष्ट हो जाए कि उसमें संविधान की व्याख्या का स्पष्टीकरण होना आवश्यक है तो उसको भी कम-से-कम 5 न्यायाधीशों के सम्मुख उपस्थित किया जाएगा और उसकी व्याख्या के अनुसार उसका निर्णय किया जाएगा।

(ख) उच्चतम न्यायालय के निर्णय बहुमत के आधार पर होंगे। परन्तु यदि निर्णय से कोई न्यायाधीश सहमत नहीं है तो वह अपना पृथक निर्णय दे सकता हैं, परन्तु बहुमत से हुआ निर्णय ही मान्य समझा जाएगा।

(ग) उच्चतम न्यायालय के सभी निर्णय खुले तौर पर सम्पन्न होते हैं।

(घ) जिन विषयों का संबंध संविधान की व्याख्या के साथ हो या जिनमें कोई संवैधानिक प्रश्न उपस्थित हो या कानून के अर्थ को समझाने की आवश्यकता हो अथवा जिन विषयों पर विचार करने का कार्य राष्ट्रपति द्वारा उच्चतम न्यायालय को सौंपा गया हो, उनकी सुनवाई उच्चतम न्यायालय के कम-से-कम 5 न्यायाधीशों द्वारा की जाती है।

(v) न्यायाधीशों का कार्यकाल– उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर कार्य कर सकते हैं। 65 वर्ष की आयु पूर्ण होने के पश्चात् उन्हें अवकाश दिया जाएगा। इस अवस्था से पहले भी कोई न्यायाधीश अपनी इच्छानुसार राष्ट्रपति को संबोधित करके अपनी इच्छा से त्यागपत्र दे सकता है।

(vi) न्यायाधीशों को प्राप्त उन्मुक्तियाँ– न्यायाधीशों द्वारा दिए गए निर्णयों या आचरण को लेकर संसद में किसी प्रकार की बहस नहीं की जा सकती है। ऐसा करने पर उनके विरुद्ध न्यायालय को मानहानि का मुकदमा चलाने का अधिकार है।

(vii) न्यायाधीशों की पदच्युति– उच्चतम न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश को 65 वर्ष की आयु से पूर्व भी असमर्थता का आरोप सिद्ध हो जाने पर हटाया जा सकता है। इसके लिए यह विधि है कि संसद के दोनों सदन अपने सदस्यों के बहुमत से तथा उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से राष्ट्रपति से यह प्रार्थना करें कि कोई न्यायाधीश कदाचार या अयोग्यता के कारण अपने पद से योग्य नहीं रहा है अत: उसे न्यायाधीश के पद से पृथक कर दिया जाना चाहिए। ऐसा प्रस्ताव संसद के दोनों सदनों द्वारा एक ही सत्र में पारित हो जाना आवश्यक है। ऐसा प्रस्ताव प्रस्तुत होने पर न्यायाधीश को इस बात का पूरा अवसर दिया जाएगा कि वह अपनी पैरवी कर सके। न्यायाधीश तब तक अपने पद से पृथक नहीं किया जा सकता जब तक कि वह वास्तविक रूप से अयोग्य अथवा दुराचारी न हो।

(viii) न्यायाधीशों के वेतन तथा भत्ते– संविधान के अनुसार उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को 1 लाख रुपए मासिक तथा अन्य न्यायाधीशों को 90 हजार रुपए मासिक वेतन दिया जाता है। इसके अतिरिक्त न्यायाधीशों को रहने के लिए बिना किराए का आवास तथा अन्य भत्ते मिलते हैं। अवकाश-ग्रहण करने के पश्चात् उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को पेंशन

भी प्राप्त होती है। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को निष्पक्ष तथा स्वतंत्र बनाने के लिए संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि किसी न्यायाधीश की नियुक्ति के पश्चात उसके वेतन, भत्ते तथा अन्य सुविधाओं में कमी नहीं ही जा सकती, परन्तु आर्थिक संकट की घोषणा के अंतर्गत राष्ट्रपति न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते आदि में कटौती करने संबंधी आदेश दे सकता है।

उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

4. भारत के उच्चतम न्यायालय के गठन व उसके कार्यों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उ०– **उच्चतम न्यायालय का गठन–** इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 3 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

उच्चतम न्यायालय के कार्य– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

5. भारत के उच्चतम न्यायालय की संरचना का उल्लेख कीजिए। उसे संविधान का संरक्षक क्यों कहा जाता है? अथवा भारतीय संविधान में सर्वोच्च न्यायालय के महत्व पर प्रकाश डालिए।

उ०– **उच्चतम न्यायालय की संरचना–** इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 3 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

उच्चतम न्यायालय संविधान का संरक्षक– संविधान के भाग-3 द्वारा भारतीयों को अनेक मौलिक अधिकार दिए हैं। नागरिकों के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की दृष्टि से ये मौलिक अधिकार अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारतीय उच्च न्यायालय नागरिकों के मौलिक अधिकारों का संरक्षक भी है। अत: लोगों के इन मूलाधिकारों की राज्य अथवा अन्य व्यक्तियों संस्थाओं तथा समूहों इत्यादि के अतिक्रमण से सुरक्षा अत्यावश्यक है। इस रक्षा का दायित्व संविधान के **अनुच्छेद 13** तथा **32** द्वारा उच्चतम न्यायालय पर डाला गया है।

भारतीय संविधान के **अनुच्छेद 32** के अनुसार कोई नागरिक अपने अधिकारों को प्रवर्तन हेतु उच्चतम न्यायालय में सीधे याचिका दायर कर सकता है। उच्चतम न्यायालय इन अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए बंदी-प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण तथा अधिकार-पृच्छा इत्यादि विभिन्न प्रकार के न्यायादेश जारी कर सकता है। इस प्रकार मूल अधिकारों के लिए सांविधानिक आश्वासन उच्चतम न्यायालय के माध्यम से ही पूर्ण किया जाता है।

यदि कोई भी राज्य ऐसा कानून बनाता है अथवा ऐसा कोई आदेश जारी करता है जिससे भाग-3 में प्रदत्त मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है, तो ऐसे कानून अथवा शासकीय आदेश को संविधान-विरुद्ध होने के कारण **अनुच्छेद 13** के अनुसार उच्चतम न्यायालय द्वारा शून्य घोषित किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत का उच्चतम न्यायालय संविधान के अभिभावक तथा नागरिक अधिकारों के संरक्षक के रुप में महत्वपूर्ण अधिकार रखता है।

सर्वोच्च या उच्चतम न्यायालय : आवश्यकता तथा महत्व– संघात्मक व्यवस्था में कई बार ऐसे अवसर आते हैं जब राज्यों एवं केंद्र के बीच विवाद उत्पन्न हो जाता है। ऐसी अवस्था में एक शक्तिशाली न्यायपालिका ही दोनों के मध्य उत्पन्न विवाद को सुलझाकर संविधान की रक्षा करती है। देश में सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता एवं महत्व के निम्नलिखित कारण रहे हैं—

(i) शासन का सन्तुलन चक्र– सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका एक सन्तुलन चक्र के समान है, क्योंकि जहाँ शासन के अन्य अंग जनता की उत्तेजित भावना से प्रभावित हो सकते हैं, वहाँ सर्वोच्च न्यायालय शासन का एक अंग है जो निष्पक्षता के साथ सरकार के कार्यों की व्याख्या संविधान के अनुसार करके सरकार के विभिन्न अंगों में संतुलन स्थापित कर सकता है।

(ii) संघात्मक शासन व्यवस्था के कारण– शासकीय सत्ता का संघीय तथा राज्यों की सरकारों के मध्य विभाजन संघीय संविधान की विशेषता है। किसी भी शक्ति-विभाजन की प्रक्रिया में क्षेत्राधिकारी के प्रश्न को लेकर संघ तथा राज्यों में वाद-विवाद उत्पन्न होना स्वाभाविक है। शक्ति विभाजन संविधान के अनुसार होता है। इसलिए इन समस्त विवादों का निर्णय एक निष्पक्ष एवं स्वतंत्र प्राधिकारी के द्वारा किया जाए। संघीय संविधान में सर्वोच्च न्यायालय ही एक ऐसा प्राधिकारी हो सकता है।

''संघात्मक शासन में अनेक सरकारों का समन्वय होने के कारण संघर्ष अवश्यम्भावी है। अत: संघीय नीति का यह आवश्यक गुण है कि देश में ऐसी न्यायिक संस्था हो जो संघीय कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका तथा इकाइयों की सरकारों से स्वतंत्र हो।'' **–जी०एन० जोशी**

(iii) संविधान की व्याख्या का कार्य– सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा संविधान के रक्षक और संविधान के अधिकारिक व्याख्याता के रूप में कार्य किया जाता है। संविधान-निर्मात्री सभा में कहा गया था, ''यह संविधान का व्याख्याकार और संरक्षक होगा।'' भारतीय संविधान की भावना की अधिकारिक व्याख्या सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा ही की जाएगी।

(iv) सामाजिक क्रान्ति का अग्रदूत– भारत में सर्वोच्च न्यायालय केवल लोकतंत्र का प्रहरी ही नहीं है बल्कि साधारण और संवैधानिक कानूनों की प्रगतिवादी व्याख्या करके सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के अग्रदूत के रूप में भी कार्य करता है।

(v) मौलिक अधिकारों का रक्षक– संविधान निर्माताओं का कथन था कि, ''सर्वोच्च न्यायालय नागरिक के मौलिक अधिकारों का संरक्षक होगा।'' संविधान के **अनुच्छेद 32** के अन्तर्गत यह न्यायालय संविधान द्वारा प्रदान किए गए मौलिक अधिकारों का अभिरक्षक है। संघीय अथवा राज्यों की सरकारों द्वारा इन अधिकारों का अतिक्रमण होने पर उपचार करना इस न्यायालय का कर्त्तव्य है।

"इन अधिकारों का महत्व एवं सत्ता समय-समय पर न्यायालय द्वारा दिए विनिर्णयों से घोषित होती है, जिससे कार्यपालिका की स्वेच्छाचारिता तथा विधानमंडल की सवैंधानिकता से नागरिकों की रक्षा होती है।" **–पायली**

(vi) विशिष्ट परामर्श देने के लिए– गंभीर तथा जटिल कानूनी उलझनों पर सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रपति को परामर्श देने का कार्य भी करता है। सार्वजनिक महत्व के जिन कानूनों तथा तथ्यों के विषय के विषय में राष्ट्रपति इस न्यायालय के विचार जानना चाहते हैं, उन विषयों में यह राष्ट्रपति को परामर्श देता है।

6. उच्चतम न्यायालय को संविधान का रक्षक और नागरिकों के मूल अधिकारों का रक्षक कहा जाता है। विवेचना कीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—5 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

7. उच्चतम न्यायालय की न्यायिक पुनरावलोकन शक्ति के महत्व की विवेचना कीजिए। उदाहरण देकर समझाइए।

उ०– **न्यायिक पुनरावलोकन शक्ति एवं उसका महत्व–** न्यायिक पुनरावलोकन अथवा न्यायिक समीक्षा अंग्रेजी भाषा 'ज्यूडिशियल रिव्यू' का हिन्दी अनुवाद है। इसका अभिप्राय यह है कि न्यायालय को व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानूनों और कार्यपालिका के आदेशों की संवैधानिक निश्चितता करने का अधिकार प्राप्त होता है। यह संविधान की सर्वोच्चता बनाए रखने, संघ एवं राज्य सरकारों द्वारा शक्तियों का अतिक्रमण न करने, नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करने के निमित्त न्यायालय को अधिकृत करता है।

न्यायिक पुनरावलोकन (अथवा पुनर्विलोकन) की परिभाषा करते हुए **ई.ए. ओर्विन** ने लिखा है कि "यह न्यायालय की ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा वह कानून की संवैधानिकता की जाँच कर सकता है। यदि जाँच के पश्चात् कोई कानून संविधान की भावना के विरुद्ध पाया जाता है तो न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है।"

सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश **ह्यूज** ने एक अवसर पर कहा है कि, "हम संविधान के अन्तर्गत हैं, परन्तु संविधान वही है जो हम (न्यायाधीश) कहते हैं।"

भारत के सन्दर्भ में **प्रो. एम. जी. गुप्ता** ने लिखा है कि, "विधानमंडल ने जिन कानूनों का निर्माण अपनी विधि निर्माण की शक्तियों का उल्लघंन करके किया है, उन्हें अवैध घोषित करने की न्यायालयों को शक्ति ऐसे किसी भी विधान में अन्तर्निहित होती हैं, जिसमें सीमित शक्तियों द्वारा शासन की व्यवस्था की गई हो।

इस प्रकार स्पष्ट है कि न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का तात्पर्य है— कानूनों को देखना कि वे संविधान के अनुकूल हैं अथवा प्रतिकूल और यदि प्रतिकूल हैं तो उन्हें असंवैधानिक घोषित करके लागू होने से रोकना। यह बात मंत्रिपरिषद् के कार्यों और आदेशों पर भी लागू होती है।

भारतीय संविधान के **अनुच्छेद 131** और **132** उच्चतम न्यायालय को संघीय तथा राज्य सरकारों द्वारा निर्मित कानूनों के पुनरावलोकन का अधिकार देते हैं। इसके अतिरिक्त, संविधान के **अनुच्छेद 13** और **32** मौलिक अधिकारों के बारे में उच्चतम न्यायालय को ऐसी ही शक्ति प्रदान करते हैं। इस संबंध में **अनुच्छेद 246** और **254** का भी उल्लेख किया जाना आवश्यक है जिनके द्वारा केंद्र और राज्यों में विधि-निर्माण की शक्तियों के विभाजन को निश्चित किया गया है। हम कह सकते हैं कि भारत में न्यायिक पुनरावलोकन के दो प्रमुख आधार हैं— **संघात्मक शासन** और **नागरिकों के मौलिक अधिकार।** उच्चतम न्यायालय को इन दोनों स्थितियों को बहाल रखने के लिए व्यवस्थापिका और कार्यपालिका को नियन्त्रित करने का अधिकार प्राप्त है।

8. भारत के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति कैसे होती है? न्यायालय की स्वतंत्रता का संरक्षण किस प्रकार किया जाता है?

उ०– **सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति–** इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—3 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

सर्वोच्च न्यायालय की स्वतंत्रता का संरक्षण– संघात्मक शासन के लिए एक निष्पक्ष एवं स्वतंत्र न्यायपालिका अनिवार्य है। इसलिए भारतीय संविधान निर्माताओं ने संविधान में कुछ ऐसे उपबन्धों का प्रावधान किया है, जिनके द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश कार्यपालिका और विधानपालिका के अवांछनीय प्रभाव से मुक्त रहें और निर्भीकतापूर्वक अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकें। ये उपबन्ध निम्नलिखित हैं—

(i) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है और राष्ट्रपति इस संबंध में उक्त न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों से अनिवार्यत: परामर्श लेता है।

(ii) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते, पेंशन इत्यादि भारत सरकार के संचित निधि पर भारित रहते हैं। संसद उन पर वाद-विवाद कर सकती है, परन्तु मतदान नहीं कर सकती। साथ ही किसी भी न्यायाधीश के कार्यकाल में उसके वेतन भत्ते, पेंशन, छुट्टी की शर्तों आदि में कमी या परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार न्यायाधीश मंत्रिमंडल के कोष एवं प्रभाव से मुक्त रहते हैं।

(iii) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त होने पर 65 वर्ष की आयु तक कार्य करते हैं। इस अवधि में उन्हें पदच्युत किया जा सकता है, परन्तु पदच्युत की प्रक्रिया बड़ी ही जटिल है। जब संसद के दोनों सदन अपने सदस्यों की बहुसंख्या और

उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से राष्ट्रपति से यह प्रार्थना करें कि न्यायाधीश अक्षमता या कदाचार के कारण अपने पद के योग्य नहीं हैं और वे पदच्युत कर दिए जाएँ तो राष्ट्रपति उन्हें पदच्युत कर सकता है।

(iv) संसद और राज्य के विधानमंडलों में सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के ऐसे कार्यों पर वाद-विवाद नहीं किया जा सकता, जिन्हें उसने अपने कर्त्तव्य निर्वहन में किया हो।

(v) सर्वोच्च न्यायालय के पदाधिकारियों की नियुक्ति, वेतन, भत्ते, पेंशन, सेवा की शर्तों इत्यादि के संबंध में राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से नियम बनाने का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को ही प्राप्त है।

(vi) संविधान में कहा गया है कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् किसी न्यायालय में वकालत नहीं कर सकते, अतएव न्यायाधीशों को कर्त्तव्य पालन के समय सरकार या किसी व्यक्ति के प्रति पक्षपात की आवश्यकता ही नहीं रहती।

परन्तु न्यायपालिका कार्यपालिका से पूर्णत: स्वतंत्र भी नहीं हो सकती। यह बात भारत के सर्वोच्च न्यायालय के साथ ही लागू है। न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है और राष्ट्रपति के कार्यों में मंत्रिमंडल का परामर्श ही निर्णायक होता है। अत: न्यायाधीशों की नियुक्ति में प्रधानमंत्री बहुत प्रभावपूर्ण होता है। वह ऐसे व्यक्ति को न्यायाधीश नियुक्त करने का परामर्श राष्ट्रपति को दे सकता है जो कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका का समर्थक हो। दूसरे, संसद को न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि करने का अधिकार है और संसद इस अधिकार का उपयोग करते हुए सरकार के अनुकूल सम्मति रखने वाले व्यक्तियों को न्यायाधीश नियुक्त करा सकती है।

9. लोक अदालत से आप क्या समझते हैं? भारतीय न्याय व्यवस्था में इसकी भूमिका एवं महत्व की चर्चा कीजिए।

उ०– **लोक अदालत–** इसके लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या—13 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

लोक अदालत की भूमिका एवं महत्व–

(i) इनमें मुकदमों का आपसी समझौतों से निपटारा किया जाता है और समझौता कोर्ट फाइल में दर्ज कर लिया जाता है।

(ii) ये जनता की अदालते हैं। इन्हें अभी कानूनी मान्यता प्राप्त नहीं है।

(iii) इनमें मुवक्किल वकील नहीं कर सकते। देश के 15 लाख वकीलों को इनसे दूर रखा गया है।

(iv) इनमें वैवाहिक, पारिवारिक व सामाजिक झगड़े, किराया, बेदखली, वाहनों के चालान, बीमा, बिजली, पानी, टेलीफोन, बैंक, श्रम आदि से संबंधित मुकदमों पर दोनों पक्षों को समझाकर समझौता करा दिया जाता है।

(v) इन अदालतों में रियायर्ड जज, राजपत्रित अधिकारी तथा समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति परामर्शदाता के रूप में बैठते हैं।

(vi) ये अदालतों किसी को रिहा नहीं कर सकती, केवल सुलह करा सकती हैं, जुर्माना कर सकती हैं या चेतावनी देकर छोड़ सकती है।

परिणाम– लोक अदालतें देश में बहुत लोकप्रिय हो रही हैं। जून, 2004 तक देश में 2 लाख अदालतें लग चुकी हैं, जिनमें 16 लाख मुकदमों का निपटारा किया गया। विगत वर्षों में इन्होंने छोटी अदालतों में विचाराधीन लगभग 5 लाख से अधिक मुकदमों का निपटारा किया है जिनमें 2 लाख 80 हजार मुकदमें राजस्थान में निपटाए गए हैं।

10. जनपद की न्याय-प्रणाली का वर्णन कीजिए और जिलास्तर पर कार्यरत तीनों प्रकार के न्यायालयों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

उ०– जनपदीय न्याय-प्रणाली के अन्तर्गत जनपद के दीवानी, फौजदारी तथा राजस्व संबंधी सभी न्यायालय और न्यायाधीश आते हैं। इन पर राज्य के उच्च न्यायालय का प्रशासनिक नियंत्रण होता है। जिलास्तर पर कार्यरत तीनों प्रकार के न्यायालयों का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है—

(i) जिले में दीवानी न्यायालय– जिले का दीवानी न्यायालय चल या अचल सम्पत्ति, धनराशि आदि से संबंधित मुकदमों की सुनवाई करता है और उन पर निर्णय देता है। जिले के दीवानी न्यायालय की ऊपर से नीचे तक कई श्रेणियाँ हैं, जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

(क) जिला जज या जिला न्यायाधीश– उच्च न्यायालय के अधीन जिला न्यायाधीश का न्यायालय जिले में दीवानी का सबसे बड़ा न्यायालय होता है। जिला न्यायाधीश प्रारम्भिक तथा अपीलीय, दोनों प्रकार के दीवानी मुकदमों की सुनवाई कर सकता है। 2,000 रुपए से 5 लाख रुपए तक के मुकदमें सीधे इस न्यायालय में दायर किए जाते हैं और इतनी ही राशि तक के मुकदमों की यह अपीलें सुनता है। बड़े जिलों में काम अधिक होने पर अतिरिक्त जिला न्यायाधीश की भी नियुक्ति की जा सकती है।

(ख) सिविल जज– जिला जज के न्यायालय के नीचे सिविल जज का न्यायालय होता है। इसके अधिकार जिला जज के समान होते हैं, किन्तु इसे अपील सुनने का अधिकार नहीं होता। इसके निर्णय के विरुद्ध जिला जज की अदालत में अपील की जा सकती है।

(ग) मुन्सिफ न्यायालय– सिविल जज के नीचे मुन्सिफ का न्यायालय होता है। यह न्यायालय 2,000 रुपए से लेकर 10,000 रुपए तक के दीवानी मुकदमों की सुनवाई करता है। यह अपीलें नहीं सुन सकता।

(घ) खफीफा न्यायालय– मुन्सिफ न्यायालय के नीचे खफीफा न्यायालय होता है। यह न्यायालय 5,000 रुपए तक के मुकदमें सुनता है। इसके निर्णय के विरुद्ध अपील नहीं की जा सकती।

(ङ) न्याय पंचायत– ग्रामीण क्षेत्र में सबसे प्राथमिक स्तर पर न्याय पंचायतें होती हैं। इन्हें 500 रुपए तक के मुकदमें सुनने का अधिकार होता है। इसके निर्णय के विरुद्ध अपील नहीं की जा सकती। इस अदालत की एक विशेषता यह है कि कोई भी वकील इसमें मुकदमें की पैरवी कर सकता है। ऐसा इसलिए किया गया है ताकि भोली-भाली ग्रामीण जनता को निष्पक्ष और सस्ता न्याय मिल सके।

(ii) जिले में फौजदारी न्यायालय– फौजदारी के अन्तर्गत हत्या, मारपीट, लड़ाई व जालसाजी आदि के मुकदमें आते हैं। जिले में फौजदारी न्यायालय की क्रमिक शृंखला इस प्रकार है—

(क) सेशन जज– सेशन जज का न्यायालय जिले में फौजदारी का सबसे बड़ा न्यायालय होता है। अधिकांशत: एक ही व्यक्ति जिला और सेशन जज के रूप में कार्य करता है। जब वह दीवानी के मुकदमें की सुनवाई करता है तो जिला जज कहलाता है और जब फौजदारी के मुकदमें की सुनवाई करता है तो सेशन जज कहलाता है।

सेशन जज को प्रारम्भिक और अपीलीय, दोनों तरह के मुकदमें सुनने का अधिकार है। सेशन जज उच्च न्यायालय के समान ही निर्णय करते हैं, किंतु मृत्यु-दण्ड का निर्णय करने पर उन्हें उच्च न्यायालय से उसकी अनुमति लेनी होती है। बड़े जिले में सेशन जज की सहायता के लिए अतिरिक्त सेशन जज नियुक्ति किए जाते हैं।

(ख) तीन श्रेणियों का मजिस्ट्रेट– सेशन जज के नीचे तीन श्रेणियों के मजिस्ट्रेट या दण्डाधिकारी के न्यायालय होते हैं—

(अ) प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट को तीन वर्ष की कैद तथा 5 हजार रुपए तक जुर्माना करने का अधिकार होता है। कलेक्टर तथा डिप्टी कलेक्टर प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट कहलाते हैं।

(ब) द्वितीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट 1 वर्ष की कैद तथा दो हजार रुपए तक के जुर्माने की सजा दे सकता है। तहसीलदार द्वितीय श्रेणी का मजिस्ट्रेट होता है।

(स) तृतीय श्रेणी का मजिस्ट्रेट एक माह की कैद तथा 500 रुपए तक के जुर्माने की सजा दे सकता है। नायब तहसीलदार फौजदारी के मामलों में तृतीय श्रेणी का मजिस्ट्रेट होता है।

द्वितीय व तृतीय श्रेणी के मजिस्ट्रेटों के निर्णयों के विरुद्ध अपीलें प्रथम श्रेणी के न्यायालय में की जाती है और प्रथम श्रेणी के निर्णयों के विरुद्ध अपील सेशन जज के न्यायालय में की जाती है।

(ग) अवैतनिक मजिस्ट्रेट– जिले में कुछ अवैतनिक मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति भी की जाती है जो फौजदारी के मुकदमें सुनते हैं। उत्तर प्रदेश में अब अवैतनिक मजिस्ट्रेट नियुक्त नहीं किए जाते हैं।

(घ) न्याय पंचायत– ग्रामीण क्षेत्रों में न्याय पंचायतें फौजदारी के मुकदमें सुनाती हैं। यह कैद की सजा तो नहीं दे सकती, किन्तु 250 रुपए तक का जुर्माना कर सकती है। इनके निर्णयों के विरुद्ध अपील नहीं की जा सकती।

(iii) राजस्व या माल न्यायालय– राजस्व संबंधी मामलों की सुनवाई के लिए उच्च न्यायालय के नीचे राजस्व परिषद् होती है। इसके नीचे क्रमश: कमिश्नर, कलेक्टर, डिप्टी कलेक्टर, तहसीलदार तथा नायब तहसीलदार के माल न्यायालय होते हैं। ये सब न्यायालय लगान, माल गुजारी, सिंचाई तथा बन्दोबस्त के मुकदमों की सुनवाई करते हैं तथा अपने-अपने क्षेत्र में शांति व व्यवस्था भी बनाए रखते हैं।

17

भारत में सार्वजनिक सेवाएँ– लोक सेवा आयोग– उसके महत्व तथा कार्य

(Public Services in India : Public Service Commission : Its Importance and Functions)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या—230 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या—230-231 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. किन्हीं दो अखिल भारतीय सेवाओं के नाम लिखिए।

उ०– दो अखिल भारतीय सेवाओं के नाम निम्नलिखित हैं—

(i) भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS) (ii) भारतीय पुलिस सेवा (IPS)

2. किन्हीं दो अखिल भारतीय सेवाओं के नाम बताइए। इनकी नियुक्ति में संघ लोक सेवा आयोग की क्या भूमिका होती है?

उ०– दो अखिल भारतीय सेवाओं के नाम निम्नलिखित हैं—

(i) भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS) (ii) भारतीय विदेश सेवा (IFS)

उपर्युक्त अखिल भारतीय सेवाओं में योग्य परिश्रमी एवं ईमानदार व्यक्तियों के चयन हेतु संघ लोक सेवा आयोग प्रतिवर्ष अनेक प्रतियोगिताएँ अथवा प्रतियोगी परिक्षाएँ आयोजित करता है।

3. लोक सेवाओं के प्रमुख कार्यों का उल्लेख कीजिए।

उ०– लोक सेवाओं के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) इनका कार्य कानून की व्यवस्था करना है। ये निष्ठा, निष्पक्षता एवं राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ रहकर कानून को कार्यान्वित करते हैं।

(ii) सार्वजनिक सेवा का उच्च पदाधिकारी नीति निर्माण, विधान तथा कर लगाने के विषयों में अपने राजनीतिक प्रमुखों पर अत्यधिक प्रभाव डालते हैं।

(iii) सार्वजनिक सेवा में महत्वपूर्ण परामर्श देते हैं और तथ्य एवं आँकड़े पेश करते हैं। इन तथ्यों और आँकड़ों के अभाव में आधुनिक काल में कानून निर्माण संबंधी कार्य अव्यवहारिक तथा कठिन है।

(iv) संसद के समक्ष प्रस्तुत किए जाने वाले प्रत्येक विधेयक इन सार्वजनिक सेवाओं के कुछ प्रशासकीय अधिकारियों के अथक परिश्रम एवं शक्ति से ही निर्माण होता है।

(v) वित्तीय क्षेत्र में भी इन कर्मचारियों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। ये कर्मचारी केवल बजट को तैयार ही नहीं करते, अपितु एक बड़ी मात्रा में सरकार की कराधान एवं व्यय नीति को भी प्रभावित करते हैं।

(vi) सार्वजनिक सेवाओं के कर्मचारी प्रशासन के विभिन्न विभागों का संचालन करते हैं और मंत्रियों के नीति संबंधी निर्णय पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। इसका कारण यह है कि विभागीय मंत्रियों को उस विभाग से संबंधित ज्ञान नहीं होता और उनके पास समय का भी अभाव होता है। मंत्री उन कर्मचारियों की सहायता के बिना उस विभाग से संबंधित विषयों के संबंध में कोई नीति निर्धारण करने में असमर्थ होते हैं।

(vii) प्रशासक विधानमंडल के कानूनों की व्याख्या एवं विवेचना भी करते हैं तथा कई बार उनमें संसद के कानूनों के अन्तर्गत नियम एवं अधिनियम का निमार्ण करने को भी कहा जाता है। इसको हस्तान्तरित विधान की संज्ञा दी जाती है।

4. संघ लोक सेवा आयोग के मुख्य कार्य बताइए।

उ०– संघ लोक सेवा आयोग के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) प्रतियोगी परिक्षाओं द्वारा सरकारी पदों के लिए व्यक्तियों का चयन करना

(ii) परामर्श देना (iii) क्षतिपूर्ति की सिफारिश करना

(iv) वार्षिक विवरण तैयार करना (v) लोक सेवाओं का संरक्षण करना

(vi) राज्यों की सहायता करना (vii) छात्रवृत्तियों के लिए उम्मीदवारों का चयन करना।

5. संघ लोक सेवा आयोग के संगठन का वर्णन कीजिए।

उ०– संविधान ने संपूर्ण भारत के लिए एक संघ लोक सेवा आयोग की व्यवस्था की है। इसके संगठन के संबंध में निम्नलिखित तथ्य उल्लेखनीय हैं—

सदस्यों की संख्या तथा नियुक्ति– संविधान के **अनुच्छेद 315** से **अनुच्छेद 323** तक संघ लोक सेवा आयोग तथा प्रान्तों के लोक सेवा आयोगों के संगठन तथा कार्यों आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। मूल संविधान के अनुसार संघ लोक सेवा आयोग में एक अध्यक्ष तथा 7 सदस्यों की व्यवस्था की गई थीं। सदस्यों की संख्या राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करती है तथा अध्यक्ष व सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति ही करता है। वर्तमान समय में संघ लोक सेवा आयोग में एक अध्यक्ष और 10 अन्य सदस्य हैं।

योग्यताएँ– साधारण योग्यताओं के अतिरिक्त संघ लोक सेवा आयोग का सदस्य बनने के लिए—

(i) आयु 65 वर्ष से कम होनी चाहिए।

(ii) आयोग के कम-से-कम आधे सदस्य भारत के या राज्य सरकार के अधीन 10 वर्ष तक उच्च सरकारी पद पर कार्यरत रह चुके हों।

सदस्यों की कार्यावधि– संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति 6 वर्ष के लिए होती है। किन्तु यदि कोई सदस्य इससे पूर्व ही 65 वर्ष का हो जाता है तो उसे अपना पद त्यागना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय के परामर्श पर राष्ट्रपति इन्हें पदच्युत भी कर सकता है।

संघ लोक सेवा आयोग के सदस्य भयमुक्त होकर निष्पक्षता के साथ कार्य कर सके, इसीलिए इन्हें सब प्रकार से पूर्णत: स्वतंत्र रखा जाता है।

6. संघ लोक सेवा आयोग के कोई दो कार्य लिखिए।

उ०– उत्तर के लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या— 4 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

7. राज्य लोक सेवा आयोग के दो प्रमुख कार्य बताइए।

उ०– राज्य लोक सेवा आयोग के दो प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा योग्य व्यक्तियों का चयन करना, (ii) वार्षिक रिपोर्ट तैयार करना।

8. राज्य लोक सेवा आयोग के गठन की विवेचना कीजिए।

उ०– राज्य लोक सेवा आयोग का गठन– राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों की संख्या को निश्चित करने का अधिकार राज्य के राज्यपाल में निहित है। राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं अन्य सदस्यों को नियुक्त राज्यपाल ही करता है। किन्तु इस आयोग के आधे सदस्य ऐसे होते हैं जो कम-से-कम 10 वर्ष तक सरकारी पद पर कार्य कर चुके हों। वर्तमान समय में उत्तर प्रदेश के लोक सेवा आयोग में एक अध्यक्ष और पाँच अन्य सदस्य हैं। उत्तर प्रदेश का राज्य लोक सेवा आयोग इलाहाबाद में स्थित हैं।

(i) कार्यकाल– संघ लोक सेवा आयोग की भाँति राज्य में भी लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति 6 वर्ष के लिए होती है। किन्तु यदि 6 वर्ष से पूर्व कोई सदस्य 62 वर्ष की आयु पूरी कर लेता है तो उस स्थिति में उसे 6 वर्ष से पूर्व ही अपना पद छोड़ देना पड़ता है। सेवानिवृत्ति आयु के संबध में संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों एवं उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की स्थिति भी समान है। इसी प्रकार प्रान्तीय लोक सेवा आयोग के सदस्यों और उच्च न्यायालय के सदस्यों की स्थिति समान है। इसके अतिरिक्त दुराचाराभियोग के आधार पर राज्यपाल किसी सदस्य को पदच्युत करने का अधिकार रखता है, किन्तु उसका अपराध उच्चतम न्यायालय द्वारा सही सिद्ध होने पर ही ऐसा किया जा सकता है। यदि कोई पदाधिकारी इस पद पर रहते हुए किसी अन्य सेवा में संलग्न हो जाए, दिवालिया घोषित हो जाए या मानसिक दोषयुक्त हो जाए तो इन सभी स्थितियों में ऐसे सदस्य को पदच्युत किया जा सकता है।

(ii) सदस्यों का वेतन– सदस्यों का वेतन प्रत्येक राज्य में राज्यपाल द्वारा निर्धारित किया जाता है।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में लोक सेवा के प्रकारों का उल्लेख करते हुए उनके महत्व पर प्रकाश डालिए।

उ०– भारत में लोक (सार्वजनिक) सेवाओं का वर्गीकरण दो आधारों पर किया जाता है—

(i) अखिल भारतीय सेवाएँ और केंद्रीय सेवाएँ– स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय नागरिक सेवा का नाम बदलकर भारतीय प्रशासनिक सेवा रख दिया गया। अखिल भारतीय सेवाओं की भर्ती राष्ट्रपति द्वारा संघ लोक सेवा आयोग की संस्तुति पर की जाती है। अखिल भारतीय सेवाओं में प्रशासनिक सेवा तथा भारतीय पुलिस सेवा के अतिरिक्त कुछ केंद्रीय सेवाओं जैसे भारतीय विदेश सेवा, भारतीय लेखा सेवा, रक्षा लेखा सेवा, भारतीय सीमा-शुल्क व उत्पादन कर सेवा, भारतीय राजस्व सेवा, भारतीय डाक एवं तार सेवा, भारतीय रेल सेवा आदि को भी सम्मिलित किया जाता है। इन सेवाओं के लिए उम्मीदवारों का चयन संघ लोक सेवा आयोग प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से सम्पन्न करता है। इन परीक्षाओं के लिए उम्मीदवार का कम-से-कम स्नातक होना आवश्यक है। संघ लोक सेवा आयोग द्वारा उम्मीदवारों के लिए आयु-सीमा का निर्धारण भी किया गया है। निष्पक्ष चयन की दृष्टि लिखित परीक्षा के लिए निर्धारित अंक व्यक्तित्व परीक्षा/साक्षात्कार के लिए निर्धारित अंकों की अपेक्षा बहुत अधिक होते हैं। उल्लेखनीय है कि लिखित परीक्षा और व्यक्तित्व परीक्षा दोनों में अर्जित अंकों के योग के आधार पर ही अन्तिम चयन होता है।

(ii) राज्य सेवाएँ– कुछ सेवाओं के लिए उम्मीदवारों का चयन राज्य लोक सेवा आयोगों द्वारा किया जाता है, उनको राज्य सेवा का स्तर प्रदान किया जाता है। राज्य सेवा दो प्रकार की होती हैं— उच्च राज्य सेवाएँ तथा अधीनस्थ राज्य सेवाएँ।

भारत की प्रमुख सार्वजनिक सेवाएँ

अखिल भारतीय सेवाएँ

(इनकी भर्ती केंद्र द्वारा की जाती है, लेकिन कार्य-क्षेत्र राज्य होते हैं। राज्य के आवंटन को कैडर कहा जाता है।)

(i) भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS)
(ii) भारतीय पुलिस सेवा (IPS)
(iii) भारतीय वन सेवा (IFS)
(iv) भारतीय विदेश सेवा (IFS)

केंद्रीय सेवाएँ

(इनकी भर्ती केंद्र द्वारा की जाती है, और नियुक्ति का क्षेत्र भी केंद्र ही होता है, इसमें कैडर नहीं होता और पूरे देश में इनके स्थानान्तरण होते रहते हैं।)

(i) भारतीय रेल कार्मिक सेवा (IRPS)
(ii) भारतीय रेल अभियंत्रण सेवा (IRES)
(iii) भारतीय डाक व तार सेवा (IP & TS)
(iv) भारतीय राजस्व सेवा (IRS)
(v) केंद्रीय उत्पाद व सीमा शुल्क सेवा (ICCES)
(vi) भारतीय रक्षा लेखा सेवा (IDAS)

राज्य सेवाएँ

(i) द्वितीय श्रेणी की सेवा
(ii) तृतीय श्रेणी की सेवा
(iii) चतुर्थ श्रेणी की सेवा

केंद्रीय सेवाओं की भर्ती संघ लोक सेवा आयोग, कर्मचारी चयन बोर्ड तथा रेलवें भर्ती बोर्डों द्वारा की जाती है। राज्य की सेवाओं में द्वितीय श्रेणी की सेवा के लिए राज्य लोक सेवा आयोग उम्मीदवार का चयन करता है। तृतीय श्रेणी के लिए अधीनस्थ सेवा चयन बोर्ड बनाए गए हैं। चतुर्थ श्रेणी की सेवा हेतु स्थानीय स्तर पर विभाग के प्रमुख अधिकारी द्वारा चयन तथा नियुक्ति की जाती है।

सार्वजनिक सेवाओं का महत्व– किसी सरकार की सफलता बहुत कुछ नागरिक सेवाओं की कार्यकुशलता एवं ईमानदारी पर आश्रित होती है। नागरिक सेवाएँ प्रशासन की आधारशिला है। सार्वजनिक सेवाओं के महत्व का उल्लेख करते हुए **श्री एच. वी. कामथ** लिखते है, ''एक देश कार्यकुशल नागरिक सेवाओं के अभाव में कदाचित उन्नति नहीं कर सकता, चाहे वहाँ के मंत्रिगण कितने ही देश-प्रेमी और उच्च आदर्शों पर चलने वाले क्यों न हों। अनुभव यह बतलाता है कि जहाँ कहीं भी लोकतान्त्रिक संस्थाएँ विद्यमान हैं, वहाँ पर नागरिक सेवाओं को राजनीतिक अथवा व्यक्तिगत शासन से सुरक्षित रखना परम आवश्यक है।'' किसी राज्य के प्रशासन का नैतिक स्तर, नागरिक सेवाओं की कार्यकुशलता, ईमानदारी एवं सच्चरित्रता पर आधारित है। इन नागरिकों की सेवाओं में जो व्यक्ति नियुक्त किए जाते हैं, वे योग्यतम व्यक्ति होते हैं, तथा इन्हें स्थायी रूप से कार्य करते-करते अपने विभाग के कार्यों का पूर्ण अनुभव प्राप्त हो जाता है। मंत्रियों के पद संसदीय शासन-प्रणाली में स्थायी नहीं होते और उन्हें प्रशासनिक कार्यों का कोई विशेष अनुभव नहीं होता। मंत्री इन नागरिक सेवाओं के कर्मचारियों की सहायता से ही अपने विभाग का कार्य चलाते हैं। वास्तव में संपूर्ण देश के शासन का कार्य मंत्री-परिषद् का होता है और इन नीतियों को कार्यान्वित करना नागरिक सेवाओं के कर्मचारियों का कार्य है। इन सेवाओं के कर्मचारियों का यह दायित्व होता है कि वे अपने विभागों के मंत्रियों को परामर्श दें। नीति के औचित्य का पूर्ण उत्तरदायित्व मंत्रियों का है। मंत्रियों का काम केवल नीति निर्धारित करना ही नहीं, अपितु यह देखना भी है कि उनके द्वारा निश्चित की गई नीतियों को कहाँ तक कार्यान्वित किया जा रहा है। इसी कारण मंत्रियों को विभाग का अध्यक्ष बनाया जाता है और उन्हें नागरिक सेवाओं के सदस्यों के विरुद्ध अनुशात्मक कार्यवाही करने का भी अधिकार होता है।

इसी प्रकार शासन को सुचारु रूप से संचालित करने का उद्देश्य सरकारी सेवाओं में कार्य करने वालों को दो भागों में विभक्त कर दिया जाता है— (i) राजनीतिक कार्यकारिणी, तथा (ii) नागरिक सेवाएँ। मंत्रिमंडल को राजनीतिक कार्यकारिणी कहा जाता है। इनका कार्यकाल अनिश्चित होने के कारण स्थायी नागरिक सेवा-प्रणाली को अपनाया जाता है। इन सेवाओं के सदस्यों की नियुक्ति संघीय लोक सेवा आयोग द्वारा की जाती है।

2. भारत में संघ लोक सेवा आयोग के संगठन एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।

उ०– **संघ लोक सेवा आयोग का संगठन–** इसके लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या—5 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

संघ लोक सेवा आयोग के कार्य– संघ लोक सेवा आयोग अनेक महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करता है। यह देश के लिए योग्य परिश्रमी एवं ईमानदार व्यक्तियों का चयन कर सरकारी विभागों में कार्य करने हेतु उपलब्ध कराता है। इसके प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) **प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा सरकारी पदों के लिए योग्य व्यक्तियों का चयन करना–** संघ लोक सेवा आयोग का प्रमुख कार्य केंद्रीय सेवाओं के नागरिक अर्थात् असैनिक पदों के लिए योग्य व्यक्तियों का चयन करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु यह अनेक प्रतियोगिताएँ अथवा प्रतियोगी परीक्षाएँ आयोजित करता है। संघ लोक सेवा आयोग प्रतिवर्ष सिविल सेवा परीक्षा का आयोजन भी करता है, जिसके अन्तर्गत भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS), भारतीय विदेश सेवा (IFS), भारतीय पुलिस सेवा (IPS), भारतीय राजस्व सेवा (IRS), आदि महत्वपूर्ण सेवाओं के लिए भर्ती की जाती है।

(ii) **परामर्श देना–** संघ लोक सेवा आयोग शासन को कर्मचारियों की नियुक्ति की विधि अनुशासन, पदोन्नति, स्थानान्तरण एवं अन्य विविध विषयों में परामर्श देता है। यह राष्ट्रपति द्वारा भेजे गए अन्य किसी मामले के संबंध में भी परामर्श देता है।

(iii) **क्षतिपूर्ति की सिफारिश करना–** संघ लोक सेवा आयोग सरकारी कर्मचारियों की किसी प्रकार की शारीरिक या मानसिक क्षति हो जाने पर संघ सरकार को उनकी क्षतिपूर्ति का परामर्श देता है और उससे सिफारिश भी करता है।

(iv) **वार्षिक विवरण तैयार करना–** संघ लोक सेवा आयोग को अपने कार्यों से संबंधित एक वार्षिक रिपोर्ट (प्रतिवेदन) राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करनी पड़ती है। यदि सरकार इस आयोग द्वारा की गई रिपोर्ट की कोई संस्तुति नहीं मानती है तो राष्ट्रपति इसका कारण रिपोर्ट में लिख देता है और इसके उपरान्त संसद इस पर विचार करती है। इस रिपोर्ट का यह लाभ है कि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किन विभागों में इस आयोग ने कितनी नियुक्तियाँ की हैं। आयोग अपने प्रतिवेदन में आयोग को सुदृढ़ करने संबंधी सुझाव भी दे सकता है।

(v) **लोक सेवाओं का संरक्षण करना–** यह उन लोक सेवकों की अपील भी सुनता है जो इसके समक्ष अपने हितों तथा अधिकारों की सुरक्षा तथा शिकायत को दूर करने के लिए अपील करते हैं। यह इनकी शिकायतों को दूर करने के लिए सरकार को उचित सलाह देता है। सरकार प्राय: इसकी सलाह को मान भी लेती है। इसलिए इसको लोक-सेवकों का संरक्षक कहा जाता है।

(vi) **राज्यों की सहायता–** यदि संघ लोक सेवा आयोग से कोई दो या दो से अधिक राज्य मिली-जुली भर्ती की योजनाओं को बनाने तथा उनको लागू करने की प्रार्थना करें जिनके लिए विशेष योग्य उम्मीदवारों की आवश्यकता हो, तो संघ लोक सेवा आयोग उन विषयों में राज्य की सहायता करेगा।

(vii) **छात्रवृत्तियों के लिए उम्मीदवारों का चयन–** भारत सरकार योग्यता के आधार पर कुछ छात्रवृत्तियाँ प्रदान करती है तथा योग्य उम्मीदवारों का चयन संघ लोक सेवा आयोग द्वारा किया जाता है।

(viii) **संसद द्वारा प्रदत्त अधिकार–** संसद को यह शक्ति भी प्राप्त है कि वह संघ क्षेत्र की नगरपालिकाओं, नगर निगम तथा सार्वजनिक संस्थाओं के उच्च कर्मचारियों की नियुक्ति के विषय में संघ लोक सेवा आयोग को सिफारिश का अधिकार प्रदान कर दें।

3. संघ लोक सेवा आयोग के कार्यों पर प्रकाश डालिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—2 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

4. संघ लोक सेवा आयोग के सदस्य निष्पक्षतापूर्वक कार्य कर सकें, इसके लिए संविधान में क्या प्रावधान किए गए हैं?

उ०– लोक सेवा आयोग का देश के प्रशासन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी उपयोगिता के कारण ही भारतीय संविधान द्वारा संघ में तथा राज्यों में लोक सेवा आयोगों की व्यवस्था की गई हैं। जनतन्त्र, समाजवाद तथा सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक विकास के प्राप्ति में लोक सेवा आयोग की बड़ी उपयोगिता है। सबको योग्यता के आधार पर सामान अवसर प्रदान कराने एवं योग्यता के आधार पर निष्पक्षता के साथ उच्च सरकारी पद प्रदान करने में इन आयोगों का बड़ा महत्व है। लोक सेवा आयोग प्रतियोगिता परीक्षाओं का आयोजन करके योग्यतम व्यक्तियों का चयन बिना किसी पक्षपात के करता है। यह आयोग सरकारी कर्मचारियों के हितों की भी रक्षा करते हैं तथा अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए यदि किसी राज्य के कर्मचारी को किसी प्रकार की क्षति हो जाती है, तो यह आयोग सरकार से उसकी क्षति-पूर्ति की सिफारिश करते हैं। इन्हीं आयोगों के कारण सब व्यक्तियों की उन्नति के समान अवसर प्राप्त होते हैं। इसी कारण जनतन्त्र को सफल बनाने के लिए प्रशासन की सेवा के आधार पर गठित करना परम आवश्यक है। किसी राज्य के प्रशासन का नैतिक स्तर नागरिक सेवाओं कार्यकुशलता, ईमानदारी और सच्चरित्रता पर आधारित है। इन लोकसेवाओं के सदस्य की नियुक्ति यही लोक सेवा आयोग करता है। अत: इस आयोग के अभाव में किसी प्रकार का प्रशासन ठीक प्रकार से संचालित नहीं हो सकता। इसके लिए यह आवश्यक है कि लोक सेवा आयोग निष्पक्षतापूर्वक एवं ईमानदारी के साथ सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति करे। लोक सेवा आयोग सरकार की निरंकुशता पर भी अंकुश रखता है। इन आयोगों के कार्यों के महत्व में वृद्धि करने के उद्देश्य से संविधान में यह उपबन्ध किया गया है कि लोक सेवा आयोग अपने

वार्षिक कार्यों का विवरण राष्ट्रपति या राज्य आयोगों की स्थिति में राज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत करेंगे और राष्ट्रपति एवं राज्यपाल उस विवरण को संसद एवं विधान-मंडलों के विचारार्थ प्रस्तुत करायेंगे। यह व्यवस्था विभागीय अध्यक्षों अथवा मंत्रिपरिषद् की स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिए ही है। इस प्रकार भारत में लोकसेवा आयोगों का बहुत महत्व एवं उपयोगिता है। गत वर्षों के अनुभव से यह ज्ञात है कि सरकार ने लोक सेवा आयोगों की लगभग सभी सिफारिशों को स्वीकार किया है। ये आयोग निष्पक्षतापूर्वक कार्य कर रहे हैं।

5. अपने राज्य के लोक सेवा आयोग संगठन एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।

उ०– **उत्तर प्रदेश के लोक सेवा आयोग का संगठन–** उत्तर प्रदेश लोक सेवा आयोग के सदस्यों की संख्या को निश्चित करने का अधिकार राज्य के राज्यपाल में निहित है। राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं अन्य सदस्यों को नियुक्त राज्यपाल ही करता है। किन्तु इस आयोग के आधे सदस्य ऐसे होते हैं जो कम-से-कम 10 वर्ष तक सरकारी पद पर कार्य कर चुके हों। वर्तमान समय में उत्तर प्रदेश के लोक सेवा आयोग में एक अध्यक्ष और पाँच अन्य सदस्य हैं। उत्तर प्रदेश लोक सेवा आयोग का कार्यालय इलाहाबाद में स्थित हैं।

(i) **कार्यकाल–** संघ लोक सेवा आयोग की भाँति राज्य में भी लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति 6 वर्ष के लिए होती है। किन्तु यदि 6 वर्ष से पूर्व कोई सदस्य 62 वर्ष की आयु पूरी कर लेता है तो उस स्थिति में उसे 6 वर्ष से पूर्व ही अपना पद छोड़ देना पड़ता है। सेवानिवृत्ति आयु के संबधं में संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों एवं उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की स्थिति भी समान है। इसी प्रकार प्रान्तीय लोक सेवा आयोग के सदस्यों और उच्च न्यायालय के सदस्यों की स्थिति समान है। इसके अतिरिक्त दुराचाराभियोग के आधार पर राज्यपाल किसी सदस्य को पदच्युत करने का अधिकार रखता है, किन्तु उसका अपराध उच्चतम न्यायालय द्वारा सही सिद्ध होने पर ही ऐसा किया जा सकता है। यदि कोई पदाधिकारी इस पद पर रहते हुए किसी अन्य सेवा में संलग्न हो जाए, दिवालिया घोषित हो जाए या मानसिक दोषयुक्त हो जाए तो इन सभी स्थितियों में ऐसे सदस्य को पदच्युत किया जा सकता है।

(ii) **सदस्यों का वेतन–** सदस्यों का वेतन प्रत्येक राज्य में राज्यपाल द्वारा निर्धारित किया जाता है।

उत्तर प्रदेश लोक सेवा आयोग के कार्य– उत्तर प्रदेश लोकसेवा आयोग के कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) **वार्षिक रिपोर्ट तैयार करना–** आयोग की वार्षिक रिपोर्ट का विशेष महत्व होता है। इस रिपोर्ट में आयोग आगामी वर्ष के अपने विस्तृत कार्यक्रम का विवरण देता है तथा उन बिन्दुओं को भी स्पष्ट करता है जिन्हें राज्य सरकार ने अस्वीकार कर दिया हो। इस रिपोर्ट को आयोग राज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत करता है। राज्यपाल इस विवरण-पत्र को राज्य के विधानमंडल के समक्ष प्रस्तुत करता है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि राज्य सरकार आयोग की संस्तुतियों को किस सीमा तक स्वीकार करने के लिए सहमत है, जिससे आयोग अपने कार्यक्रम को निश्चित रूप देने में सफल होता है।

(ii) **परामर्श देने का कार्य–** राज्य लोक सेवा आयोग सरकार के अन्तर्गत कर्मचारियों की नियुक्ति, स्थानान्तरण, पदोन्नति, अनुशासन एवं अन्य अनेक क्षेत्रों में भी सरकार को परामर्श देता हैं। राज्यपाल द्वारा भेजे गए अन्य किसी मामले के संबंध में भी लोक सेवा आयोग परामर्श देता है।

(iii) **क्षतिपूर्ति की सिफारिश करना–** यदि किसी कर्मचारी को सरकारी पद, पर कार्यरत रहते समय किसी प्रकार की शारीरिक या मानसिक क्षति हो जाती है, तो सरकार के कर्मचारी को कितनी धनराशि देनी चाहिए या अपने पद से संबंधित किसी विषय पर सरकार के विरुद्ध लड़े गए मुकदमें में, जिसे वह जीत चुका है, कितनी धनराशि मिलनी चाहिए आदि इसी प्रकार के अनेक विषयों से संबंधित बिन्दुओं पर आयोग सरकार को परामर्श देता है। अत: यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि लोक सेवा आयोग अनेक रूपों में महत्वपूर्ण संगठन है।

(iv) **प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा योग्य व्यक्तियों का चयन करना–** राज्य लोक सेवा आयोग का प्रमुख कार्य अनेक प्रतियोगी परीक्षाएँ आयोजित कर योग्य व्यक्तियों का राज्य सरकार की सेवा के लिए चयन करना होता है। कुछ पदों के लिए लिखित तथा मौखिक दोनों ही परीक्षाएँ अनिवार्य होती हैं। कुछ पद ऐसे भी होते हैं। जिनके लिए साक्षात्कार के आधार पर सीधी भर्ती की जाती है।

6. 'भारतीय सार्वजनिक सेवाओं में भ्रष्टाचार' बिंदु पर संक्षिप्त लेख लिखिए।

उ०– **भारतीय लोक (सार्वजनिक) सेवाओं में भ्रष्टाचार–** किसी भी देश की उन्नति कार्यकुशलता एवं निष्पक्ष लोक सेवाओं के अभाव में कदापि नहीं हो सकती। भारत का शासन भी इन्हीं लोक सेवाओं पर आश्रित है। इन सेवाओं में कार्य करने वाले कर्मचारियों तथा लोकसेवाओं में कुछ भ्रष्टाचार दृष्टिगोचर होता है, जिनमें सुधार की परमावश्यकता है। जब तक इनमें आवश्यक सुधार नहीं होगा, जब तक देश का प्रशासन उन्नत नहीं हो सकता। भारतीय लोक सेवाओं में निम्नलिखित दोष दृष्टिगोचर होते हैं—

(i) **सेवाओं के सभी कर्मचारियों को समान सुविधाएँ नहीं–** सरकार की ओर से मिलने वाली सुविधाएँ केवल उच्च वर्गीय कर्मचारियों को ही प्राप्त हैं, किन्तु निम्न वर्गीय कर्मचारियों; जैसे— विकास खण्ड तथा सामुदायिक विकास कर्मचारियों को इस प्रकार की सुविधाएँ प्रदान नहीं की जाती।

(ii) **सेवाओं का तानाशाही का-सा व्यवहार–** लोक सेवाओं में कार्य करने वाले कर्मचारी अपने को लोक सेवक न समझकर जनता का शासक समझते हैं। वे सर्वसाधारण के साथ तानाशाहों का-सा व्यवहार करते हैं। पद में स्थानीय होने के कारण वे अपने इस व्यवहार के करने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं करते। उनको लोकहित की कोई चिन्ता नहीं होती।

(iii) **जन-संपर्क का अभाव–** लोक सेवाओं के कर्मचारियों को राज्यों एवं केन्द्र की राजधानी में ही नियुक्त किया जाता है। वहीं पर वे अपने विभाग से संबंधित कार्य करते हैं। इस प्रकार जनता से उनका संपर्क नाममात्र का ही होता है। अत: वे सर्वसाधारण की ओर से उदासीन हो जाते हैं। अपने कार्य में दक्ष होने के कारण वे जनमत की कोई चिन्ता नहीं करते।

(iv) **लालफीताशाही–** लालफीताशाही लोक सेवाओं का सबसे गम्भीर दोष है। इसका अर्थ है कि शासन संबंधी कार्य पर निर्णय बड़ी सुस्ती से किया जाता है। ये कर्मचारियों लोकमत की अपेक्षा फाइलों की अधिक चिन्ता करते हैं।

(v) **नियुक्तियों में पक्षपात–** कुछ विभागों के अध्यक्ष अपनी पंसद के व्यक्तियों की नियुक्ति अस्थायी रूप से कर लेते हैं। जब वे लोकसेवा आयोग के समक्ष नियुक्ति के लिए जाते हैं, तो पूर्व अनुभव के आधार पर उनको प्रधानता दी जाती है। इस प्रकार नियुक्तियाँ निष्पक्ष रूप से नहीं हो पातीं।

(vi) **पदोन्नति की रीति में दोष–** बहुत से कार्यालयों में कर्मचारियों की पदोन्नति पक्षपातपूर्ण ढंग से की जाती है। इससे योग्य कर्मचारियों का उत्साह कम हो जाता है और उनमें बड़ा असन्तोष फैल जाता है।

(vii) **वेतन की दरों में महान् अंतर–** कुछ राज्य कर्मचारियों का वेतन बहुत कम है तथा कुछ का बहुत अधिक है। इससे भी छोटे कर्मचारियों में बड़ा असंतोष है।

(viii) **नैतिकता का अभाव–** लोक सेवकों का नैतिक स्तर ऊँचा हैं, वे अवसरवादी हैं तथा उनका कोई आदर्श नहीं है। वे सरकारी हानि को अपने देश की हानि न समझकर लापरवाही से काम करते हैं। बड़े अफसरों को अपने अधीन कर्मचारियों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं है। जनता के साथ भी उनका व्यवहार अच्छा नहीं है, वे जनता की शिकायतों को सहानुभूति से न देखकर घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनके सेवा-संबंधी चरित्र में सेवा के आदर्श की कमी है।

कुछ सेवाओं में भ्रष्टाचार पूर्ववत् प्रचलित है। निम्न सेवाओं में तो भ्रष्टाचार बहुत अधिक है। राजनीतिक नेताओं ने सेवाओं पर दबाव डालकर स्थिति को और भी विषम बना दिया है। निचले वर्ग के कर्मचारी वेतन की कमी के कारण भी रिश्वत लेने के आदि हो गए हैं।

18 स्थानीय स्वशासन
(Local Self Government)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 240 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 240-241 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. स्थानीय स्वशासन से आप क्या समझते हैं? इस प्रदेश में स्थानीय स्वशासन की कौन-सी संस्थाएँ कार्य कर रही हैं?

उ०– स्थानीय स्वशासन का अर्थ ऐसी शासन-व्यवस्था से है जिसमें स्थानीय संस्थाओं द्वारा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप विभिन्न समस्याओं के निराकरण का प्रयास किया जाता है। **लॉर्ड ब्राइस** ने उचित ही लिखा है— ''स्थानीय स्वशासन प्रजातन्त्र का सर्वश्रेष्ठ विद्यालय है।'' स्थानीय स्वशासन में पंचायती राज की संस्थाओं ग्राम पंचायत, क्षेत्र पंचायत, जिला पंचायत, नगर पंचायत, नगर परिषद् तथा नगर निगमों आदि को सम्मानित किया जाता है। भारत की लोकतान्त्रिक व्यवस्था केवल केन्द्र तथा राज्य सरकारों तक ही सीमित नहीं है बल्कि विस्तार स्थानीय स्तर पर भी किया गया है।

2. स्थानीय स्वशासन का महत्व बताइए।

उ०– स्थानीय स्वशासन लोकतंत्र का आधार है। यह लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया पर आधारित है। यदि प्रशासन को जागरूक तथा अधिक कार्यकुशल बनाना है तो उसका प्रबन्धन एवं संचालन स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप स्थानीय संस्थाओं द्वारा ही संचालित होना चाहिए। स्थानीय स्वशासन के महत्व निम्नलिखित हैं—

(i) लोकतांत्रिक परम्पराओं को लागू करने में सहायक

(ii) भावी नेतृत्व का निर्माण

(iii) जनता और सरकार के पारस्परिक संबंध

(iv) स्थानीय समाज और राजनीतिक व्यवस्था के बीच की कड़ी
(v) लोकतांत्रिक परम्पराओं के अनुरूप
(vi) नागरिकों को निरन्तर जागरूक बनाए रखने में सहायक
(vii) प्रशासनिक अधिकारियों की जागरूकता
(viii) नोकरशाही की बुराईयों की समाप्ति।

3. ग्राम पंचायत के कोई दो अनिवार्य कार्य लिखिए।

उ०– ग्राम पंचायत के दो अनिवार्य कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) व्यवसाय संबंधी कार्य– इन कार्यों के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य आते हैं—
(क) पुस्कालयों एवं वाचनालयों की व्यवस्था करना,
(ख) पार्क बनवाना,
(ग) अस्पताल खुलवाना,
(घ) गृह-उद्योगों को उन्नत करने के प्रयत्न करना,
(ङ) सहकारी समितियों का गठन करना,
(च) स्वयंसेवक का दल का संगठन करना,
(छ) पशुओं की नस्ल सुधारना,
(ज) अकाल या अन्य आपदा के समय गाँववालों की सहायता करना,
(झ) सड़कों के किनारे छायादार वृक्ष लगवाना आदि,
(ण) सहकारी ऋण प्राप्त करने में किसानों की सहायता करना।

(ii) न्याय संबंधी कार्य– इन कार्यों के अन्तर्गत ग्राम पंचायत के कुछ सदस्य न्याय पंचायत के रूप में कार्य करते हुए अपने गाँव के छोटे-छोटे झगड़ों का निपटारा भी करते हैं तथा फौजदारी के मुकदमों में इसे ₹ 250 तक का जुर्माना करने का अधिकार प्राप्त है। दीवानी के मामलों में यह ₹ 500 के मूल्य तक ही सम्पत्ति के मामलों की सुनवाई कर सकते हैं। तथा देश के चार राज्यों राजस्थान, हरियाणा, मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र में ग्राम न्यायालयों का गठन हुआ है। यह पंचायती राज व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में जिला स्तरीय प्रशासन में एक क्रान्तिकारी निर्णय होगा।

4. ग्राम पंचायत के दो महत्वपूर्ण कार्य लिखिए।

उ०– इसके लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या—3 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

5 ग्राम पंचायत का महत्व बताइए।

उ०– ग्राम पंचायत का महत्व– आज के प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था के युग में पंचायतों का बहुत महत्व है। ये संस्थाएँ जनता को जनतंत्र की शिक्षा प्रदान करती है। नागरिक गुणों के विकास के लिए ग्राम पंचायतें प्रारम्भिक पाठशालाओं का काम करती है। और जनता में अपने अधिकारों व स्वतंत्रता की भावना को जाग्रत करने में सहायक होती है। ये जनता में सहज बुद्धि, न्यायशीलता, निर्णय-शक्ति और सामाजिकता का भी विकास करती हैं। ग्राम पंचायत स्थानीय स्तर की समस्याओं का समाधान समुचित रूप से कर लेती हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई तथा मार्गों का निर्माण कराकर ये संस्थाएँ जनहित के कार्यों में संलग्न रहती है। गाँवों के आर्थिक विकास में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका है। वस्तुत: ग्राम पंचायतें ग्राम सभाओं की कार्यकारिणी के रूप में कार्य करती है।

6 जिला पंचायत का महत्व लिखिए।

उ०– जिला पंचायत द्वारा जिले के संपूर्ण ग्रामीण क्षेत्र का प्रबंध किया जाता है। जिला पंचायत के कार्य बहुत ही व्यापक तथा विस्तृत हैं। जिला पंचायत मानव जीवन की अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति स्थानीय स्तर पर करती है। जिले में जल एवं विद्युत की सुविधा, बस चलवाना, समाज-सुधार का कार्य करना, नई सड़कें बनाना, शिक्षा के विकास के कार्य करना तथा ग्रामवासियों के लिए मनोरंजन के साधन जुटाना और संकट के समय में गाँवों को अनुदान देना आदि के लिए जिला पंचायत का विशेष महत्व है।

7. नगर पंचायत के चार प्रमुख कार्यों की विवेचना कीजिए।

उ०– नगर पंचायत के चार प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—
(i) पर्यावरण की रक्षा
(ii) शुद्ध एवं स्वच्छ पेयजल की आपूर्ति
(iii) सार्वजनिक सड़कों, स्थानों व नालियों की सफाई तथा रोशनी का प्रबन्ध
(iv) प्रसूति केंद्रों एवं शिशु गृहों की व्यवस्था।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में स्थानीय स्वशासन का अर्थ, आवश्यकता तथा उसके महत्व का वर्णन कीजिए।

उ०– स्थानीय स्वशासन का अर्थ– इसके लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या—1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

स्थानीय स्वशासन की आवश्यकता– भारत में स्थानीय स्वशासन की आवश्यकता के निम्नलिखित कारण हैं—

(i) प्रशासन की दृष्टि से आवश्यक है कि जिन नागरिक सेवाओं की किसी जन-समुदाय को जरूरत होती है, उनको उस समुदाय के आवास-क्षेत्र/प्रदेश की दृष्टि से ही आयोजित, कार्यक्रमबद्ध व संगठित किया जाए, क्योंकि स्थानीय शासन के कार्यों का आधार प्रादेशिक ही होता है।

(ii) स्थानीय शासन इस दृष्टि से भी आवश्यक है कि कुछ सार्वजनिक आवश्यकताएँ सघनता, स्वरूप तथा विस्तार की दृष्टि से स्थानीय होती हैं, अर्थात् उनका संबंध समस्त क्षेत्रों से नहीं होता। इन समस्याओं को स्थानीय तरीके के समाधानों का विकास करके ही हल किया जा सकता है।

(iii) स्थानीय शासन व्यापक क्षेत्र में जनता की सेवाएँ करता है। वह अनेक प्रकार के तथा विशाल स्तर के कार्य संपादित करता है। स्थानीय शासन को बनाए रखना आवश्यक है। उसे सुदृढ़ रूप प्रदान करना आवश्यक है, क्योंकि राज्य शासन यह सभी कार्य सरलतापूर्वक नहीं कर पाता है। सामुदायिक जीवन से संबंधित अनेक ऐसे विषय हैं, जिन्हें राज्य-शासन नहीं, बल्कि स्थानीय शासन ही संपादित कर सकता है।

स्थानीय स्वशासन का महत्व–

(i) भावी नेतृत्व का निर्माण– स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ भारत का भावी नेतृत्व तैयार करती हैं। ये विधायकों और मंत्रियों को पर्याप्त प्राथमिक अनुभव एवं प्रशिक्षण प्रदान करती है, जिससे वे भारत की ग्रामीण समस्याओं से अवगत होते हैं। इस प्रकार ग्रामों में उचित नेतृत्व का निर्माण करने एवं विकास कार्यों में जनता की रुचि बढ़ाने में पंचायती राज व्यवस्था का महत्वपूर्ण योगदान रहता है।

(ii) जनता और सरकार के पारस्परिक संबंध– भारत की जनता स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के माध्यम से शासन के बहुत निकट पहुँच जाती है। इससे जनता और सरकार में परस्पर एक-दूसरे की कठिनाइयों को समझने की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। इसके अतिरिक्त दोनों में परस्पर सहयोग भी बढ़ता है, जो ग्रामोत्थान एवं विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है।

(iii) स्थानीय समाज और राजनीतिक व्यवस्था के बीच की कड़ी– ग्राम पंचायतों के कार्यकर्ता और पदाधिकारी स्थानीय समाज और राजनीतिक व्यवस्था के बीच एक कड़ी के रूप में कार्य करते हैं। इन स्थानीय पदाधिकारियों के सहयोग के अभाव में राष्ट्र के निर्माण का कार्य सम्भव नहीं हो सकता है और न सरकारी कर्मचारी अपने दायित्व का समुचित रूप से पालन ही कर सकते हैं।

(iv) प्रशासकीय शक्तियों का विकेन्द्रीकरण– स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ केंद्र और राज्य सरकारों को स्थानीय समस्याओं के भार से मुक्त करती है। स्थानीय स्वशासन की इकाइयों के माध्यम से ही शासकीय शक्तियों एवं कार्यों का विकेन्द्रीकरण किया जा सकता है। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की इस प्रक्रिया में शासन सत्ता कुछ निर्धारित संस्थाओं में निहित होने के स्थान पर, गाँव की पंचायत के कार्यकर्ताओं के हाथों में पहुँच जाती है। भारत में इस व्यवस्था से प्रशासन की कार्यकुशलता में पर्याप्त वृद्धि हुई हैं।

(v) लोकतांत्रिक परम्पराओं को लागू करने में सहायक– भारत में स्वस्थ लोकतांत्रिक परम्पराओं को लागू करने के लिए लागू स्वशासन व्यवस्था ठोस आधार प्रदान करती है। उसके माध्यम से शासन-सत्ता वास्तविक रूप से जनता में चली जाती है। इसके अतिरिक्त स्थानीय स्वशासन व्यवस्था, स्थानीय निवासियों में लोकतांत्रिक संगठनों के प्रति रुचि उत्पन्न करती है।

(vi) लोकतांत्रिक परम्पराओं के अनुरूप– लोकतंत्र का आधारभूत तथा मौलिक सिद्धान्त यह है कि सत्ता का अधिक-से-अधिक विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। स्थानीय स्वशासन की इकाइयाँ सत्ता के विकेन्द्रीकरण का प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

(vii) नागरिकों को निरन्तर जागरूक बनाए रखने में सहायक– स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ लोकतंत्र की प्रयोगशालाएँ हैं। ये भारतीय नागरिकों को अपने राजनीतिक अधिकारों के प्रयोग की शिक्षा देती है तथा साथ ही उनमें नागरिकता के गुणों का विकास करने में भी सहायक होती हैं।

(viii) प्रशासनिक अधिकारियों की जागरूकता– स्थानीय लोगों की शासन में भागीदारी के कारण प्रशासन उस क्षेत्र की आवश्यकताओं के प्रति अधिक सजग तथा संवेदनशील हो जाता है।

(ix) नौकरशाही की बुराइयों की समाप्ति– स्थानीय स्वशासन संस्थाओं में नागरिकों की प्रत्यक्ष भागीदारी से प्रशासन में नौकरशाही, लालफीताशाही तथा भ्रष्टाचार जैसी बुराईयों के उत्पन्न होने की सम्भावना कम रहती है।

2. भारत में पंचायती राज व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उ०– भारत में पंचायती राज व्यवस्था (स्थानीय स्वशासन) की विशेषताएँ–

(i) स्थानीय क्षेत्र– किसी भी अन्य सरकार की भाँति स्थानीय स्वशासन भी एक भौगोलिक क्षेत्र में कार्य करता है। किसी राज्य

अथवा देश की तुलना में यह भौगोलिक क्षेत्र छोटा होता है जैसे— ग्राम, नगर, महानगर। स्थानीय प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए आवश्यक है कि उनके क्षेत्र एवं जनसंख्या की एक निश्चित सीमा हो। जिन महानगरों में स्थानीय प्रशासन का आकार (जनसंख्या) बहुत बढ़ जाता हैं वहाँ विकेन्द्रीकरण कर प्रशासन को स्वतंत्र इकाइयों से बाँटकर या कुछ कार्यों को स्वतंत्र बोर्डों को सौंप देने के प्रयास किए जाते हैं।

(ii) सांविधिक हैसियत– स्थानीय संस्थाएँ संवैधानिक होती हैं अर्थात् विधि अधिनियम द्वारा उसकी रचना की जाती हैं और उसी से वह अपनी शक्तियाँ तथा स्थितियाँ प्राप्त करता है। भारत में 73 वाँ तथा 74 वाँ संशोधन प्राप्ति हो जाने के उपरांत स्थानीय प्रशासनों को संवैधानिक अस्तित्व प्राप्त हो गया हैं।

(iii) स्वायत्त स्थिति– स्थानीय की स्थिति वैधानिक होती हैं। उसकी स्वायत्तता इसका परिणाम है। स्थानीय शासन संस्थाओं को केंद्रीय एवं राजकीय नियंत्रण से मुक्त रहकर काम करने का अधिकार होता हैं। विधि में उल्लेखित कार्यों एवं शक्तियों का प्रयोग करने में स्थानीय प्रशासन तब तक स्वतंत्र होता है, जब तक कि विधानमंडल हल निधि में से संशोधन नहीं कर देता।

(iv) स्थानीय भागीदारी– स्थानीय प्रशासन के परिचालन में स्थानीय निवासियों की साझेदारी होती है। स्थानीय सरकार के प्रशासन तथा निर्णय प्रक्रिया में स्थानीय लोगों की साझेदारी बहुत महत्वपूर्ण होती है। यही उसको स्वशासन की विशेषता प्रदान करती है।

(v) स्थानीय जवाबदेही– स्थानीय प्रशासन स्थानीय लोगों के प्रति जवाबदेह होता है क्योंकि एक विशेष क्षेत्र के लोगों को ऐसी सेवाएँ प्रदान करता है जो स्थानीय महत्व रखती हैं जैसे— सफाई, शिक्षा, यातायात, जल आपूर्ति आदि। स्थानीय लोगों के नियंत्रण के कारण उसे अच्छी सेवाएँ प्रदान करने के लिए विवश होना पड़ता है। यदि स्थानीय लोगों के प्रति उनकी जवाबदेही न हो तो वे आवश्यकताओं के प्रति उदासीन हो जाएगें।

(vi) स्थानीय आर्थिक संसाधन– स्थानीय प्रशासनों के आर्थिक संसाधनों के मुख्य दो स्रोत होते हैं।

(क) राज्य अथवा केंद्रीय सरकार द्वारा दी जाने वाली सहायता राशि।

(ख) स्वयं स्थानीय प्रशासनों द्वारा लगाए जाने वाले कर या प्रभार।

स्थानीय शासन संस्थाएँ अपनी वित्तीय संसाधनों में स्वावलम्बी नहीं होती अत: केंद्रीय या राज्य सरकारें सहायता धनराशि के द्वारा सहायता करती हैं। परंतु अनिवार्य है कि उसके पास कर प्रभार के माध्यम से अपना राजस्व जुटाने की शक्ति हो। अत: स्थानीय शासन संस्थाओं को राजस्व के स्वतंत्र संसाधन सौंप दिए जाते हैं। जैसे—स्थानीय सम्पत्तियों पर कर लगाना, स्थानीय व्यापार स्थानों तथा मनोरंजन के साधनों पर कर लगाना आदि।

स्थानीय शासन संस्थाएँ अपने क्षेत्र में रहने वाले लोगों के घरों तक कुछ नागरिक सेवाएँ पहुँचाती हैं। इन सेवाओं के प्रदान से स्थानीय समुदाय का जीवन स्वस्थ तथा सुखमय हो जाता है। यह लोगों की मूलभूत आवश्यकताएँ होती हैं। जैसे— सफाई, सड़कों तथा गलियों में रोशनी का प्रबन्ध, मल-जल के निकास का प्रबंध करना।

(vii) सामान्य उद्देश्य– स्थानीय शासन संस्थाओं का स्वरूप एक उद्देशीय न होकर सामान्य उद्देशीय होता है। यह बहुउद्देशीय संस्थान हैं जो कई प्रकार के कार्यों को करता है। जैसे— स्वास्थ्य, प्राथमिक शिक्षा, सफाई, जल आपूर्ति आदि।

3. भारत में पंचायती राज व्यवस्था की कार्यप्रणाली का परीक्षण कीजिए।

उ०– नि:सन्देह यह कहा जा सकता है कि पंचायती राज के अंतर्गत विकास योजनाओं को बल प्राप्त हुआ है। कृषि, पशुपालन, स्वास्थ्य, चिकित्सा, ग्राम सफाई तथा शिक्षा की उन्नति के लिए परियोजनाएँ बनीं और उन्हें लागू भी किया गया, परंतु कई कारणों से पंचायती राज योजना उतनी सफल साबित नहीं हो सकी, जिनती कि अपेक्षित थीं। 24 अप्रैल, 1993 ई० को 73 वाँ संविधान-संशोधन अधिनियम लागू किया गया। इस अधिनियम को लागू करते समय कई प्रकार की चुनौतियाँ और कठिनाइयाँ उत्पन्न होना स्वाभाविक है—

(i) सक्रिय भागीदारी का प्रश्न– यह अपेक्षा थी कि पंचायती राज से वास्तव में सत्ता का विकेन्द्रीकरण होगा। वास्तव में वैसा नहीं हुआ। ग्राम पंचायतों में बड़े-बड़े किसानों और समाज के कुछ विशेष वर्गों का वर्चस्व बना रहा। परिणामस्वरूप पंचायतें जनशक्ति का प्रतीक नहीं बन पाई हैं।

(ii) शांतिपूर्ण और निष्पक्ष चुनावों की समस्या– पंचायतों के चुनावों में भी राजनीतिक दलों की घुसपैठ देखने को मिलती है। परिणामस्वरूप, पंच व सरपंच के लिए योग्य व्यक्तियों का चुनाव नहीं हो पाता है। पंचायतों राज के सभी स्तरों के लिए शांतिपूर्ण निष्पक्ष चुनाव कर पाना एक जटिल समस्या है। राज्य-सरकार इस प्रकार का कानून बनाए कि भ्रष्ट और दुष्चरित्र व्यक्ति चुनाव मैदान में न आने पाए। इसके अतिरिक्त प्रत्येक स्तर पर चुनाव व्यय की सीमा निर्धारित करनी होगी।

(iii) जिला अधिकारियों का अनावश्यक हस्तक्षेप– पंचायती राज संस्थाओं में जो सर्वेक्षण किए गए हैं उनसे ज्ञात होता है कि जिलाधीश तथा अन्य अधिकारी पंचायती संस्थाओं के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप करते हैं। जिला अधिकारी के पास संसद-सदस्य और विधानमंडल के सदस्य पहुँचते रहते हैं। वे उन पर यह दवाब डालते हैं कि अमुक पंचायत भंग कर दी जाए अथवा पंचायत के अमुक निर्णय को लागू न किया जाए। कई बार प्राय: इन दवाबों के कारण जिलाधिकारी गलत

कार्य कर बैठते हैं। इसलिए 73 वें संशोधन-अधिनियम में यह प्रावधान है कि पंचायतें यदि भंग की गई तो उनके चुनाव 6 महीनें में कराने होंगे।

(iv) अशिक्षा व अज्ञानता– अशिक्षा और अज्ञानता के कारण गाँव वालों को आपसी झगड़ें से ही फुरसत नहीं मिलती। गाँव में अज्ञानता का वातावरण विद्यमान है। बहुत से लोग ढिलाई और आलस के कारण विकास कार्यों में रूचि नहीं लेते।

(v) आय के अपर्याप्त साधन– पंचायती और पंचायत समितियों के कार्यों की कोई सीमा नहीं है। ग्रामवासियों का जीवन-स्तर आज भी बहुत नीचा है। उनके सामाजिक व आर्थिक विकास के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए, परन्तु पंचायतों की आय के साधन बहुत सीमित हैं। सरकार से प्राप्त होने वाले दान पर्याप्त नहीं होता। इसलिए यह व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक राज्य में एक वित्त आयोग का गठन किया जाएगा। वित्त आयोग पंचायतों की वित्तीय स्थिति की समीक्षा करके उनके आधार को सुदृढ़ बनाने की कोशिश करेगा। प्रत्येक पाँच वर्ष के बाद एक नवीन वित्तीय आयोग का गठन किया जाएगा।

(vi) आवश्यक कौशल अथवा कार्यक्षमता विकसित करने की समस्या– नवीन व्यवस्था के अन्तर्गत पंचायती राज संस्थाओं को नई-नई जिम्मेदारियाँ सौंपी जा रही हैं, जैसे कि विद्युतीकरण, वितरण-प्रणाली का सुधार, गरीबी निवारण कार्यक्रम को लागू करना तथा अपंग और मानसिक दृष्टि से अशक्त लोगों का विकास। इन दायित्वों के निर्वाह के लिए पंचायतों को बहुत-से नवीन विभाग खोलने और उनके लिए कर्मचारियों की नियुक्ति करनी होगी। ग्रामीण क्षेत्रों के लिए आर्थिक योजनाओं का निर्माण और उनका संचालन करना होगा। सभी स्तरों पर कर्मचारियों को गहन प्रशिक्षण की आवश्यकता है। प्रशिक्षण कार्यक्रमों में इन विषयों को सम्मिलित करना पड़ेगा: आर्थिक योजनाओं व परियोजनाओं का निर्माण, हिसाब का रख-रखाव तथा संबंधित विभागों का संरचनात्मक स्वरूप। इसके लिए राज्य-सरकार के विभागों, प्रशिक्षण, संस्थानों और गैर-सरकारी संस्थाओं से सहयोग लेने की आवश्यकता होगी।

4. क्षेत्र पंचायत(पंचायत समिति) के संगठन, कार्यों एवं शक्तियों पर प्रकाश डालिए।

उ०– **क्षेत्र पंचायत (पंचायत समिति)–** पंचायत समिति अथवा क्षेत्र पंचायत को पंचायती राज व्यवस्था के मध्य (खंड)स्तर की संस्था कहा गया है। 'उत्तर प्रदेश पंचायत विधि (संशोधन) अधिनियम, 1994 ई०' द्वारा क्षेत्र समिति का नाम बदलकर **क्षेत्र पंचायत** कर दिया गया है। राज्य सरकार, राजपत्र (गजट) में अधिसूचना जारी कर प्रत्येक खंड के लिए एक क्षेत्र पंचायत गठित करती है तथा क्षेत्र पंचायत का नाम, खंड के नाम पर होता है।

क्षेत्र पंचायत (पंचायत समिति) का गठन– क्षेत्र पंचायत एक प्रमुख और निम्नलिखित प्रकार के अन्य सदस्यों से मिलकर बनती है—

(i) खंड की सभी ग्राम पंचायतों के प्रधान।

(ii) कुछ सदस्य क्षेत्र के प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा निर्वाचित किए जाते हैं। प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या लगभग दो हजार होती है।

(iii) लोकसभा और विधानसभा के ऐसे सदस्य, जो उन निर्वाचन क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो पूर्णत: अथवा अंशत: उस खंड में सम्मिलित हैं।

(iv) राज्यसभा तथा विधानपरिषद् के ऐसे सदस्य जो खंड के अन्तर्गत निर्वाचकों के रूप में पंजीकृत हैं।

उपर्युक्त सदस्यों में क्रम संख्या 1, 3 तथा 4 के सदस्यों को प्रमुख अथवा उप प्रमुख के निर्वाचन तथा उनके विरुद्ध अविश्वास के मामलों में मत देने का अधिकार नहीं होता है।

स्थानों का आरक्षण– प्रत्येक क्षेत्र पंचायत में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए स्थानों के आरक्षण की व्यवस्था जिला पंचायत के अनुरूप ही होती है। क्षेत्र पंचायत में निर्वाचित स्थानों की कुल संख्या के कम-से-कम एक तिहाई (33%) स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित होती हैं।

कार्यकाल– क्षेत्र पंचायत का कार्यकाल 5 वर्ष है। राज्य सरकार इसे 5 वर्ष से पूर्व भी भंग कर सकती है।

क्षेत्र पंचायत के पदाधिकारी– क्षेत्र पंचायत का प्रमुख 'क्षेत्र प्रमुख' अथवा 'ब्लॉक प्रमुख' कहलाता है। इसका निर्वाचन निर्वाचित सदस्य अपने में से ही करते हैं। क्षेत्र प्रमुख के अतिरिक्त 'ज्येष्ठ उपप्रमुख' तथा 'कनिष्ठ उपप्रमुख' की भी व्यवस्था है। इनका चुनाव क्षेत्र पंचायत के सदस्यों में से ही किया जाता है। इन सभी की कार्यावधि पाँच वर्ष होती है। क्षेत्र प्रमुख क्षेत्र पंचायत की बैठकों का आयोजन एवं उनका सभापतित्व करता है।

क्षेत्र विकास अधिकारी– इसकी नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है। यह क्षेत्र पंचायत का प्रमुख अधिकारी होता है। इसका पद स्थायी होता है। यही क्षेत्र में योजनाएँ कार्यान्वित करता है। इसकी सहायता के लिए अन्य अनेक कर्मचारी होते हैं।

क्षेत्र पंचायत त्रिस्तरीय पंचायत राज व्यवस्था की मध्यवर्ती कड़ी है। यह क्षेत्रीय विकास को प्रोत्साहन देती है तथा क्षेत्रीय स्तर पर प्रारम्भ की जाने वाली योजनाओं तथा प्रस्तावित कार्यक्रमों को क्षेत्र विकास अधिकारी के सहयोग से लागू करने का प्रयास करती हैं।

क्षेत्र पंचायत के अधिकार और कार्य– क्षेत्र पंचायत के प्रमुख अधिकार एवं कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) सार्वजनिक निर्माण संबंधी कार्य करना,
(ii) कुटीर तथा लघु उद्योगों का विकास करना,

(iii) स्वास्थ्य तथा सफाई संबंधी कार्य करना, (iv) पशुपालन तथा पशु सेवाओं में वृद्धि करना,
(v) कृषि, भूमि विकास, भूमि सुधार और लघु सिंचाई संबंधी कार्यों को करना,
(vi) ग्रामीण आवास की व्यवस्था करना,
(vii) शैक्षणिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास संबंधी कार्य करना,
(viii) पेयजल, ईंधन और चारे की व्यवस्था करना, (ix) बाजार और मेलों की व्यवस्था करना,
(x) प्राकृतिक आपदाओं में सहायता देना, (xi) चिकित्सा तथा परिवार कल्याण संबंधी कार्य करना,
इनके अतिरिक्त भी अन्य बहुत-से कार्य क्षेत्र पंचायत द्वारा संपादित किए जाते हैं।

5. पंचायती राज व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? ग्राम पंचायतों के कार्य एवं शक्तियों का वर्णन कीजिए।

उ०– **पंचायती राज व्यवस्था (स्थानीय स्वशासन)–** इसके लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या—1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

ग्राम पंचायत– प्रत्येक ग्राम में एक ग्राम सभा होती है। गाँव का प्रत्येक वयस्क व्यक्ति ग्राम सभा का सदस्य होता है। ग्राम पंचायत का चयन ग्राम सभा द्वारा किया जाता है। ग्राम पंचायत के चुनाव गुप्त मतदान द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर किए जाते हैं। ग्राम पंयायत के सरपंच का चुनाव पंचायत के सम्पूर्ण निर्वाचित मंडल द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। ग्राम पंचायत, पंचायती राज व्यवस्था की सबसे छोटी आधारभूत इकाई है। यह ग्राम सरकार की कार्यपालिका के रूप में कार्य करती है। ग्राम पंचायत के कार्यों तथा शक्तियों की विवेचना निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत की जा सकती हैं—

(i) व्यवसाय संबंधी कार्य– इन कार्यों के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य आते हैं—
(क) पुस्कालयों एवं वाचनालयों की व्यवस्था करना,
(ख) पार्क बनवाना,
(ग) अस्पताल खुलवाना,
(घ) गृह-उद्योगों को उन्नत करने के प्रयत्न करना,
(ङ) सहकारी समितियों का गठन करना,
(च) स्वयंसेवक का दल का संगठन करना,
(छ) पशुओं की नस्ल सुधारना,
(ज) अकाल या अन्य आपदा के समय गाँववालों की सहायता करना,
(झ) सड़कों के किनारे छायादार वृक्ष लगवाना आदि,
(ण) सहकारी ऋण प्राप्त करने में किसानों की सहायता करना।

(ii) न्याय संबंधी कार्य– इन कार्यों के अन्तर्गत ग्राम पंचायत के कुछ सदस्य न्याय पंचायत के रूप में कार्य करते हुए अपने गाँव के छोटे-छोटे झगड़ों का निपटारा भी करते हैं तथा फौजदारी के मुकदमों में इसे ₹ 250 तक का जुर्माना करने का अधिकार प्राप्त है। दीवानी के मामलों में यह ₹ 500 के मूल्य तक ही सम्पत्ति के मामलों की सुनवाई कर सकते हैं। तथा देश के चार राज्यों राजस्थान, हरियाणा, मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र में ग्राम न्यायालयों का गठन हुआ है। यह पंचायती राज व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में जिला स्तरीय प्रशासन में एक क्रान्तिकारी निर्णय होगा।

(iii) सार्वजनिक कार्य– ग्राम पंचायत द्वारा सम्पादित होने वाले सार्वजनिक कार्यों के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य आते हैं—
(क) गाँव की सफाई की व्यवस्था करना,
(ख) गाँव एवं गाँव की इमारतों की रक्षा करना,
(ग) रोशनी का प्रबन्ध करना,
(घ) संक्रामक रोगों की रोकथाम करना,
(ङ) बालक एवं बालिकाओं की शिक्षा की समुचित व्यवस्था करना,
(च) खेलकूद की व्यवस्था करना,
(छ) कृषि की उन्नति हेतु प्रयत्न करना,
(ज) श्मशान भूमि की व्यवस्था करना,
(झ) जन्म-मरण का लेखा-जोखा करना,
(ण) सार्वजनिक चरागाहों की व्यवस्था करना,
(ट) जनगणना और पशुगणना करना,
(ठ) अग्निकांड होने पर आग बुझाने का प्रबन्ध करना,
(ड) प्राथमिक चिकित्सा का प्रबन्ध करना,
(ढ़) समय-समय पर कानून द्वारा यथा निर्देशित अन्य कार्य करना,
(ञ) खाद एकत्र करने के लिए स्थान सुनिश्चित करना,

(त) ग्रामीण जनता को शासन-व्यवस्था से परिचित कराना,
(थ) प्रसूति-गृह खोलना,
(द) आदर्श नागरिकता की भावना को प्रोत्साहन देना तथा
(ध) जल-संसाधनों की सुरक्षा का प्रबन्ध करना।

भारतीय संविधान में किए गए 73वें संशोधन द्वारा ग्राम पंचायत को व्यापक अधिकार एवं शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। साथ ही ग्राम पंचायत के कार्य-क्षेत्र को व्यापक बनाया गया है। इसके कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत 29 कार्यों से युक्त एक विस्तृत सूची को रखा गया है।

6. नगर पंचायत की रचना तथा कार्यों का वर्णन कीजिए।

उ०– नगर पंचायत– 'उत्तर प्रदेश नगरीय स्वायत्त शासन विधि (संशोधन) अधिनियम, 1994 के अनुसार' 30 हजार से एक लाख की जनसंख्या वाले क्षेत्रों को 'संक्रमणशील क्षेत्र' घोषित किया जाएगा तथा ऐसे प्रत्येक क्षेत्र की एक 'नगर पंचायत' होगी।

संक्रमणशील क्षेत्र– 'संक्रमणशील क्षेत्र' तात्पर्य ऐसे क्षेत्र से है, जो ग्रामीण क्षेत्र से नगर बनने की ओर बढ़ रहा है। उत्तराखण्ड स्थित गढ़वाल और कुमाऊँ मंडलों के जिलों में 15 हजार से अधिक जनसंख्या वाले स्थानों पर भी नगर पंचायत की स्थापना की संस्तुति शासन स्तर से की गई हैं।

नगर पंचायत का गठन– प्रत्येक नगर पंचायत में एक अध्यक्ष तथा निम्नलिखित तीन प्रकार के सदस्य होते हैं—

(i) पदेन सदस्य–

(क) राज्यसभा तथा विधानपरिषद् के ऐसे सदस्य जो उस नगर पंचायत के क्षेत्र के अन्तर्गत पंजीकृत है।
(ख) लोकसभा तथा विधानसभा के ऐसे सदस्य, जो उन निर्वाचन क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनमें पूर्णत: अथवा अंशत: वे नगर पंचायत क्षेत्र सम्मिलित हैं।

(ii) मनोनीत सदस्य– प्रत्येक नगर पंचायत में राज्य सरकार 2 या 3 ऐसे सदस्यों को मनोनीत करती हैं जिन्हें नगरपालिका प्रशासन का विशेष ज्ञान अथवा अनुभव हो। यह संख्या राज्य सरकार द्वारा निश्चित होती हैं।
इन मनोनीत सदस्यों को नगर पंचायत में मत देने का अधिकार नहीं होता। नगर पंचायत के सदस्यों को भी सभासद कहा जाता है।

(iii) निर्वाचित सदस्य– नगर पंचायत में निर्वाचित सदस्यों की संख्या कम-से-कम 10 तथा अधिकतम 24 निर्धारित है। नगर पंचायत के सदस्यों की संख्या राज्य सरकार द्वारा निश्चित की जाती है तथा यह संख्या सरकारी गजट में अधिसूचना के रूप में प्रकाशित की जाती है।

स्थानों का आरक्षण– प्रत्येक नगर पंचायत के निर्वाचित सदस्यों में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों व अन्य पिछड़े वर्गों तथा महिलाओं के लिए स्थान आरक्षित होते हैं। ये आरक्षित स्थान नगरपालिका परिषद् के आरक्षित स्थानों के समान ही होते हैं। नगर पंचायतों में अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए आरक्षण पर उस नगर पंचायत क्षेत्र का जनसंख्या के अनुपात में होते हैं। पिछड़े वर्गों के लिए 27% और इन आरक्षित स्थानों में 33% स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित होते हैं। इससे संबद्ध चुनावों में भी आरक्षण की चक्रानुक्रम व्यवस्था लागू है।

नगर पंचायत के पदाधिकारी एवं अधिकारी– नगर पंचायत के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष तथा अधिकारी व कर्मचारी, नगरपालिका परिषद् की व्यवस्था के समान ही होते हैं। इसके अतिरिक्त नगर पंचायत के विघटन के सन्दर्भ में भी वही व्यवस्था है, जो नगरपालिका परिषद् के संदर्भ में हैं।

नगर पंचायत के कार्य– नगर पंचायत अपने क्षेत्र में वे सभी कार्य करते हैं जो कार्य नगरपालिका परिषद् द्वारा अपने क्षेत्र में किए जाते हैं। नगर पंचायत के प्रमुख कार्य इस प्रकार से हैं—

(i) पर्यावरण की रक्षा,
(ii) श्मशान-स्थलों की व्यवस्था,
(iii) शुद्ध तथा स्वच्छ पेयजल की आपूर्ति,
(iv) सार्वजनिक सड़कों, स्थानों व नालियों की सफाई तथा रोशनी का प्रबन्ध,
(v) प्रसूति केंद्रों तथा शिशु गृहों की व्यवस्था,
(vi) पशु चिकित्सालयों तथा प्राथमिक स्कूलों की व्यवस्था,
(vii) जन्म तथा मृत्यु का पंजीयन,
(viii) अग्नि-शमन की व्यवस्था

7. जिला पंचायत का गठन कैसे होता है? इसके प्रमुख कार्य क्या हैं?

उ०– जिला पंचायत– जिला पंचायत द्वारा जिले के सम्पूर्ण ग्रामीण क्षेत्र का प्रबन्ध किया जाता है। उत्तर प्रदेश में सन् 1961 ई० के अधिनियमित कानून के अन्तर्गत जिलापरिषदों का गठन किया हुआ था, परन्तु '**उत्तर प्रदेश पंचायत विधि (संशोधन) अधिनियम, 1994**' द्वारा जिला परिषद् का नाम जिला पंचायत कर दिया गया है। जिला पंचायत का नाम जिले के नाम पर होता है तथा प्रत्येक जिला पंचायत एक नियमित निकाय होता है।

जिला पंचायत का गठन–

सदस्य– प्रत्येक जिला पंचायत में कुछ निर्वाचित सदस्य और कुछ अन्य सदस्य होते हैं यथा–

(i) क्षेत्र पंचायतों के प्रमुख– जिले की समस्त क्षेत्र पंचायतों के प्रमुख भी जिला पंचायत के सदस्य होते हैं।

(ii) निर्वाचित सदस्य– निर्वाचित सदस्यों की संख्या राज्य सरकार द्वारा निश्चित की जाती है विभिन्न जिलों की पंचायतों में यह संख्या भिन्न-भिन्न होती है। इन सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मतदान के आधार पर होता है। 50 हजार की जनसंख्या पर एक सदस्य निर्वाचित किया जाता है।

(iii) लोकसभा तथा विधानसभा के वे सदस्य जो जिला पंचायत क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(iv) लोकसभा, राज्यसभा, विधानसभा तथा विधानपरिषद् के वे सदस्य जो जिला पंचायत के क्षेत्र के अन्तर्गत निर्वाचकों के रूप में पंजीकृत हैं, जिला पंचायत के सदस्य होते हैं।

स्थानों का आरक्षण– जिला पंचायत में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए जनसंख्या के आधार पर 21 प्रतिशत तथा पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत स्थान आरक्षित किए गए हैं। जिला पंचायत में निर्वाचित स्थानों की कुल संख्या के कम-से-कम एक-तिहाई स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित किए गए हैं।

जिला पंचायत के अधिकारी– प्रत्येक जिला पंयायत का एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष होता है। अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष का निर्वाचन निर्वाचित सदस्यों द्वारा गुप्त मतदान प्रणाली के आधार पर होता है। इन पदाधिकारियों को कम-से-कम 21 वर्ष की आयु का अवश्य होना चाहिए। अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष का निर्वाचन 5 वर्ष के लिए होता है। इस अवधि से पूर्व भी उन्हें अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके पदच्युत किया जा सकता है। जिला पंचायत के अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष के अतिरिक्त और भी अनेक छोटे-बड़े स्थायी एवं वैतनिक अधिकारी होते हैं। इन सबको अध्यक्ष के निर्देशन में कार्य करना होता है।

समितियाँ– जिला पंचायत अपना कार्य अनेक समितियों के माध्यम से संचालित करती हैं। इसमें 'कार्य समिति', 'जिला समिति', 'शिक्षा एवं जन स्वास्थ्य समिति', 'कृषि, उद्योग एवं निर्माण समिति' तथा 'समता समिति' प्रमुख हैं।

जिला पंचायत के कार्य– जिला पंचायत के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं–

(i) सड़क, पुल, तालाब, नाले आदि बनवाना तथा जल निकासी की उचित व्यवस्था करना,
(ii) संक्रामक रोगों के नियन्त्रण व उनकी रोकथाम की व्यवस्था करना,
(iii) पशु चिकित्सालय खुलवाना,
(iv) अस्पताल खोलना,
(v) सामाजिक अन्याय और शोषण से अनुसूचित जातियों और जनजातियों की रक्षा करना,
(vi) पुलों का निर्माण करवाना,
(vii) विद्युत प्रकाश का प्रबन्ध करना,
(viii) कृषि उत्पादन बढ़ाने के उपाय करना और गोदामों की स्थापना एवं उनका अनुरक्षण करना आदि,
(ix) पुस्तकालयों तथा वाचनालयों का प्रबन्ध करना,
(x) कृषि की उन्नति की समुचित व्यवस्था करना आदि।

निष्कर्ष– जिला पंचायत के कार्यों की समीक्षा करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिला पंचायत के कार्य बहुत-ही व्यापक तथा विस्तृत हैं। जिला पंचायत की कार्य प्रणाली की विशेषता यह है कि यह मानव जीवन की अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति स्थानीय स्तर पर कर सकती है।

इन कार्यों के अतिरिक्त ट्राम बस आदि चलवाना, समाज-सुधार का प्रयत्न करना, नई सड़कें बनवाना, शिक्षा के विकास के कार्य करना, ग्रामवासियों के लिए मनोरंजन के साधन जुटाना और संकट के समय गाँवों को अनुदान देना आदि जिला पंचायत के अन्य ऐच्छिक कार्य हैं।

8. नगर निगम की रचना तथा उसके कार्यों का उल्लेख कीजिए।

उ०– नगर निगम– 'उत्तर प्रदेश नगरीय स्वायत्त शासन विधि (संशोधन) अधिनियम, 1994' के प्रावधानों के अन्तर्गत 5 लाख से अधिक जनसंख्या के नगरों को, जिन्हें पहले महापालिका कहा जाता था, अब 'नगर निगम' कहा जाएगा।

नगर निगम का गठन– प्रत्येक नगर निगम एक **'महापौर'** (मेयर) और निम्नलिखित तीन प्रकार के सदस्यों से मिलकर बनता है–

(i) पदेन सदस्य–

(क) लोकसभा और राज्य की विधानसभा के वे सदस्य, जो उन निर्वाचन क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनमें यह नगर पूर्णतया अथवा अंशत: समाविष्ट है।

(ख) राज्यसभा और राज्य विधानपरिषद् के वे सदस्य है, जो उस नगर में निर्वाचक के रूप में पंजीकृत हैं।

(iii) उत्तर प्रदेश सहकारी समिति अधिनियम, 1965 ई० के अधीन स्थापित समितियों के वे अध्यक्ष, जो निगम के सदस्य नहीं हैं।

(ii) मनोनीत सदस्य– राज्य सरकार 5 से लेकर 10 तक ऐसे सदस्यों को मनोनीत करती है, जिन्हें नगरपालिका प्रशासन का विशेष ज्ञान अथवा अनुभव प्राप्त होता है।

(iii) निर्वाचित सदस्य– निगम के सदस्यों को सभासद कहा जाता है। प्रत्येक निगम के सदस्यों की संख्या राज्य सरकार द्वारा निश्चित की जाती है तथा सरकारी गजट में प्रकाशित कर दी जाती है। निगम के सदस्यों की संख्या कम-से-कम 60 तथा अधिक-से-अधिक 110 होती है।

सभासद निर्वाचित होने के लिए अर्हताएँ– सभासद के पद पर निर्वाचित होने के लिए प्रत्याशी में निम्नलिखित अर्हताएँ होनी चाहिए—

(i) प्रत्याशी का नाम नगर की मतदाता सूची में हो।
(ii) वह 21 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।
(iii) आयु के अतिरिक्त अन्य सभी बातों की दृष्टि से राज्य विधानमंडल का सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो।

सभासदों का निर्वाचन– प्रत्येक नगर को लगभग समान जनसंख्या वाले वार्डों (प्रादेशिक क्षेत्रों) में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक वार्ड एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होता है तथा प्रत्येक वार्ड से वयस्क मताधिकार और प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के आधार पर एक सभासद निर्वाचित किया जाता है।

महापौर का निर्वाचन– महापौर (मेयर) नगर का प्रथम नागरिक होता है। इसका चयन नगर के समस्त वयस्क मतदाताओं द्वारा मतदान के आधार पर किया जाता है।

स्थानों का आरक्षण– प्रत्येक निगम में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़ा वर्ग के लिए स्थान आरक्षित किए जाते हैं। पिछड़े वर्गों के लिए प्रत्यक्ष चुनाव से भरे जाने वाले स्थानों का 27% आरक्षित किया जाएगा। नगर निगम में प्रत्यक्ष चुनाव से भरे जाने वाले कुल स्थानों की संख्या के कम-से-कम एक-तिहाई स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित रहेंगे। इन आरक्षित स्थानों में मनोनीत सदस्यों के स्थान भी सम्मिलित हैं। उत्तर प्रदेश के स्थानीय निकाय चुनावों में आरक्षण की चक्रानुक्रम व्यवस्था का प्रावधान है।

निगम के पदाधिकारी– महापौर नगर निगम का सर्वोच्च अधिकारी होता है। इसका निर्वाचन समस्त मतदाताओं द्वारा वयस्क मताधिकार और प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर होता है। इसका कार्यक्रम पाँच वर्ष है। उप महापौर का निर्वाचन निगम के सभासदों द्वारा एक वर्ष के लिए किया जाता है।

नगर आयुक्त तथा अन्य अधिकारी– प्रत्येक नगर निगम का एक नगर आयुक्त होता है। वह अखिल भारतीय प्रशासकीय सेवा (IAS) अथवा प्रान्तीय सेवा का उच्च अधिकारी होता है। इसकी नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा होती है। नगर निगम की समस्त गतिविधियों पर इसका पूर्ण नियंत्रण रहता है इसकी सहायता के लिए कई उप नगर अधिकारी, सहायक नगर अधिकारी, स्वास्थ्य अधिकारी, शिक्षा अधिकारी व अभियन्ता आदि अनेक वैतनिक अधिकारी भी होते हैं।

नगर निगम के कार्य– नगर निगम के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) नगरवासियों के लिए पेय जल की समुचित व्यवस्था करना।
(ii) नागरिकों के जीवन की सुरक्षा की दृष्टि से पुराने खस्ता हाल मकानों को गिरवाना।
(iii) सम्पूर्ण नगर को स्वच्छ रखने की व्यवस्था करना।
(iv) सार्वजनिक निर्माण संबंधी कार्य जैसे कुएँ, नालियाँ, सड़कें, पुल आदि बनवाना।
(v) सड़कों, गलियों आदि सभी सावजनिक स्थानों पर प्रकाश का समुचित प्रबन्ध करना।
(vi) शिक्षा की समुचित व्यवस्था के लिए प्राइमरी एवं जूनियर हाईस्कूल स्तर के विद्यालयों की व्यवस्था करना
(vii) नि:शुल्क औषधालय एवं चिकित्सालय खोलना।
(viii) संक्रामक रोग के प्रसार पर उनके नियंत्रण हेतु समुचित प्रबन्ध करना।
(ix) संक्रामक रोगों के टीके लगवाना।
(x) स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक पदार्थों की बिक्री पर प्रतिबन्ध लगवाना।
(xi) नगर की आर्थिक प्रगति के लिए नगर के उद्योगों तथा व्यापार की उन्नति के लिए कार्य करना आदि।
(xii) समाज के कमजोर वर्गों के हितों का संरक्षण करना।
(xiii) हाट व मेलों की व्यवस्था करना।
(xiv) नागरिकों के लिए स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था करना।

नगर निगमों की कार्य-सूची तो बहुत विस्तृत है तथा उनके कन्धों पर सम्पूर्ण नगर के विकास का उत्तरदायित्व है, परन्तु निगमों पर राज्य सरकार का कठोर नियंत्रण होने के कारण वे स्वतंत्रतापूर्वक कार्य नहीं कर पाते हैं।

9. उत्तर प्रदेश में नगरपालिकाओं (परिषदों) की रचना तथा उनके कार्यों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उ०– नगरपालिका परिषद्– 'उत्तर प्रदेश नगरीय स्वायत्त शासन विधि (संशोधन) अधिनियम, 1994' के अन्तर्गत 1 लाख से 5

लाख तक की जनसंख्या वाले नगर हेतु 'लघुत्तर नगरीय क्षेत्र' का प्रावधान किया गया है तथा इनके प्रबन्ध के लिए 'नगरपालिका परिषद्' की व्यवस्था का निर्णय लिया गया है।

नगरपालिका परिषद् का गठन– नगरपालिका परिषद् में एक अध्यक्ष और निम्नलिखित तीन प्रकार के सदस्य होते हैं—

(i) पदेन सदस्य–

(क) इसमें लोकसभा और राज्य विधानसभा के ऐसे समस्त सदस्य सम्मिलित होते हैं जो उन निर्वाचित क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनमें पूर्णत: अथवा अंशत: वे नगरपालिका क्षेत्र सम्मिलित होते हैं।

(ख) इसमें राज्यसभा और विधानपरिषद् के ऐसे समस्त सदस्य सम्मिलित होते हैं जो उस नगरपालिका क्षेत्र के अन्तर्गत निर्वाचक के रूप में पंजीकृत हैं।

(ii) मनोनीत सदस्य– प्रत्येक नगरपालिका परिषद् में राज्य सरकार द्वारा ऐसे सदस्यों को मनोनीत किया जाता है जिन्हें नगरपालिका प्रशासन का विशेष ज्ञान अथवा अनुभव हो। ऐसे सदस्यों की संख्या 3 से कम और 5 से अधिक नहीं हो सकती। इन मनोनीत सदस्यों को नगरपालिका परिषद् की बैठकों में मत देने का अधिकार नहीं होता। नगर निगम के निर्वाचित सदस्यों (सभासद) के समान नगरपालिका परिषद् के सदस्यों को भी सभासद ही कहा जाता है।

(iii) निर्वाचित सदस्य– नगर पालिका परिषद् में जनसंख्या के आधार पर निर्वाचित सदस्यों की संख्या 25 से कम और 55 से अधिक नहीं होगी। राज्य सरकार सदस्यों की यह संख्या निश्चित करके सरकारी गजट में अधिसूचना प्रकाशित करेगी।

सभासदों का निर्वाचन– प्रत्येक 'लघुतर नगरीय क्षेत्र' को लगभग समान जनसंख्या वाले 'प्रादेशिक क्षेत्रों' में विभाजित किया जाता है तथा ऐसे प्रत्येक प्रादेशिक क्षेत्र को कक्ष कहा जाता है। प्रत्येक कक्ष 'एक सदस्य निर्वाचन क्षेत्र' होता है तथा ऐसे कक्ष के वयस्क मताधिकार और प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर एक सभासद निर्वाचित होता है।

सभासद निर्वाचित होने के लिए अर्हताएँ– सभासद के निर्वाचन हेतु निम्नलिखित अर्हताएँ होनी चाहिए—

(i) उसका नाम नगर की मतदाता सूची में हो।

(ii) वह 21 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।

(iii) वह राज्य सरकार, संघ सरकार तथा नगरपालिका परिषद् के अधीन किसी लाभ के पद पर न हो।

स्थानों का आरक्षण– अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या का अनुपात: नगरपालिका परिषद् में प्रत्यक्ष चुनाव से भरे जाने वाले कुल स्थानों की संख्या में यथासम्भव वहीं होता है, जो अनुपात नगरपालिका परिषद् क्षेत्र की कुल जनसंख्या में इन जातियों का है। पिछड़ी जातियों के लिए 27 प्रतिशत स्थान आरक्षित किए गए हैं। इन आरक्षित स्थानों में कम-से-कम एक-तिहाई स्थान इसमें भी आरक्षण की चक्रानुक्रम व्यवस्था का प्रावधान है। इन जातियों और वर्गों की महिलाओं के लिए स्थान आरक्षित किए गए हैं।

नगरपालिका परिषद् का कार्यकाल– नगरपालिका परिषद् का संगठन पाँच वर्षों के लिए किया जाता है, अत: प्रत्येक पाँच वर्ष पश्चात् नए सदस्यों का चुनाव होता है। राज्य सरकार, संविधान के **अनुच्छेद 30** के अधीन परिषद् को इस अवधि के पूर्व भी विघटित कर सकती है।

नगरपालिका परिषद् के पदाधिकारी– प्रत्येक नगरपालिका परिषद् में एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष होता है। अध्यक्ष का निर्वाचन 5 वर्ष के लिए समस्त मतदाताओं द्वारा वयस्क मताधिकार तथा प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर होता है। उपाध्यक्ष का निर्वाचन नगरपालिका परिषद् के सभासदों द्वारा एक वर्ष की अवधि के लिए किया जाता है।

नगरपालिका परिषद् के अधिकारी और कर्मचारी– उपर्युक्त पदाधिकारियों के अतिरिक्त परिषद् के कुछ वैतनिक अधिकारी व कर्मचारी भी होते हैं जिनमें सबसे प्रमुख प्रशासनिक अधिकारी होता है। जिन परिषदों में प्रशासनिक अधिकारी न हो, वहाँ परिषद् विशेष प्रस्ताव द्वारा एक या एक से अधिक सचिव नियुक्त कर सकती है।

नगरपालिका परिषद् की समितियाँ– नगरपालिका परिषद् अपने कार्यो के सम्पादन के लिए विभिन्न समितियाँ बना लेती हैं और प्रत्येक समिति को एक विशिष्ट विभाग का कार्य सौंप दिया जाता है। इसकी प्रमख समितियों के नाम निम्नलिखित हैं—

(i) स्थायी समिति,
(ii) जल समिति,
(iii) अर्थ अथवा वित्त समिति,
(iv) शिक्षा समिति आदि।

इन समितियों में स्थायी समिति सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं।

नगरपालिका परिषद् के कार्य– नगरपालिका परिषद् के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) शिक्षा का प्रबन्ध– अपने नगरवासियों की शैक्षिक स्थिति को सुधारने के लिए नगरपालिका परिषद्, प्राथमिक स्कूल खोलती है। यह लड़कियाँ एवं अशिक्षित लोगों की शिक्षा का विशेष रूप से प्रबन्ध करती है।

(ii) सफाई की व्यवस्था– सम्पूर्ण नगर को स्वच्छ एवं सुंदर रखने का दायित्व नगरपालिका का ही होता है। यह सड़कों, नालियों और अन्य सार्वजनिक स्थानों की सफाई कराती है तथा नगर को स्वच्छ रखने के लिए सार्वजनिक स्थानों पर शौचालय एवं मूत्रालयों का निर्माण कराती है।

(iii) **निर्माण संबंधी कार्य–** नगरपालिका परिषद् नगर में नालियों, सड़कों एवं पुलों आदि की व्यवस्था करती है। सड़कों के किनारे छायादार वृक्ष लगवाना एवं पार्क बनवाना भी इसके प्रमुख कार्य हैं। समृद्ध नगरपालिका परिषदें यात्रियों के लिए होटल, सरायों एवं धर्मशालाओं का भी प्रबन्ध करती हैं। निर्माण संबंधी ये कार्य नगरपालिका की निर्माण समिति करती है।

(iv) **पानी की व्यवस्था–** नगरवासियों के लिए पीने योग्य स्वच्छ जल का प्रबन्ध नगरपालिका परिषद् ही कराती है।

(v) **स्वास्थ्य संबंधी कार्य–** नागरिकों के स्वास्थ्य की रक्षा करने का उत्तरदायित्व भी नगरपालिका परिषद् पर ही होता है अत: यह सड़ी-गली वस्तुओं एवं हानिकारक पदार्थों की बिक्री पर रोक लगाकर नागरिकों के स्वास्थ्य की रक्षा करती है।

(vi) **रोशनी की व्यवस्था–** सार्वजनिक स्थानों, सड़कों एवं गलियों पर प्रकाश का समुचित प्रबन्ध भी नगरपालिका परिषद् ही करती है।

(vii) **संक्रामक रोगों की रोकथाम–** यह संक्रामक रोगों की रोकथाम का प्रबन्ध करती है, अनेक प्रकार के संक्रमण-निरोधक टीके लगवाती है और यदि फिर भी कोई रोग फैल जाता है तो उसके उपचार हेतु आवश्यक व्यवस्था भी करती है।

(viii) **चिकित्सा की व्यवस्था–** नागरिकों के लिए यह अस्पताल एवं औषधालय खोलती है, जहाँ नि:शुल्क औषधि दी जाती है। यह पशुओं की चिकित्सा हेतु पशु चिकित्सालय भी खोलती है।

(ix) **मनोरंजन के साधनों का प्रबन्ध–** नागरिको के स्वस्थ मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था का प्रबन्ध भी नगरपालिका परिषद् ही करती है। इस उद्देश्य से यह बाजार, हाट एवं मेले आदि की व्यवस्था करती है।

इन कार्यों के अतिरिक्त ये परिषदें कुछ अन्य ऐच्छिक कार्य भी सम्पन्न करती हैं।

19 नीति आयोग (NITI Aayog)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 251 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 251-252 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. आर्थिक नियोजन से क्या आशय है?

उ०– आर्थिक नियोजन का तात्पर्य आर्थिक विकास की निश्चित योजना से है। इस संबंध में **प्रो. एम. हेरिस** का मत है, ''नियोजन से अभिप्राय मूल्य के संदर्भ में नियोजन अधिकारी द्वारा निश्चित उद्देश्यों तथा लक्ष्यों के लिए साधनों का आवंटन मात्र है।'' इस संबंध में **प्रो. एच. डिकिन्स** का कहना है, ''आर्थिक नियोजन से अभिप्राय महत्वपूर्ण आर्थिक मामलों में विस्तृत तथा संतुलित निर्णय लेना है। दूसरे शब्दों में क्या तथा कितना उत्पादन किया जाएगा तथा उसका वितरण किस प्रकार होगा, इन सभी प्रश्नों का उत्तर एक निर्धारक सत्ता के द्वारा समस्त अर्थव्यवस्था को एक ही राष्ट्रीय आर्थिक इकाई मानते हुए तथा व्यापक सर्वेक्षण के आधार पर सचेत तथा विवेकपूर्ण निर्णय के द्वारा दिया जाता है।'' **पं० नेहरू** ने योजना आयोग में अपने प्रथम अध्यक्षीय भाषण में कहा था— ''आर्थिक नियोजन का अभिप्राय यह है कि आर्थिक विकास की निश्चित योजना बनाकर राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों कृषि, उद्योग, शिक्षा, स्वास्थ्य व सामाजिक सेवाओं के संतुलित विकास का प्रयास किया जाए और इस बात का भी प्रबंध किया जाए कि इस विकास के लाभ न केवल कुछ ही व्यक्तियों अथवा वर्गों को वरन् सभी व्यक्तियों और वर्गों को प्राप्त हो।''

इस प्रकार आर्थिक नियोजन का तात्पर्य पूर्व निर्धारित सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अर्थव्यवस्था के समस्त अंगो को एकीकृत तथा समन्वित करते हुए राष्ट्र के साधनों के संबंध में सोच-विचार कर रूप-रेखा तैयार करने तथा केंद्रीय नियंत्रण से है।

2. नीति आयोग के तीन प्रमुख कार्य बताइए।

उ०– योजना या नीति आयोग के तीन प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) देश के साधनों का सर्वाधिक प्रभावशाली एवं संतुलित उपयोग करने हेतु योजनाएँ तैयार करना।

(ii) प्राथमिकताओं के निर्धारित होने पर उन अवस्थाओं को परिभाषित करना, जिनमें योजनाओं का संचालन होता है तथा प्रत्येक अवस्था की स्फूर्ति के लिए साधनों का आवंटन करना।

(iii) देश के भौतिक साधनों, पूँजी एवं मानवीय साधनों का अनुमान लगाना तथा साधनो की कमी होने पर, इनकी पूर्ति में वृद्धि करने हेतु अपने सुझाव तैयार करना।

3. भारत में पंचवर्षीय योजनाओं के चार उद्देश्य लिखिए।

उ०– भारत में पंचवर्षीय योजनाओं के चार उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

(i) राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि करना, जिससे कि गरीबी व निर्धनता का यथासम्भव अन्त किया जा सके।
(ii) सीमित साधनों का सर्वोत्तम उपयोग करना।
(iii) जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करना।
(iv) समाजवादी-समाज की स्थापना तथा आर्थिक समानता लाना।

4. पंचवर्षीय योजनाओं को लागू करने में क्या कठिनाइयाँ सामने आ रही है?

उ०– पंचवर्षीय योजनाओं को लागू करने में निम्नलिखित कठिनाइयाँ सामने आ रही हैं—

(i) बेरोजगारी में वृद्धि
(ii) मुद्रा-स्फीति में वृद्धि
(iii) क्षेत्रीय असंतुलन
(iv) आर्थिक सत्ता के संकेंद्रण में वृद्धि
(v) आय एवं धन के वितरण में असमानता
(vi) भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति में असमानताएँ
(vii) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में असफलताएँ
(viii) दोषपूर्ण नियंत्रण नीति
(ix) देशी तकनीक के विकास का अभाव

5. ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के चार प्रमुख लक्ष्य बताइए।

उ०– ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के चार प्रमुख लक्ष्य निम्नलिखित हैं—

(i) वर्ष 2016-17 तक प्रतिव्यक्ति आय दोगुनी करना।
(ii) 7 करोड़ नए रोजगार का सृजन करना।
(iii) GDP वृद्धि दर का लक्ष्य बढ़ाकर 10 प्रतिशत करना।
(iv) साक्षरता दर में वृद्धि कर 75 प्रतिशत तक पहुँचाना।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में आर्थिक नियोजन की आवश्यकता बताते हुए नीति आयोग का संगठन एवं कार्य बताइए।

उ०– आर्थिक नियोजन की आवश्यकता– किसी भी देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए तथा अर्थव्यवस्था को सुव्यवस्थित करने के लिए आर्थिक नियोजन आवश्यक है। भारत में भी आर्थिक नियोजन की निम्नलिखित कारणों से आवश्यकता—

(i) उत्पादन के साधनों का उचित प्रयोग करने के लिए आवश्यक।
(ii) देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक।
(iii) भूमि की उत्पादन क्षमता में वृद्धि के लिए आवश्यक।
(iv) माँग एवं पूर्ति सामंजस्य के लिए आर्थिक नियोजन आवश्यक।
(iv) उचित वितरण के लिए आर्थिक नियोजन आवश्यक।

योजना आयोग का गठन– भारत में योजनाकरण का आरम्भ सन् 1933 से माना जाता है। केंद्र सरकार ने 1 जनवरी 2015 को 'योजना आयोग' को 'नीति आयोग' में परिवर्तित कर दिया है। सन् 1933 में एम. विशेश्वरैया ने देश की आय को बढ़ाने के लिए एक दस वर्षीय योजना का निर्माण किया। इसके बाद सन् 1938, 1941 और 1943 में इस क्षेत्र में प्रयास किया गया। सन् 1946 में अन्तरिम सरकार द्वारा स्थापित किए गए सलाहकार नियोजन बोर्ड द्वारा नियोजन से संबंधित समस्याओं पर विचार किया गया। सलाहकार नियोजन बोर्ड ने एक योजना आयोग की सिफारिश की। ऐसा योजना आयोग जो मंत्रिमंडल के प्रति उत्तरदायी रहकर विकास के प्रश्न पर लगातार कार्य कर सके।

15 मार्च, 1950 ई० को भारत सरकार के एक प्रस्ताव के द्वारा योजना आयोग का गठन किया गया। योजना आयोग के प्रथम अध्यक्ष तत्कालीन प्रधानमंत्री पं० नेहरू थे। योजना आयोग की स्थापना के समय पाँच पूर्णकालिक सदस्य मनोनीत किए गए। वर्तमान समय में प्रधानमंत्री सहित इसके 12 सदस्य होते हैं। देश का प्रधानमंत्री योजना आयोग का पदेन अध्यक्ष होता है। इसके उपाध्यक्ष एवं सदस्यों के लिए कोई निर्धारित योग्यता आधार नहीं है। साथ ही उपाध्यक्ष एवं सदस्यों का कोई निश्चित कार्यकाल नहीं होता।

नीति/योजना आयोग के कार्य– नीति आयोग निम्नलिखित कार्य सम्पन्न करता है—

(i) योजना की विभिन्न अवस्थाओं को कार्यान्वित करने के लिए देश में एक उपयुक्त मशीनरी की प्रकृति का निर्माण करना।
(ii) देश में उपलब्ध साधनों के सन्तुलित विकास एवं अधिकतम विदोहन हेतु योजना का निर्माण करके उसे सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करना।
(iii) योजना के कार्यों को पूरा करने के लिए सरकार एवं अन्य विभागों में समन्वय स्थापित करना।
(iv) देश में भौतिक व मानवीय साधनों का अनुमान लगाकर इनके अधिकतम विदोहन की उपयुक्त सम्भावनाओं को ज्ञात करना।

(v) देश में उपलब्ध संसाधनों का विभिन्न उपयोगों में उचित आवंटन करना।
(vi) देश के आर्थिक विकास में बाधक तत्वों को दूर करने के लिए आवश्यक सुझाव देना।
(vii) योजना की प्रगति का समय-समय पर मूल्यांकन करना तथा सुधार के लिए आवश्यक सुझाव देना।
(viii) देश के तीव्र आर्थिक विकास के लिए योजना में प्राथमिकता के क्रम को निर्धारित करना।

17 जून, 1971ई० को राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई विज्ञप्ति द्वारा राष्ट्रीय नियोजन के लिए संसद के प्रति उत्तरदायित्व नियोजन मंत्रालय को दिया गया है और योजना नीति आयोग के कार्यों में निम्नलिखित प्रकार से संशोधन किया गया है—

(i) देश के साधनों का सर्वाधिक प्रभावशाली एवं सन्तुलित उपयोग करने हेतु योजनाएँ तैयार करना।
(ii) प्राथमिकताओं के निर्धारित होने पर उन अवस्थाओं को परिभाषित करना, जिनमें योजनाओं का संचालन होता है तथा प्रत्येक अवस्था की स्फूर्ति के लिए साधनों का आवंटन करना।
(iii) देश के भौतिक साधनों, पूँजी एवं मानवीय साधन का अनुमान लगाना तथा साधनों की कमी होने पर, इनकी पूर्ति में वृद्धि करने हेतु अपने सुझाव तैयार करना।
(iv) समय -समय पर योजना की प्रत्येक अवस्था की प्रगति का मुल्यांकन करना।
(v) राष्ट्रीय विकास में जन-सहयोग प्राप्त करना।
(vi) योजना के समस्त पहलुओं को क्रियान्वित करने हेतु आवश्यक तंत्र के प्रकार को निर्धारित करना।
(vii) दीर्घकालीन नियोजन की रूपरेखा प्रस्तुत करना।

2. आर्थिक नियोजन से क्या अभिप्राय है? भारत में योजनाबद्ध विकास के संगठन की विवेचना कीजिए।

उ०– **आर्थिक नियोजन–** इसके लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या—1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

भारत में योजनाबद्ध विकास का संगठन– भारत में योजनाकरण का आरम्भ सन् 1935 ई० से माना जाता है। लेकिन भारत में आर्थिक नियोजन 1 अप्रैल, 1951 ई० में प्रारम्भ किया गया है। अब तक 12 पंचवर्षीय योजनाएँ पूर्ण हो चुकी हैं। इस प्रकार आर्थिक नियोजन के 66 वर्ष पूर्ण हो चुके हैं।

पंचवर्षीय योजनाओं के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

(i) राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि करना, जिससे कि गरीबी व निर्धनता का यथासम्भव अन्त किया जा सके– प्रत्येक नीति का उद्देश्य, देश की राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि करना रहा है। इसमे गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाले व्यक्तियों की आय में वृद्धि हुई है, जिसमें उनके रहन-सहन के स्तर में भी सुधार हुआ हैं।

(ii) सीमित संसाधनो का सर्वोत्तम उपयोग करना– भारत में प्राकृतिक संसाधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इसीलिए संसाधनो का सम्पूर्ण विदोहन अभी नहीं हो पाया है। अत: भारत में योजनाओं का प्रमुख उद्देश्य रहा है। उपलब्ध सीमित संसाधनो का योजनाबद्ध संदोहन एवं इनका अधिकतम व श्रेष्ठतम उपयोग करना। योजनाओं में ऐसे कार्यक्रमों को अपनाना कि देश का तीव्र गति से विकास सम्भव हो सके।

(iii) जनसंख्या-वृद्धि को नियन्त्रित करना– भारत की तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या, देश के आर्थिक विकास में बाधक है। इसीलिए प्रत्येक योजना में, जनसंख्या-वृद्धि पर नियन्त्रण के लिए अनेक उपाय अपनाए गए है। योजनाओं का उद्देश्य जन्म-दर में कमी करके जनता के रहन-सहन के स्तर को उँचा उठाना है।

(iv) समाजवादी-समाज की स्थापना तथा आर्थिक समानता लाना– हमारे संविधान में, भारत में समाजवादी समाज की स्थापना का प्रावधान है। आर्थिक नियोजन समाजवाद का एक अभिन्न अंग है। भारत पंचवर्षीय योजनाओं का उद्देश्य भी देश में, समाजवादी समाज की स्थापना है, यानी आर्थिक विकास का लाभ कुछ ही व्यक्तियों को न मिलकर, यह सम्पूर्ण समाज को मिलना चाहिए। इसमे आर्थिक असमानता दूर होगी। अत: समाजवादी विचारकों को व्यावहारिक रूप देने का उद्देश्य से, भारत में आर्थिक नियोजन का मार्ग अपनाया गया है।

(v) पूँजी-निर्माण की गति में तेजी लाना– भारत में पूँजी-निर्माण की गति बहुत धीमी है। पूँजी के अभाव में विकास की प्रक्रिया तेज नहीं हो सकती। आर्थिक योजनाओं का उद्देश्य उपलब्ध सीमति पूँजी का अधिकतम उपयोग तथा पूँजी-निर्माण की दर में वृद्धि करना भी है।

(vi) कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना– योजनाओं का उद्देश्य कल्याणकारी राज्य की स्थापना भी है। इसके लिए योजनावधियों में अग्र कार्यक्रम अपनाए गए हैं— पाँचवीं योजना में प्रारम्भ किया गया, न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम, छठी योजना में भी इस कार्यक्रम पर बल दिया गया था। समाज के निर्धन वर्ग को उचित कीमत पर वस्तुएँ उपलब्ध कराने की दृष्टि से, सार्वजनिक वितरण प्रणाली के द्वारा आवश्यक वस्तुओं के वितरण की व्यवस्था करना तथा इसमें समुचित सुधार करना, मजदूरी व कीमतों में उचित सन्तुलन स्थापित करना, पौष्टिक आहार कार्यक्रमों को व्यापक बनाना, आवास विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में व वृद्धावस्था- सहायता की व्यवस्था, स्वास्थ्य-पेयजल शिक्षा (विशेषकर प्राथमिक) जैसे जन-

कल्याण कार्यों में वृद्धि करना, आदि। विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में बिजली, सड़कें, चिकित्सालयों का विस्तार, आदि, द्वारा जन-सुविधाओं का विस्तार किया जा रहा है, जिससे कि अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति व पिछड़े वर्गों के व्यक्तियों को लाभ पहुँचे।

(vii) क्षेत्रीय असन्तुलन को दूर करना– भारत में आर्थिक विकास की क्षेत्रीय असमानता पाई जाती है। देश में ऐसे क्षेत्र भी हैं, जहाँ प्राकृतिक संसाधन मात्रा में उपलब्ध होने पर भी, इनका पर्याप्त विदोहन नहीं हो पाया है। फलत: इन क्षेत्रों के निवासियों की प्रति व्यक्ति आय, अन्य क्षेत्रों की तुलना में, बहुत कम है। योजनाओं का उद्देश्य इस प्रकार के क्षेत्रीय असन्तुलन को दूर करना भी है।

(viii) रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना– सभी योजनाओं के उद्देश्य रहे हैं-नए-नए उद्योगों की स्थापना, पुराने उद्योगों में सुधार लाना, कृषि में सुधार व विविधीकरण, कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन, आदि। इन सभी कार्यक्रम का उद्देश्य रोजगार के अवसरों में वृद्धि करके, बढ़ती हुई बेरोजगारी को कम करना है।

(ix) सार्वजानिक क्षेत्र का विस्तार करना– समाजवादी समाज की स्थापना की दृष्टि से, योजनाओं का उद्देश्य सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार भी रहा है। इसीलिए सरकारी क्षेत्र में इस्पात, रसायन, उर्वरक, पेट्रोल, भारी मशीन, आदि से संबंधित कारखानों की स्थापना की गई है, सिंचाई संचार व परिवहन के साधनों का विस्तार किया गया है, बैक-बीमा विपणन के क्षेत्र में सरकारी सेवाओं का विस्तार किया गया है, आदि।

(x) अन्य उद्देश्य–

(क) प्राविधिक विकास कुशल श्रमिकों की उपलब्धता– तीव्र गति से अधिक विकास के लिए प्राविधिक ज्ञान एवं तकनीकी विकास की नितान्त आवश्यकता है। अल्पविकसित देशों में, इन दोनों के संबंध में स्थिति बहुत ही पिछड़ी दशा में होती है। योजनावधियों में नई तकनीकी को अपनाने और इसके लिए श्रमिकों को प्रशिक्षित करके कार्यक्रम चलाए जाते हैं।

(ख) विदेशी मुद्रा का अर्जन– नियोजन द्वारा औद्योगिक विकास करके, औद्योगिक, उत्पादों का निर्यात किया जाता है। विदेशी मुद्रा अर्जित की जाती है। इसका देश के आर्थिक विकास हेतु समुचित उपयोग किया जाता है।

भारत में पंचवर्षीय योजनाओं को लागू करने में निम्नलिखित बाधाओं का अनुभव किया जाता है—

(i) बेरोजगारी में वृद्धि– भारत में नियोजन काल में रोजगार के अवसर उपलब्ध कराए जाने के बावजूद भी बेरोजगारी में वृद्धि बढ़ती है। बेरोजगारी के प्रमुख कारणों में जनसंख्या वृद्धि का उदाहरण दिया जा सकता है।

(ii) मुद्रा-स्फीति में वृद्धि– वर्ष 1968-69 ई० को छोड़कर योजनाकाल के शेष सभी वर्षों में मुद्रा-स्फीति बढ़ती गई हैं। अत:योजना की लागत तेजी से बढ़ी है।

(iii) क्षेत्रीय असन्तुलन– भारतीय योजनाएँ क्षेत्रीय असन्तुलन दूर नहीं कर सकीं है। प्रथम योजना के समय जो क्षेत्र राज्य, असम, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, उडीसा आदि पिछडे हुए थे आज भी वे अविकसित हैं। दूसरी ओर महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, गुजरात आदि राज्य, जो पहले से औद्योगिक दृष्टि से विकसित थे, वे आज भी विकसित है।

(iv) आर्थिक सत्ता के संकेंद्रण में वृद्धि– योजना काल में आर्थिक सत्ता के संकेन्द्रण को बढ़ावा मिला। टाटा बिड़ला, ए.सी.सी, जे.के. महेन्द्रा एण्ड टूल आदि के ग्रुपो की सम्पत्तियों में कई गुना वृद्धि हुई है।

(v) आय एवं धन के वितरण में असमानता– आय की असमानताओं में कमी के लिए योजनाकाल में कई प्रभवशाली कदम उठाए गए हैं, जैसे जमींदारी उन्मूमल, प्रिवीपर्स की समाप्ति, प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली की समाप्ति, भूमि सुधार, सहकारी खेती, बैंको का राष्ट्रीयकरण, स्वास्थ्य व शिक्षा सेवाओं का विस्तार आदि। उपर्युक्त प्रयासो के बावजूद भी आय एवं धन की असमानता को अपेक्षित रूप से कम नहीं किया जा सकता हैं, अभी भारत के न्यनूतम 40% भाग को राष्ट्रीय आय का 16% ही प्राप्त होता है। भारत की अपेक्षा पाकिस्तान, श्रीलंका, कोरिया तथा नाइजीरिया आदि की स्थिति बहुत अच्छी है।

(vi) भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति में असमानताएँ– विभिन्न योजनाओं में निर्धारित लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सका है। इसके प्रमुख कारण निम्न प्रकार है—

(क) प्रशासकीय व प्रबन्धकीय योग्यता का अभाव।
(ख) बढ़ता हुआ हीनार्थ प्रबन्ध और इसका मूल्य पर प्रतिकूल प्रभाव।
(ग) असन्तोष जनक औद्योगिक संबंध।
(घ) आवश्यकतानुसार पूँजी निवेश का अभाव।
(ङ) निजी क्षेत्र में सामाजिक उत्तरदायित्व का अभाव।
(च) पर्याप्त जन-सहयोग का अभाव।
(छ) बेरोजगारी में वृद्धि का कारण माना जाता है।

(vii) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में असफलताएँ– सार्वजनिक क्षेत्र में अधिकांश उद्योग घाटे में चल रहे हैं ये उत्पादन लक्ष्य पूरा करने में असमर्थ रहे हैं।

(viii) दोषपूर्ण नियन्त्रण नीति– डॉ. गाडगिल के अनुसार, ''भारतीय योजनाओं में नीति संबंधी ढाँचे का पूर्ण रूप से अभाव रहा है तथा विभिन्न क्षेत्रों में जो नियन्त्रण व नियमन लगे हुए हैं, वे परस्पर असम्बद्ध हैं। प्रत्येक नियन्त्रण एक उद्देश्य की पूर्ति करता है और उसी दृष्टि से संचालित किया जाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि समग्र रूप से अर्थव्यवस्था लगभग एक स्वतंत्र अर्थव्यवस्था के रूप में कार्य करती है।

(ix) देशी तकनीक के विकास का अभाव– भारतीय आर्थिक नियोजन की विफलता का एक कारण विदेशी सहायता पर अत्यधिक निर्भरता रही है। विदेशी सहायता के अधिकाधिक उपयोग के कारण ब्याज का भार अत्यधिक बढ़ गया है।

पंचवर्षीय योजनाओं की उपलब्धियाँ– हमारी अर्थव्यवस्था बहुत बुरी स्थिति में पहुँच गई।

स्वतंत्रता के पश्चात जब देश की बागडोर भारतीयों के हाथ में आई तो अर्थव्यवस्था के पुनरुत्थान हेतु नियोजन का रास्ता अपनाया गया। आर्थिक विकास को गति प्रदान करने 1 अप्रैल 1951 ई० में प्रथम पंचवर्षीय योजना को प्रारम्भ किया गया। सन् 1951 ई० से अब तक दस पंचवर्षीय योजनाएँ तथा छ: वार्षिक योजनाएँ समाप्त हो चुकी हैं तथा वर्तमान में बारहवी पंचवर्षीय योजना क्रियान्वयन में है। नियोजन विकास की इस अवधि में विभिन्न क्षेत्रों में महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ अर्जित की गई हैं जिनमें सकल घरेलू उत्पाद, राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय, आर्थिक समृद्धि दर, कृषि उद्योग, सार्वजनिक सेवाएं आदि प्रमुख हैं।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में प्रति व्यक्ति आय सन् 1950-51 ई० में ₹ 225 थी, सन् 1955-56 ई० में यह घटाकर ₹249 हो गई। कृषि की उपज में 15 प्रतिशत और औद्योगिक उत्पादक में 40 प्रतिशत वृद्धि हुई। द्वितीय योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में 21 प्रतिशत और प्रति व्यक्ति आय में 9 प्रतिशत वृद्धि हुई। सन् 1948-49 ई० के मूल्यो पर प्रति व्यक्ति आय सन् 1951-56 ई० के ₹268 से बढ़कर सन् 1960-61 ई० में ₹293.2 हो गई थी। तृतीय योजनाकाल में हमारा लक्ष्य राष्ट्रीय आय में 5 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का था, लेकिन योजना काल में औसत वृद्धि 2.9 प्रतिशत ही हुई थी। अनुमान तो यह था कि योजना के अन्त तक प्रति व्यक्ति आय ₹385 हो जाएगी, लेकिन वास्तव में यह ₹301 सन् 1948-49 ई० के मूल्यों के आधार पर प्रति व्यक्ति ही हो पाई। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में लगभग सभी क्षेत्रों में वास्तविक उपलब्धि लक्ष्य की तुलना में बहुत कम रही। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में पहली बार न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए राष्ट्रीय विकास कार्यक्रमों को लागू किया गया, जिनमें प्राथमिक शिक्षा, पेयजल, स्वास्थ, भूमिहीन श्रमिकों के लिए आवास व्यवस्था, सड़कें, बिजली, आदि सम्मिलित थे। योजनावधि में राष्ट्रीय की वास्तविक वृद्धि दर 5.2 प्रतिशत रही, जब कि लक्ष्य केवल 4.4 प्रतिशत था। कृषि उत्पादन में वास्तविक वृद्धि दर 4.2 प्रतिशत तथा औद्योगिक उत्पादन में वास्तविक वृद्धि दर 5.9 प्रतिशत रही। छठी पंचवर्षीय योजना में 5.2 प्रतिशत वार्षिक विकास दर का लक्ष्य था, जिसे प्राप्त कर लिया गया। प्रति व्यक्ति आय में वास्तविक वृद्धि दर (वार्षिक) 3.2 प्रतिशत रही, जिसे सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्रों में वास्तविक वृद्धि दर केवल 5.5 प्रतिशत रही। सातवीं पंचवर्षीय योजना मे सकल घरेलू निर्माण दर योजना अवधि में 19.6 प्रतिशत से बढ़कर 27.3 प्रतिशत हो गई है। सकल बचत दर योजनावधि में 18.2 प्रतिशत से बढ़कर 24.6 प्रतिशत हो गई। योजना के वित्तीय प्रबन्ध में 82 प्रतिशत घरेलू स्रोतों का लक्ष्य था, जबकि वास्तविक रूप में कुल वित्त का 74 प्रतिशत एकत्रित हो सका।

आठवीं पंचवर्षीय योजना में साधन लागत पर सकल वृद्धि दर 6.8 प्रतिशत रही, जब कि लक्ष्य केवल 5.6 प्रतिशत था। कृषि के क्षेत्र में विकास की औसत वृद्धि दर 3.9 प्रतिशत रही। नौवीं पंचवर्षीय योजना में विकास दर का लक्ष्य 6.5 प्रतिशत रखा गया था। लेकिन यह प्रतिशत 5.4 ही रहा, योजना में घरेलू बचत का दर का लक्ष्य 26.1 प्रतिशत आंका गया था लेकिन उपलब्धि 23.3 प्रतिशत की रही, औद्योगिक विकास दर का लक्ष्य 8.3 प्रतिशत रखा गया था लेकिन इसकी औसत विकास दर भी 5.06 प्रतिशत ही रही और संशोधित कृषि विकास की दर 3.9 प्रतिशत रखी गई थी लेकिन यह 2.06 प्रतिशत ही रहा। सन् 1999-2000 ई० में गरीबी घटाकर 26.1 प्रतिशत रह गई जो सन् 1993-94 ई० में 36 प्रतिशत थी। सन् 1993-94 ई० में ग्रामीण क्षेत्र में गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों का प्रतिशत 37.3 था जो सन् 1999-2000 ई० में घटकर 27.01 प्रतिशत रहा गया । इसी प्रकार शहरी क्षेत्र में यह 32.4 प्रतिशत से घटकर 23.6 प्रतिशत रहा गया। योजनावधि में विद्युत उत्पादन क्षमता में 19,015 मेगावाट अतिरिक्त उत्पादन क्षमता को ही जोड़ा जा सका है जो लक्ष्य का केवल 47 प्रतिशत ही हैं और आयात-निर्यात क्रमश: 10.4 व 11.8 प्रतिशत दर से बढ़ने चाहिए थे, लेकिन योजनाविधि में इनकी उपलब्धि क्रमश: 9.8 व 6.91 प्रतिशत रही।

योजनावधि में कृषि क्षेत्र में प्रगति को सन्तोषजनक माना जा सकता है इसका प्रमाण यह है कि देश खाद्यान्न तथा कृषिगत कच्चे मालों में आत्मनिर्भता प्राप्त कर चुका है। सिंचित क्षेत्र सन् 1950-51 ई० में मात्र 2.26 करोड़ हैक्टेयर था जो सन् 2001-02 ई० में 8.47 करोड़ हैक्टेयर से अधिक हो गया। नियोजित विकास में औद्योगिक प्रगति के लिए भी भारी पूँजी निवेश किया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उद्योग को प्रधानता प्रदान की गई। सन् 1950-51 ई० में भारत में कोयले का उत्पादन मात्र 323 लाख टन था जो सन् 2005-06 ई० में बढ़कर 4,015 लाख टन हो गया। सीमेन्ट का उत्पादन सन् 1950-51 ई० में 27.3 लाख टन था जो सन् 2005-06 ई० में 63,332 लाख टन हो गया। सन् 1951 ई० में सड़क मार्गों की लम्बाई 4 लाख किमी थी जिसमें 1.6 लाख किमी सड़कें पक्की तथा शेष कच्ची थीं। वर्तमान में सड़क मार्गों की लम्बाई 33.4 लाख किमी है।

योजनावधि में विदेशी व्यापार में भी वृद्धि हुई। सन् 1950-51 ई० में कुल भारत का विदेशी व्यापार ₹1,214 करोड़ का था जिसमें ₹608 करोड़ के आयात तथा ₹606 करोड़ के निर्यात थे। सन् 2005-06 ई० में विदेशी व्यापार बढ़कर ₹11,16,827 करोड़ का हो गया जिसमें ₹4,56,418 करोड़ के निर्यात तथा ₹6,60,4089 करोड़ के आयात थे। सन् 1951 ई० में बैंको की शाखाओं की संख्या मात्र 2,647 थी जो 30 जून 2006 को 69,616 हो गई। बीमा व्यवसाय में भी तेजी से वृद्धि हो रही है।

नियोजन काल में प्राथमिक सामाजिक विकास क्षेत्र में सुधार की प्रवृत्ति भी सन्तोषजनक है। सन् 1950-51 ई० में 11 वर्ष की आयु के विद्यालय जाने वाले वाले बच्चों का प्रतिशत केवल 43 था। प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों व परिवार नियोजन केंद्रों के बारे में तो कोई ज्ञान ही नहीं था, जिनका आज इतना विस्तार हो गया है कि बच्चा-बच्चा इनकी जानकारी रखता है। औसत जीवन-दर 32 वर्ष से बढ़कर 65 वर्ष हो गई है। सन् 1950-51 ई० में मृत्यु-दर 27.4 प्रति हजार थी जो वर्तमान में घटकर 7.6 प्रतिशत हजार है। नियोजन विकास में साक्षरता वृद्धि दर पर भी जोर दिया गया जिससे साक्षरता में निरन्तर और सर्व शिक्षा अभियान के अन्तर्गत सन् 2002-07 ई० के वर्षों में तेजी से वृद्धि हो रही है सन् 2010-11 ई० में आर्थिक वृद्धि दर 9.7 प्रतिशत थी।

दसवी पंचवर्षीय योजना की 8 प्रतिशत विकास दर का लक्ष्य था, और योजना के अन्तिम वर्ष तक आते-आते इस लक्ष्य को लगभग प्राप्त कर लिया गया है।

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में औसत 8 प्रतिशत आर्थिक वृद्धि रही। बारहवीं पंचवर्षीय येजना में वार्षिक विकास दर लक्ष्य 9 प्रतिशत है।

3. भारत में पंचवर्षीय योजनाओं की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 2 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

4. भारत की ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना की विवेचना कीजिए।

उ०– ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (सन् 2007-2012 ई०)– भारत की ग्यारहवीं पंचवर्षीय (सन् 2007-2012 ई०) के दृष्टिकोण-पत्र को राष्ट्रीय विकास परिषद् ने 9 दिसम्बर, 2006 ई० को स्वीकृति प्रदान की। योजना (सन् 2007-2012 ई०) के निर्धारित लक्ष्य निम्नलिखित हैं—

(i) वर्ष 2016-17 तक प्रति व्यक्ति आय दोगुनी हो जाएगी।
(ii) 7 करोड़ नए रोजगार का सृजन किया जाएगा।
(iii) GDP वृद्धि दर का लक्ष्य बढ़ाकर 10 प्रतिशत कर दिया गया।
(iv) साक्षरता दर में वृद्धि का 75 प्रतिशत तक पहुँचाना।
(v) जन्म के समय नवजात शिशु मृत्यु दर को घटाकर 28 प्रति हजार किया जाएगा।
(vi) मातृ-मृत्यु दर को घटाकर प्रति हजार जन्म पर 1 करने का लक्ष्य।
(vii) वर्तमान में स्कूली बच्चों के पढ़ाई छोड़ने की दर 52 प्रतिशत है, इसे घटाकर 20 प्रतिशत किया जाएगा।
(viii) सभी के लिए वर्ष 2009 तक स्वच्छ पेयजल उपलब्ध करना।
(ix) लिंगानुपात दर को सुधारते हुए वर्ष 2011-12 प्रति हजार 935 और वर्ष 2016-17 तक 950 तक प्रति हजार करने का लक्ष्य।
(x) शिक्षित बेरोजगार दर को घटाकर 5 प्रतिशत से कम कर दिया जाएगा।
(xi) वर्ष 2009 तक सभी गाँवों एवं गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों तक बिजली पहुँचाई जाएगी।
(xii) वर्ष 2009 तक 1,000 की जनसंख्या वाले गाँवों को सड़क की सुविधा होगी।
(xiii) वर्ष 2011-12 तक प्रत्येक गाँव ब्राडबैंड से जोड़ दिया जाएँगें।
(xiv) वनीकरण की अवस्था में 5 प्रतिशत की वृद्धि की जाएगी।
(xv) गरीबी अनुपात को 15 प्रतिशतांक तक घटाया जाएगा।
(xvi) नदियों की सफाई के क्रम में शहरों से प्रदूषित जल का उपचार किया जाएगा।
(xvii) विश्व स्वास्थ संगठन द्वारा निर्धारित स्वच्छ वायु में मापदंडो का लागू किया जाएगा।
(xviii) दशकीय जनसंख्या वृद्धि दर को वर्ष 2001-2011 के बीच 16.2 प्रतिशत तक घटाकर लाना।
(xix) नवम्बर 2007 तक प्रत्येक गाँव में दूरभाष की सुविधा उपलब्ध होगी।

5. टिप्पणी कीजिए–

(i) भारत का नीति आयोग **(ii) पंचवर्षीय योजनाओं की उपलब्धियाँ**

उ०– (i) भारत का नीति आयोग– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

(ii) पंचवर्षीय योजनाओं की उपलब्धियाँ– इसके विस्तृत उत्तरी प्रश्न संख्या— 2 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

इकाई-3

20

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद वैश्विक परिदृश्य
(Global Scenario after the World War II)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्‌य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 267 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्‌य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या— 267-268 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. शीत-युद्ध से क्या आशय है?

उ०– शीत-युद्ध 'युद्ध' न होते हुए भी युद्ध की सी परिस्थितियों को बनाए रखने की कला थीं जिसमे प्रत्येक विषय पर विश्व-शान्ति के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि अपने संकीर्ण स्वार्थों को ध्यान में रखकर विचार और कार्य किया जाता था। शीत-युद्ध सोवियत संघ-अमरीकी आपसी संबंधों की वह स्थिति थी जिसमें दोनों पक्ष शान्तिपूर्ण राजनयिक संबंध रखते हुए भी परस्पर शत्रुभाव रखते थे तथा शस्त्र-युद्ध के अतिरिक्त अन्य सभी उपायों से एक-दूसरे की स्थिति और शक्ति को निरन्तर दुर्बल करने का प्रयत्न करते थे। यह एक ऐसा युद्ध था जिसका रणक्षेत्र मानव का मस्तिष्क था, यह मनुष्य के मनों में लड़ा जाने वाला युद्ध था। इसे स्नायु युद्ध भी कहा जा सकता है। इसमें रणक्षेत्र का सक्रिय युद्ध तो नहीं होता, परन्तु विपक्षी राज्यों के सभी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक संबंधों में शत्रुता भरे तनाव की स्थिति रहती थी। शीत युद्ध वस्तुत: युद्ध के नर-संहारक दुष्परिणामों से बचते हुए युद्ध द्वारा प्राप्त होने वाले समस्त उद्देश्यों को प्राप्त करने का एक नूतन शस्त्र था। शीत-युद्ध एक प्रकार का वाक-युद्ध था जिसे कागज के गोलों, पत्र-पत्रिकाओं, रेडियों तथा प्रचार साधनों से लड़ा गया। इसमें प्रचार द्वारा विरोधी गुट के देशों की जनता के विचारों को प्रभावित करके उनके मनोबल को क्षीण करने का प्रयत्न किया गया तथा अपनी श्रेष्ठता, शक्ति और न्यायप्रियता का तार्किक दावा किया जाता था। वस्तुत: शीत-युद्ध एक प्रचारात्मक युद्ध था जिसमें एक महाशक्ति दूसरे के खिलाफ घृणित प्रचार का सहारा लेती थी। यह एक प्रकार का कूटनीतिक युद्ध भी था जिसमें शत्रु को अकेला करने और मित्रों की खोज करने की चतुराई का भी प्रयोग किया गया।

2. शीत-युद्ध के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर कोई चार मुख्य प्रभाव बताइए।

उ०– शीत-युद्ध के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर चार मुख्य प्रभाव निम्नलिखित हैं—

(i) सैनिक संधियों एवं सैनिक गठबंधनों का बाहुल्य।
(ii) आणविक युद्ध की संभावना का भय।
(iii) विश्व का दो गुटों में विभाजित हो जाना।
(iv) आतंक और अविश्वास के दायरे में विस्तार।

3. शीत-युद्ध के कोई चार प्रमुख कारण बताइए।

उ०– शीत-युद्ध के कोई चार कारण निम्नलिखित हैं—

(i) सोवियत संघ द्वारा याल्टा समझौते की अवहेलना।
(ii) ईरान से सोवियत सेना का न हटाया जाना।
(iii) सोवियत संघ द्वारा बाल्कन समझौते का अतिक्रमण।
(iv) टर्की पर सोवियत संघ का दबाव।

4. शीत-युद्ध का प्रारंभ कब से माना जाता है? संक्षेप में बताइए।

उ०– द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व यद्यपि अमरीका और सोवियत संघ में बुनियादी मतभेद थे फिर भी युद्ध के दौरान उनमें मित्रतापूर्ण संबंध दिखाई पड़ते हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति के पश्चात् सोवियत संघ-अमरीकी संबंधों में कटुता, तनाव, वैमनस्य और मनोमालिन्य में अनवरत वृद्धि हुई। दोनों महाशक्तियों में राजनीतिक प्रचार का तुमुल संग्राम छिड़ गया और दोनों एक-दूसरे का विरोध, आलोचना और सर्वत्र अपना प्रचार करने में लग गए। दोनों एक दूसरे को कूटनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक राजनीतिक और सैनिक मोर्चे पर भी पराजित करने में संलग्न हो गए और चारों ओर भय, अविश्वास और तनाव का वातावरण बन गया। इस प्रकार द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् एक नए युग का प्रादुर्भाव हुआ जिसे 'सशस्त्र शांति का युग' अथवा 'शीत युद्ध' कहा जा सकता है।

5. तनाव शैथिल्य से आप क्या समझते हैं?

उ०– अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलते समीकरण में सोवियत संघ अमरीकी संबंधों में सन् 1962 ई० के क्यूबा संकट के उपरान्त एक नया मोड़ आया; शीत युद्ध के वैमनस्यपूर्ण संबंध सौमनस्य और मधुर-मिलन की दिशा में बढ़ने लगे। परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों में तनाव, वैमनस्य, मनोमालिन्य, प्रतिस्पर्धा और अविश्वास के संबंध तनाव-शैथिल्य, मित्रता,

सामजस्य, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और परस्पर विश्वास में परिवर्तित होने लगे। शीत युद्ध के नकारात्मक संबंध आपसी विचार-विमर्श की उत्कण्ठा, समझौतावादी दृष्टिकोण एवं मैत्रीपूर्ण सहयोग की ओर उन्मुख होने लगे। अमरीका और सोवियत संघ के संबधों में इस नवीन परिवर्तन को तनाव शैथिल्य या दितान्त के नाम से जाना जाता है।

6. शीत-युद्ध की शिथिलता के कोई चार प्रमुख कारण बताइए।

उ०– शीत-युद्ध की शिथिलता के चार प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(i) शीत-युद्ध का तनाव पूर्ण वातावरण।
(ii) आणविक आतंक और आणविक युद्ध का भय।
(iii) शीत-युद्ध की शिथिलता सोवियत संघ के आर्थिक विकास की आवश्यकताएँ पूरी करता था।
(iv) यूरोपीय राष्ट्र युद्ध की परिकल्पना से भयभीत थे।

7. शीत-युद्धोत्तर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की दो प्रवृत्तियाँ बताइए।

उ०– शीत-युद्धोत्तर अंतराष्ट्रीय राजनीति की प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(i) महाशक्तियों को आचरण में विनय और सद्व्यवहार के लक्षण– अमरीकी और सोवियत गुट के राष्ट्र एक-दूसरे के प्रति सभ्य राष्ट्रों की भाँति व्यवहार करने लगे, पारस्परिक सद्व्यवहार का पालन करने लगे और उनके आचरण में विनय के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे।

(ii) सहयोगी अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का अनुभव– दोनों गुटों के राष्ट्रों के मध्य मनोमालिन्य समाप्त होने लगा तथा व्यापार, आवागमन, संचार विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्रों में सामान्य तकनीकी सहयोग विकसित होने लगे।

8. एक ध्रुवीय-विश्व पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उ०– विश्व में मानव शक्ति संसाधन, प्राकृतिक संसाधन, औद्योगिक एवं प्रौद्योगिकी क्षमता, आर्थिक क्षमता, तथा सैनिक शक्ति एवं विज्ञान प्रोद्यौगिकी का एक देश विशेष में ध्रुवीकरण को एक ध्रुवीय-विश्व कहते हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद विश्व दो शक्ति गुटों में विभाजित हो गया था, जिसमें एक गुट का नेता संयुक्त राज्य अमरीका और दूसरे गुट का नेता सोवियत संघ था। परंतु 20 वीं शताब्दी के अंत में सोवियत संघ के विघटन के बाद ऐसा लगने लगा कि विश्व में एकमात्र महानतम शक्ति है और वह है संयुक्त राष्ट्र अमरीका। वह विश्व का एकमात्र पुलिसमैन, दादा या महानायक है। उसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता है। उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है, उसे कोई ललकार नहीं सकता है। आज अमरीका चाहता है कि प्रत्येक देश उसके समक्ष नतमस्तक हों। परंतु ऐसा संभव नहीं क्योंकि जनसंख्या एवं उससे जनित मानव शक्ति संसाधन, प्राकृतिक संसाधन, औद्योगिक एवं प्रौद्योगिक क्षमता अपने वृहद अर्थ में आर्थिक शक्ति आदि कुछ ऐसे तत्व हैं जहाँ एक ध्रुवीयता का अंत हो जाता है और विश्व बहुध्रुवीय हो जाता है।

9. समकालीन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उदीयमान दो नए संगठनों के बारे में संक्षेप में बताइए।

उ०– समकालीन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उदीयमान दो नए संगठन निम्नलिखित हैं—

(i) दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (सार्क)– यह दक्षिण एशिया के आठ देशों का आर्थिक और राजनीतिक संगठन है। संगठन के सदस्य देशों की जनसंख्या को देखा जाए तो यह किसी भी क्षेत्रीय संगठन की तुलना में ज्यादा प्रभावशाली है। इसकी स्थापना 8 दिसम्बर 1985 ई० को भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, श्रीलंका, नेपाल, मालदीव और भूटान द्वारा मिलकर की गई थी। अप्रैल 2007 में संघ के 14 वें शिखर सम्मेलन में अफगानिस्तान इसका आठवाँ सदस्य बना।

(ii) एशिया प्रशान्त आर्थिक सहयोग संगठन (एपेक)– यह प्रशान्त महासागरीय परिधि के 21 सदस्य देशों एवं अर्थव्यवस्थाओं में आर्थिक सहयोग एवं मुक्त व्यापार को बढ़ावा देने का एक साझा आर्थिक मंच है। इस आर्थिक संगठन की स्थापना सन् 1989 में की गई थी।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. शीत-युद्ध से आप क्या समझते हैं? इसके प्रमुख कारण बताइए।

उ०– शीत-युद्ध– इसके लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या—1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

शीत-युद्ध के कारण–द्वितीय महायुद्ध ने दो महाशक्तियों संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ को जन्म दिया। महायुद्ध की समाप्ति के बाद दोनों महाशक्तियाँ युद्ध से प्राप्त लाभ की स्थिति को बनाए रखना चाहती थी और अपने प्रभाव के विस्तार के लिए उत्सुक थीं। उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति के मार्ग में एक शक्ति दूसरे के लिए बाधक थी। दोनों की पक्षों को एक-दूसरे से कुछ शिकायतें थीं। वे शिकायतें ही मूल रूप में शीत-युद्ध की उत्पत्ति का कारण थीं।

शीत-युद्ध के कारण– शीत-युद्ध के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(i) ऐतिहासिक कारण– कतिपय पर्यवेक्षक शीत-युद्ध का कारण सन् 1917 ई० की बोल्शेविक क्रान्ति में ढूँढते हैं। सन् 1917 ई० की बोल्शेविक क्रान्ति के समय से ही पश्चिमी राष्ट्र सोवियत संघ को समाप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे, क्योंकि

साम्यवाद एक विश्वव्यापी आन्दोलन था जिसका अन्तिम उद्देश्य पूँजीवाद को समाप्त करके पूरे विश्व में साम्यवाद का प्रसार करना था। ब्रिटेन ने सोवियत संघ को सन् 1924 ई० और अमरीका ने उसे सन् 1933 ई० में ही मान्यता दी थी। पश्चिमी देश साम्यवादी रूस को नाजी जर्मनी की अपेक्षा अधिक आशंका की दृष्टि से देखते रहे। पश्चिमी देश हिटलर को सोवियत संघ पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित करते रहे।

(ii) सोवियत संघ द्वारा याल्टा समझौते की अवहेलना– याल्टा सम्मेलन सन् 1945 ई० में रूजवेल्ट, स्टालिन और चर्चिल ने कुछ समझोते किए थे। पौलेण्ड में सोवियत संघ द्वारा संरक्षित लुबनिन शासन और पश्चिमी देशों द्वारा संरक्षित लन्दन शासन के स्थान पर स्वतंत्र और निष्पक्ष निर्वाचन पर आधारित एक प्रतिनिध्यात्मक शासन स्थापित करने का निर्णय लिया। लेकिन जैसे ही युद्ध का अन्त निकट दिखाई देने लगा स्टालिन ने अपने वचनों से मुकरना प्रारम्भ कर दिया। उसने अमरीकी और ब्रिटिश प्रेक्षकों को पोलेण्ड में प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी तथा पोलेण्ड की जनतंत्रवादी पार्टियों को मिलाने की कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। उसने पोलैण्ड में अपनी संरक्षित लुबनिन सरकार को लादने का प्रयत्न किया। हंगरी, बुल्गारिया, रोमानिया और चेकोस्लोवाकिया में भी सोवियत संघ द्वारा युद्ध–विराम समझौतों तथा याल्टा व पोट्सडाम संधियों का उल्लघन किया गया। सोवियत संघ ने इन सभी देशों में लोकतंत्र की पुनर्स्थापना में मित्र–राष्ट्रों के साथ सहयोग करने से इनकार कर दिया और सोवियत संघ समर्थक सरकारें स्थापित कर दीं। सोवियत संघ की जापान के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने की अनिच्छा और उसके द्वारा मित्र राष्ट्रों को साइबेरिया में अड्डों की सुविधा प्रदान करने में हिचकिचाहट ने भी पश्चिमी राष्ट्रों के रूस के प्रति सन्देह को बढ़ाया । मंचूरिया स्थित सोवियत फौजों ने सन् 1946 ई० के प्रारम्भ में राष्ट्रवादी सेनाओं को तो वहाँ प्रवेश तक नहीं करने दिया जबकि साम्यवादी सेनाओं को प्रवेश संबधी सुविधाएँ प्रदान की और उनको संपूर्ण युद्ध सामग्री सौंप दी, जो जापानी सेना भागते समय छोड़ गई थी। याल्टा समझौतों के विरुद्ध की गई सोवियत कार्यवाहियों से पश्चिमी राष्ट्रों के हृदय में सोवियत संघ के प्रति संदेह उत्पन्न होने लगा।

(iii) ईरान से सोवियत सेना का न हटाया जाना– द्वितीय विश्व–युद्ध के दौरान सोवियत सेना ने ब्रिटेन की सहमति से उत्तरी ईरान पर अधिकार जमा लिया था। यद्यपि युद्ध की समाप्ति के बाद आंग्ल–अमरीकी सेना तो दक्षिणी ईरान से हटा ली गई, पर सोवियत संघ ने अपनी सेना हटाने से इनकार कर दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ के दबाव के फलस्वरूप ही सोवियत संघ ने बाद में वहाँ से अपनी सेनाएँ हटाईं। इससे भी पश्चिमी देश सोवियत संघ से नाराज हो गए।

(iv) युद्धोत्तर उद्देश्यों में अन्तर– अमरीका और सोवियत संघ के युद्धोत्तर उद्देश्यों में भी स्पष्ट भिन्नता थीं। भविष्य में जर्मनी के विरुद्ध सुरक्षित रहने के लिए सोवियत संघ, यूरोप के देशों को सोवियत प्रभाव क्षेत्र में लाना चाहता था, तो पश्चिमी देशों के मत में जर्मनी की पराजय से सोवियत संघ के अत्यंत शक्तिशाली हो जाने का भय था। यह देश सोवियत संघ के बढ़ते प्रभाव क्षेत्र को सीमित रखने के लिए कटिबद्ध थे। इसके लिए आवश्यक था कि पूर्वी यूरोप के देशों में लोकतांत्रिक शासनों की स्थापना हो जिसके लिए स्वतंत्र निर्वाचन कराने आवश्यक थे। स्टालिन के मत में इन देशों में स्थापित साम्यवादी सरकारें ही वास्तविक जनतांत्रिक सरकारें थीं।

(v) द्वितीय मोर्चे का प्रश्न– द्वितीय विश्व–युद्ध के दौरान जब हिटलर ने सोवियत संघ को भारी जन–धन की क्षति पहुँचाई तो सोवियत नेता स्टालिन ने मित्र–राष्ट्रों से यूरोप में नाजी फौजों को विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोल देने का अनुरोध किया ताकि नाजी सेना का रूसी सीमा में पड़ा दबाव कम हो सके। परन्तु रूजवेल्ट और चर्चिल महीनों तक इस अनुरोध को टालते रहे। सोवियत इतिहासकारों के मत में यह देरी अमरीका और ब्रिटेन की योजनाबद्ध नीति का परिणाम थी जिससे नाजी जर्मनी, साम्यवादी रूस को पूर्णतया ध्वस्त कर दे। इससे स्टालिन को यह समझने में देर नहीं लगी कि पश्चिमी देशों की आन्तरिक भावना सोवियत संघ को विनष्ट हुआ देखने की हैं।

(vi) सोवियत संघ द्वारा बाल्कन समझौते का अतिक्रमण– सोवियत संघ ने अक्टूबर 1944 ई० में चर्चिल के पूर्वी यूरोप के विभाजन के सुझाव को स्वीकार कर लिया था। इसके अन्तर्गत यह निश्चित हुआ था कि सोवियत संघ का बल्गारिया तथा रूमानिया में प्रभाव स्वीकार किया जाए और यही स्थिति यूनान में ब्रिटेन की स्वीकार की जाए। हंगरी और यूगोस्लाविया में दोनों का बराबर प्रभाव माना जाए, किन्तु युद्ध की समाप्ति के बाद इन देशों में बाल्कन समझौते की उपेक्षा करते हुए सोवियत संघ ने साम्यवादी दलों को खुलकर सहायता दी और वहां सर्वहारा की तानाशाही स्थापित करा दी गई। इससे पश्चिमी देशों को नाराज हो जाना स्वाभाविक था।

(vii) अणु बम का आविष्कार– शीत–युद्ध के सूत्रपात का एक अन्य कारण अणु बम का आविष्कार था। यह कहा जाता है कि अणु बम ने हिरोशिमा का ही विध्वंस नहीं किया, अपितु युद्धकालीन मित्र–राष्ट्रों की मित्रता का भी अन्त कर दिया। संयुक्त राज्य अमरीका में अणु बम पर अनुसन्धान कार्य और उसका परीक्षण बहुत पहले से चल रहा था। अमरीका ने इस अनुसन्धान की प्रगति से ब्रिटेन को तो पूरा परिचित रखा, लेकिन सोवियत संघ से इसका रहस्य जान–बूझकर गुप्त रखा गया। सोवियत संघ को इससे जबर्दस्त सदमा पहुँचा और उसने इसे एक घोर विश्वासघात माना। उधर अमरीका और ब्रिटेन को अणु बम के कारण यह अभिमान हो गया कि अब उन्हें सोवियत सहायता की कोई आवश्यकता नहीं है। अतएव इस कारण भी दोनों पक्षों में मन–मुटाव बढ़ा।

(viii) पश्चिम की सोवियत विरोधी नीति और प्रचार अभियान– पश्चिम की सोवियत विरोधी नीति और प्रचार अभियान ने जलती आहुति में घी का काम किया। 18 अगस्त, 1945 ई० को बर्नेज (अमरीकी राज्य सचिव) तथा बेविन (ब्रिटिश विदेश मंत्री) ने अपनी विज्ञप्ति में सोवियत नीति के संदर्भ में कहा कि ''हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप के संस्थापन को रोकना चाहिए।'' 5 मार्च, 1946 ई० को अपने फुल्टन भाषण में चर्चिल ने कहा कि ''बाल्टिक में स्टेटिन से लेकर एड्रियाटिक में ट्रीस्टे तक, महाद्वीप (यूरोप) में एक लौह आवरण छा गया है। ये सभी प्रसिद्ध नगर और सोवियत क्षेत्र में बसने वाली जनता न केवल सोवियत प्रभाव में हैं वरन् सोवियत नियंत्रण में है।'' उसने आगे कहा कि ''स्वतंत्रता की दीप-शिखा प्रज्वलित रखने एवं ईसाई सभ्यता की सुरक्षा के लिए'' एक आंग्ल-अमरीकी गठबन्धन की आवश्यकता है। चर्चिल के फुल्टन भाषण के दूरगामी परिणाम हुए। अप्रैल 1946 के उपरान्त दोनों पक्षों के संबंध में कहा गया कि ''ब्रिटेन के युद्धकालीन नेता के फुल्टन भाषण ने शीत-युद्ध का वास्तव में प्रारम्भ न ही किया हो, तो भी वह प्रथम बुलन्द उद्घोषणा थी।''

(ix) टर्की पर सोवियत संघ का दबाव– युद्ध के तुरन्त बाद सोवियत संघ ने टर्की पर कुछ भू-प्रदेश और वास्फोरस में नाविक अड्डा बनाने का अधिकार देने के लिए दबाव डालना शुरु किया। परन्तु पश्चिमी राष्ट्र इसके विरुद्ध थे। जब टर्की पर सोवियत संघ का हस्तक्षेप बढ़ने लगा तो अमरीका ने उसे चेतावनी दी कि टर्की पर किसी भी आक्रमण को सहन नहीं किया जाएगा और मामला सुरक्षा परिषद् में रखा जाएगा।

(x) यूनान में सोवियत संघ का हस्तक्षेप– सन् 1944 ई० में एक समझौते के द्वारा यूनान ब्रिटेन के अधिकार क्षेत्र में स्वीकार कर लिया गया था। द्वितीय महायुद्ध में ब्रिटेन की स्थिति बहुत कमजोर हो गई थी जिससे ब्रिटेन ने यूनान के अपने सैनिक-अड्डे समाप्त करने की घोषणा कर दी। यूनान के शक्ति-शून्य प्रदेश को भरने के लिए पड़ोसी साम्यवादी देशों—अल्बानिया, यूगोस्लाविया, बुल्गारिया आदि द्वारा सोवियत संघ की प्रेरणा से यूनानी कम्युनिस्ट छापामारों को परम्परागत राजतंत्री शासन उखाड़ फेंकने के लिए सहायता दी जाने लगी। परिणामस्वरूप ट्रूमैन सिद्धान्त और मार्शल योजना के तत्वाधान में अमरीका का हस्तक्षेप किया जाना अपरिहार्य हो गया अन्यथा यूनान का साम्यवादी खेमे में जाना निश्चित सा ही हो गया था।

(xi) सोवियत संघ द्वारा अमरीका विरोधी प्रचार अभियान– द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के कुछ समय पूर्व से ही प्रमुख सोवियत पत्रों में अमरीका की नीतियों के विरुद्ध घोर आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होने लगे। इस 'प्रचार अभियान' से अमरीका के सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रों में बड़ा विक्षोभ फैला और अमरीका ने अपने यहाँ बढ़ती हुई साम्यवादी गतिविधियों पर अंकुश लगाना प्रारम्भ कर दिया ताकि अमरीका में साम्यवाद के प्रभाव को बढ़ने से रोका जा सके। सोवियत संघ ने अमरीका में भी साम्यवादी गतिविधियों को प्रेरित किया। सन् 1945 ई० प्रारम्भ में 'स्ट्रेटजिक सर्विज' के अधिकारियों को यह ज्ञात हुआ कि उनकी संस्था के गुप्त दस्तावेज साम्यवादी संरक्षण में चलने वाले पत्र 'अमेरेशिया' के हाथों में पहुँच गये हैं। सन् 1946 ई० में 'कैनेडियन रॉयल कमीशन' की रिपोर्ट में कहा गया कि कनाडा का साम्यवादी दल 'सोवियत संघ की एक भुजा' हैं। ऐसी स्थिति में अमरीकी प्रशासन साम्यवादी सोवियत संघ के प्रति जागरूक हो गया और उन्होंने साम्यवाद का हौवा खड़ा कर दिया। सोवियत संघ ने अमरीका की इस कार्यवाही को अपने विरुद्ध समझा और उसने भी अमरीका की कटु आलोचना करने का अभियान प्रारम्भ कर दिया, परिणामस्वरूप शीत-युद्ध में वृद्धि हुई।

(xii) शक्ति संघर्ष– मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, ''अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति-संघर्ष की राजनीति है।'' विश्व में जो भी परम शक्तिशाली राष्ट्र होते हैं उनमें प्रधानता के लिए संघर्ष होना अनिवार्य होता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद सोवियत संघ तथा अमरीका ही दो शक्तिशाली राज्यों के रूप में उदय हुए, अत: इनमें विश्व-प्रभुत्व स्थापित करने के लिए आपसी संघर्ष होना अनिवार्य था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यह माना हुआ सिद्धान्त है कि शक्ति-राजनीति को सैद्धान्तिक आदर्शों का जामा पहनाया जाता है। अत: कई विचारक तो शीत-युद्ध को पुरानी शक्ति-संतुलन की राजनीति का नया संस्करण मानते हैं, जिसमें दोनों परम शक्तियाँ अपना प्रभुत्व बढ़ाने में जी-जान से लगी हुई थीं। धीरे-धीरे इसे सैद्धान्तिक आधार दे दिया गया।

(xiii) सोवियत संघ की लैण्ड-लीज सहायता बन्द किया जाना– लैण्ड-लीज एक्ट के अन्तर्गत अमरीका द्वारा सोवियत संघ को जो आशिंक आर्थिक सहायता दी जा रही थी उससे वह असन्तुष्ट तो था ही क्योंकि यह सहायता अत्यंत अल्प थी, किन्तु इस अल्प सहायता को भी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद एकाएक बन्द कर दिया जिससे सोवियत संघ का नाराज होना स्वाभाविक था।

(xiv) हित-संघर्ष– शीत-युद्ध वस्तुत: राष्ट्रीय हितों का संघर्ष था। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त अनेक मुद्दों पर सोवियत संघ और अमरीका के स्वार्थ आपस में टकराते थे। ये विवादास्पद मुद्दे थे— जर्मनी का प्रश्न, बर्लिन का प्रश्न, पूर्वी यूरोप में साम्यवादी शासन की स्थापना करना आदि।

(xv) बर्लिन की नाकेबन्दी– सोवियत संघ द्वारा लन्दन प्रोटोकोल (जून 1948)का उल्लंघन करते हुए बर्लिन की नाकेबन्दी कर दी गई। इससे पश्चिमी देशों ने सुरक्षा परिषद् में सोवियत संघ की नाकेबन्दी के विरुद्ध शिकायत की और इस कार्यवाही को शान्ति के लिए घातक बताया।

(xvi) सैद्धान्तिक या वैचारिक संघर्ष– शीत-युद्ध एक प्रकार का वैचारिक या सैद्धान्तिक संघर्ष भी था। सैद्धान्तिक दृष्टि से अमरीका और सोवियत संघ में बहुत अधिक अन्तर था। अमरीका एक पूँजीवादी, उदार, लोकतंत्रात्मक देश है जबकि

सोवियत संघ मार्क्सवादी और एकदलीय व्यवस्था वाला देश था। विश्व के मजदूरों एक हो जाओ का साम्यवादी घोषणा-पत्र विश्व से बुर्जुआ पूँजीवादी व्यवस्था को नष्ट करने का खुला ऐलान था। **एम०जी० गुप्ता** के शब्दों में, ''शीत-युद्ध अपनी प्रभुसत्ता की स्थापना के लिए अपनी विचारधारा को थोपने के लिए किया जाता है।''

(xvii) सोवियत संघ द्वारा वीटो का बार-बार प्रयोग– सोवियत संघ ने अपने वीटो के अनियन्त्रित प्रयोगों द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों में बाधाएँ डालना प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि वह संयुक्त राष्ट्र संघ को विश्व शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने वाली एक विश्व-संस्था न मानकर अमरीका के विदेश विभाग का एक अंग समझता था। इसलिए वीटो के बल पर उसने अमरीका और पश्चिमी देशों के लगभग प्रत्येक प्रस्ताव को निरस्त करने की नीति अपना ली। सोवियत संघ द्वारा वीटो के इस प्रकार दुरुपयोग करने से पश्चिमी राष्ट्रों की यह मान्यता बन गई कि वह इस संगठन को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील है। इस कारण पश्चिमी राष्ट्र सोवियत संघ की कटु आलोचना करने लगे, जिसके परिणामस्वरूप उनमें परस्पर विरोध और तनाव का वातावरण और अधिक विकसित हो गया।

2. शीत-युद्ध की प्रकृति एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इसके प्रभाव बताइए।

उ०– **शीत-युद्ध की प्रकृति–** इसके लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या—1 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर शीत-युद्ध के प्रभाव– विश्व राजनीति को शीत-युद्ध ने अत्यधिक प्रभावित किया है। इसने विश्व में भय ओर आतंक के वातावरण को जन्म दिया जिससे शस्त्रों की होड़ बढ़ी। इसने संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्था को पंगु बना दिया और विश्व को दो गुटों में विभक्त कर दिया। शीत-युद्ध के प्रभाव निम्न प्रकार हैं—

(i) सैनिक सन्धियों एवं सैनिक गठबन्धनों का बाहुल्य– शीत-युद्ध ने विश्व में सैनिक सन्धियों एवं सैनिक गठबन्धनों को जन्म दिया। नाटो, सीटो, सेण्टो तथा वारसा पैक्ट जैसे सैनिक गठबन्धनों का प्रादुर्भाव शीत-युद्ध का ही परिणाम था। इसके कारण शीत-युद्ध में उग्रता आई, इन्होंने नि:शस्त्रीकरण की समस्या को और अधिक जटिल बना दिया। वस्तुत: इन सैनिक संगठनों ने प्रत्येक राज्य को द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद निरन्तर युद्ध की स्थिति में रख दिया।

(ii) आणविक युद्ध की सम्भावना का भय– सन् 1945 ई० आणविक शस्त्र का प्रयोग किया गया था। शीत युद्ध के वातावरण में यह महसूस किया जाने लगा कि अगला युद्ध भयंकर आणविक युद्ध होगा। क्यूबा संकट के समय आणविक युद्ध की सम्भावना बढ़ गई थी। अब लोगों को आणविक आतंक मानसिक रूप से सताने लगा। आणविक शस्त्रों के निर्माण की होड़ में वृद्धि हुई। आणविक शस्त्रों के परिप्रेक्ष्य में परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की संरचना ही बदल गई।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सैनिक दृष्टिकोण का पोषण– शीत-युद्ध से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सैनिक दृष्टिकोण का पोषण हुआ। अब शान्ति की बात करना भी सन्देहास्पद लगता था। अब 'शान्ति' का अर्थ 'युद्ध के सन्दर्भ' में लिया जाने लगा। ऐसी स्थिति में शान्तिकालीन युग के अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का संचालन दुष्कर कार्य समझा जाने लगा।

(iv) विश्व का दो गुटों में विभाजित होना– शीत-युद्ध के कारण विश्व राजनीति का स्वरूप द्विपक्षीय बन गया। संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के दो पृथक-पृथक गुटों का नेतृत्व करने लगा गए। अब विश्व की समस्याओं को इसी गुटबन्दी के आधार पर आँका जाने लगा जिससे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ उलझनपूर्ण बन गईं। चाहे कश्मीर समस्या हो अथवा कोरिया समस्या, अफगानिस्तान समस्या हो या अरब-इजराइल संघर्ष, अब उस पर गुटीय स्वार्थों के परिप्रेक्ष्य में सोचने की प्रवृत्ति बढ़ी।

(v) सुरक्षा परिषद् को लकवा लग जाना– शीत-युद्ध के कारण सुरक्षा परिषद् को लकवा लग गया। सुरक्षा परिषद् जैसी संस्था, जिसके कन्धों पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने का त्वरित निर्णय लेने का भार डाला गया था सोवियत संघ और अमरीका के, पूरब और पश्चिम के संघर्ष का अखाड़ा बन गई। इसमें महाशक्तियाँ अपने परस्पर विरोधी स्वार्थों के कारण विभिन्न शान्ति प्रस्तावों को वीटो द्वारा बेहिचक रद्द करती रहती थीं; वस्तुत: यहाँ इतना अधिक विरोध और वीटो का प्रयोग दिखाई देता था कि इसे संयुक्त राष्ट्र संघ के स्थान पर विभक्त और विरोधी दलों में बँटा हुआ राष्ट्र संघ कहना अधिक उपयुक्त है।

(vi) आतंक और अविश्वास के दायरे में विस्तार– शीत-युद्ध ने राष्ट्रों को भयभीत किया, आतंक और अविश्वास का दायरा बढ़ाया। अमरीका और सोवियत संघ के मतभेदों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में गहरे तनाव, वैमनस्य, मनोमालिन्य, प्रतिस्पर्द्धा और अविश्वास की स्थिति आ गई। विभिन्न राष्ट्र और जनमानस इस बात से भयभीत रहने लगे कि कब एक छोटी-सी चिनगारी तीसरे विश्व-युद्ध का कारण बन जाए? शीत-युद्ध ने 'युद्ध के वातावरण' को बनाए रखा। पं० नेहरू ने ठीक ही कहा था कि हम लोग निलम्बित मृत्युदण्ड के युग में रह रहे हैं।

(vii) शस्त्रीकरण की अविरल प्रतिस्पर्द्धा– शीत-युद्ध ने शस्त्रीकरण की होड़ को बढ़ावा दिया जिसके कारण विश्व-शान्ति और नि:शस्त्रीकरण की योजनाएँ धूमिल हो गईं। **कैनेडी** ने कहा था कि ''शीत-युद्ध ने शस्त्रों की शक्ति, शस्त्रों की होड़ और विध्वंसक शस्त्रों की खोज को बढ़ावा दिया है। अरबों डॉलर शस्त्र प्रविधि और शस्त्र-निर्माण पर प्रति वर्ष खर्च किए जाते हैं।''

(viii) **संयुक्त राष्ट्र संघ को पंगु करना–** शीत-युद्ध के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे विश्व संगठन के कार्यों में भी अवरोध उत्पन्न हुआ और महाशक्तियों के परस्पर विरोधी दृष्टिकोण के कारण संघ कोई कठोर कार्यवाही नहीं कर सका। यहाँ तक कि कई बार तो संघ की स्थिति केवल एक मूकदर्शक से बढ़कर नहीं रही। संयुक्त राष्ट्र का मंच महाशक्तियों की राजनीति का अखाड़ा बन गया और इसे शीत-युद्ध के वातावरण में राजनीतिक प्रचार का साधन बना दिया गया। एक पक्ष ने दूसरे पक्ष द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावों का विरोध किया जिससे संयुक्त राष्ट्र संघ वाद-विवाद का ऐसा मंच बन गया जहाँ सभी भाषण देते हैं, किंतु सुनता कोई भी नहीं। शीत-युद्ध के वातावरण में वाद-विवाद बहरों के संवाद बनकर रह गए।

(ix) **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यान्त्रिकीकरण–** शीत-युद्ध का स्पष्ट अर्थ लिया जाता है कि दुनिया दो भागों में विभक्त है— एक खेमा देवताओं का है तो दूसरा दानवों का, एक तरफ काली भेड़े हैं तो दूसरी तरफ सभी सफेद भेड़ें हैं। इनके मध्य कुछ भी नहीं है। इससे जहाँ इस दृष्टिकोण का विकास हुआ कि जो हमारे साथ नहीं है वह हमारा विरोधी है वहीं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एकदम यान्त्रिकीकरण हो गया।

(x) **जनकल्याण योजनाओं को आघात–** शीत-युद्ध से जनकल्याण की योजनाओं को गहरा आघात पहुँचा। दोनों महाशक्तियाँ शक्ति की राजनीति में विश्वास रखने के कारण तीसरी दुनिया के देशों में व्याप्त समस्याओं के प्रति उपेक्षापूर्ण रवैया अपनाती रहीं।

3. तनाव शैथिल्य का अर्थ व परिभाषा बताइए तथा उन विविध कारणों को भी बताइए जिनके कारण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में तनाव शैथिल्य का जन्म हुआ।

उ०– **तनाव शैथिल्य या दितान्त का अर्थ एवं परिभाषा–** अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलते समीकरण में सोवियत संघ अमरीकी संबंधों में सन् 1962 ई० के क्यूबा संकट के उपरान्त एक नया मोड़ आया; शीत युद्ध के वैमनस्यपूर्ण संबंध सौमनस्य और मधुर-मिलन की दिशा में बढ़ने लगे। परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों में तनाव, वैमनस्य, मनोमालिन्य, प्रतिस्पर्धा और अविश्वास के संबंध तनाव-शैथिल्य, मित्रता, सामजस्य, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और परस्पर विश्वास में परिवर्तित होने लगे। शीत युद्ध के नकारात्मक संबंध आपसी विचार-विमर्श की उत्कण्ठा, समझौतावादी दृष्टिकोण एवं मैत्रीपूर्ण सहयोग की ओर उन्मुख होने लगे। अमरीका और सोवियत संघ के संबंधों में इस नवीन परिवर्तन को तनाव शैथिल्य या दितान्त के नाम से जाना जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अधुनातन परिप्रेक्ष्य में दितान्त का अर्थ इस प्रकार से किया जा सकता है— कि अमरीका तथा पूर्व सोवियत संघ के मध्य शीत-युद्ध के बजाय सांमजस्यपूर्ण संबंधों को दितान्त कहते हैं। अमरीका तथा पूर्व सोवियत संघ के मध्य मतभेद के बजाय शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के संबंधों को दितान्त कहते हैं। दितान्त का यह अर्थ कदापि नहीं कि दोनों महाशक्तियों के मतभेद पूर्णत: समाप्त हो गए या उनमें वैचारिक मतभेद नहीं पाए जाते थे या उनमें कोई राजनीतिक, आर्थिक व सैनिक प्रतियोगिता नहीं थी। दितान्त की विशेषता यह थी कि सैद्धान्तिक मतभेदों एवं प्रतियोगिता के बावजूद इसने महाशक्तियों में आर्थिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी सहयोग में बाधा प्रस्तुत नहीं होने दी।

ऑक्सफोर्ड इंग्लिश शब्दकोष के अनुसार, ''तनाव शैथिल्य दो राज्यों के तनावपूर्ण संबंधों की समाप्ति है।

डॉ० बी०के० श्रीवास्तव के अनुसार, संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ ने शीत-युद्ध के संघर्षपूर्ण संबंधों को समाप्त करने का निश्चय किया जिसे प्राय: तनाव शैथिल्य या दितान्त कहते हैं।

तनाव शैथिल्य के कारण– अमरीका और पूर्व सोवियत संघ के संबंधों में यह बुनियादी परिवर्तन क्यों आया कि वे शीत-युद्ध से तनाव शैथिल्य के मार्ग की ओर उन्मुख हुए? इसके निम्नलिखित कारण हैं—

(i) **शीत-युद्ध का तनाव पूर्ण वातावरण–** शीत-युद्ध एक मनोवैज्ञानिक युद्ध था। यह निलम्बित मृत्युदण्ड के समान था। इसे गरम-युद्ध से भी अधिक भयानक माना गया। दोनों महाशक्तियों को यह आशंका होने लगी कि शीत-युद्ध कभी भी सशस्त्र युद्ध में परिवर्तित हो सकता है और उसका परिणाम होगा भंयकर विध्वंस। इसलिए वे पारस्परिक टकराव से बचने की दिशा में सोचने पर बाध्य हुए।

(ii) **आणविक आतंक और आणविक युद्ध का भय–** अमरीका और सोवियत संघ दोनों ने आणविक आयुधों का निर्माण कर लिया, किन्तु वे दोनों इन शस्त्रों की मारक शक्ति से चिन्तित रहे। न्यूट्रॉन बम के नाम से कंपकंपी छूटती है। न्यूट्रॉन गोलियों से मनुष्य और अन्य जीव-जन्तुओं के लिए तुरन्त या निलम्बित मृत्यु निश्चित है। इसकी संहारकता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि हाइड्रोजन बम जैसे भयंकर बम से भी मरने वाले और घायलों का अनुपात एक और तीन होता है मगर न्यूट्रॉन बम में इसके उल्टे यदि एक जखमी होगा तो तीन मरेंगे। कहने का मतलब यह है कि नाभिकीय अस्त्रों ने युद्ध को इतना भयानक और विनाशकारी बना दिया कि कोई भी महाशक्ति इसका खतरा मोल नहीं ले सकती थी। कोई भी महाशक्ति परमाणु युद्ध में सैनिक लाभ अर्जित करने का दावा नहीं कर सकती थी। अत: टकराव और परमाणु संघर्ष से बचने के लिए दितान्त संबंध अमरीका और सोवियत संघ की मजबूरी थे।

(iii) **दितान्त संबंध सोवियत संघ के आर्थिक विकास की आवश्यकताएँ पूरी करता था–** दितान्त का एक कारण सोवियत संघ के आर्थिक विकास की आवश्यकताएँ भी थी। तकनीकी ज्ञान के अभाव में सोवियत संघ कृषि के क्षेत्र में आत्मनिर्भर नहीं हो पाया, साइबेरिया में उपलब्ध विशाल गैस भण्डारों का दोहन नहीं कर पाया। सोवियत संघ को अतिरिक्त खाद्य-

पदार्थों की अनवरत आवश्यकता रही है जिसे वह अमरीका से सौहार्दपूर्ण संबंधों के वातावरण में आसानी से प्राप्त कर सकता था चूंकि अमरीका के पास हमेशा अतिरिक्त खाद्यान्न उपलब्ध रहे हैं। निश्चित ही अमरीकी तकनीकी ज्ञान और सहायता के आधार पर सोवियत विकास को नया आयाम प्राप्त हो सकता था, किन्तु इसके लिए शीत-युद्ध की वैमनस्यता को दफनाना आवश्यक था। यह अमरिका के प्रति सह-अस्तित्व एवं माधुर्य की नीति अपनाकर ही संभव था। सोवियत नेता पोडगोर्नी के शब्दों में 'वस्तुगत तथ्यों ' के आधार पर सोवियत संघ चाहता था कि सोवियत-अमरीकी संबंधों से शीत-युद्ध के अवशेष समाप्त कर दिए जाएँ।

(iv) यूरोपीय राष्ट्र युद्ध की परिकल्पना से भयभीत थे– क्यूबा के संकट (1962) का एक दोहरा और विचित्र प्रभाव पड़ा। एक ओर जहाँ इसने शीत-युद्ध की पराकाष्ठा की अनुभूति करवाई, दूसरी ओर इसने शिथिलता की आवश्यकता को भी उग्र रूप से रेखांकित किया। इस घटना के बाद यूरोपीय राष्ट्र विशेषत:युद्ध की कल्पना से भयभीत रहे। दूसरा विश्व-युद्ध उनकी धरती पर लड़ा गया था, अत: उसका उन्हें अत्यधिक कटु अनुभव था। किसी प्रकार से वे विश्व-स्तरीय तनाव में डूबने को तैयार नहीं थे। यूरोपीय राष्ट्रों की इस उग्र अनुभूति का अमरीकी विदेश नीति पर सीधा दबाव पड़ा और वह शिथिलता की नीति को और अधिक तत्परता से लागू करने को बाध्य हुई। यूरोपीय परिवेश को देखते हुए यह कदापि आश्चर्यजनक नहीं था कि दितान्त के वास्तविक प्रचलन की पहल यूरोप से ही हुई। पश्चिमी जर्मनी के चान्सलर **विली ब्रांट** ने यूरोपीय राष्ट्रों में शिथिलता की प्रक्रिया को लागू करने का विचार रखा।

(v) आणविक शस्त्रों के क्षेत्र में सन्तुलन– आणविक शस्त्रों के क्षेत्र में असन्तुलन का परिणाम था शीत-युद्ध और इस क्षेत्र में स्थापित सन्तुलन ने दितान्त संबंधों को विकसित करने में योगदान दिया। प्रारम्भ में संयुक्त राज्य अमरीका आणविक शस्त्रों से संपन्न राष्ट्र था और जब सोवियत संघ ने अणु विस्फोट कर लिया जो सोवियत संघ और अमरीका के बीच जो सैनिक असन्तुलन था वह समाप्त हो गया एवं दोनों सन्तुलन की स्थिति में आ गए। अमरीका अब यह महसूस करने लगा कि साम्यवाद के विस्तार को रोकने के लिए सशस्त्र संघर्ष की नीति घातक रहेगी। बर्लिन की घेराबन्दी, कोरिया युद्ध और क्यूबा संकट के समय आणविक शस्त्रों के घातक परिणाम किसी की भी कल्पना के बाहर नहीं थे। आणविक विनाश से भविष्य में बचने के लिए दोनों महाशक्तियों में संवाद प्रारम्भ किए जाने की आवश्यकता थी। दितान्त युग के संवादों का ही परिणाम था कि दोनों महाशक्तियों में साल्ट वार्ताएँ चलती रही और साल्ट-1 और साल्ट-2 के समझौते हुए।

(vi) द्वि-गुटीय विश्व राजनीति का बहुकेंद्रवाद में परिवर्तन– द्वितीय महायुद्ध के तुरंत बाद विश्व द्वि-ध्रुवीयता की ओर बढ़ा और सन् 1950 ई० आते-आते इस द्वि-ध्रुवीयता के बंधन शिथिल पड़ने लगे और विश्व शनै-शनै बहुकेंद्रवाद की ओर अग्रसर होने लगा। सन् 1963-79 ई० की कालावधि में शक्ति के केवल दो ही केंद्र नहीं अपितु बहुत सारे केंद्र हो गए। अमरीका और सोवियत संघ के साथ-साथ ब्रिटेन, फ्रांस और चीन भी अणु-शक्ति के स्वामी बन चुके थे। जापान, पश्चिमी जर्मनी, यूरोपीय आर्थिक समुदाय, भारत और गुटनिरेपक्ष मंच भी आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के केंद्र थे। ये शक्ति-केंद्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में अधिकाधिक स्वतंत्र आचरण करने लगे। इस बहु-केंद्रवाद ने महाशक्तियों के संबंधों में दितान्त की प्रवृत्ति को जन्म दिया।

(vii) साम्यवादी गुटबन्दी का ढीलापन तथा सोवियत संघ-चीन मतभेद– सोवियत संघ के प्रति अमरीकी दृष्टिकोण में परिवर्तन का एक कारण साम्यवादी गुटबन्दी का ढीला होना भी था। बदले अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में साम्यवादी गुट की एकजुटता टूटने लगी और साम्यवादी दुनिया में शक्ति के अनेक प्रतिस्पर्द्धी केंद्रों का उदय हुआ जो मास्को से स्वतंत्र रहने की चेष्टा करने लगे। साम्यवादी दुनिया की ठोस एकता के बजाय वहाँ बहुध्रुवीयता के तत्व दृष्टिगोचर होने लगे। यह स्थिति अमरीका के लिए लाभ की स्थिति थी चूंकि वह साम्यवादी देशों से अपनी सहूलियत के अनुसार उनके मतभेदों का लाभ उठाकर समझौते कर सकता था। इसी प्रकार चीन-सोवियत रूस संघर्ष के फलस्वरूप सोवियत संघ के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह चीन के मुकाबले में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए पश्चिमी देशों से मुख्यत: उनके नेता अमरीका से शान्तिपूर्ण संबंध विकसित करे।

(viii) अमरीकी उद्योगों के लिए कच्चे माल की आवश्यकताएँ– अमरीकी नेताओं ने यह महसूस किया कि सोवियत संघ में कच्चे माल के विशाल भंडार है और अमरीकी उद्योगों के लिए उन्हें आसान शर्तों पर प्राप्त किया जा सकता है। निक्सन प्रशासन का यह विश्वास था कि अमरीका और सोवियत संघ की अर्थव्यवस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के परिप्रेक्ष्य में एक-दूसरे की प्रतियोगी न होकर पूरक हैं। सोवियत संघ के पास गैस, पेट्रोलियम और क्रोम के विशाल भण्डार हैं जिन्हें व्यापारिक आधार पर प्राप्त किया जाए तो अन्य देशों पर अमरीकी निर्भरता कम होगी।

(ix) राष्ट्रीय प्राथमिकताओं में बुनियादी परिवर्तन– शीत-युद्ध काल में संयुक्त राज्य अमरीका की राष्ट्रीय नीति और प्राथमिक आवश्यकता थी— 'साम्यवाद का अवरोध', साम्यवाद का समूलोन्मूलन और सोवियत संघ की सर्वोच्च प्राथमिकता थी— साम्यवाद का विस्तार और पूँजीवाद का अन्त करना। इसके लिए दोनों देशों ने लोक-कल्याणकारी योजनाओं, गरीबी उन्मूलन, जीवन-स्तर ऊँचा करने जैसे अपरिहार्य कार्यक्रमों की कीमत पर अस्त्रों की शक्ति, परमाणु शस्त्रों के निर्माण तथा

सैनिक गठबन्धनों पर बल दिया था। धीरे-धीरे दोनों महाशक्तियों ने यह अनुभव किया कि उन्हें अपने संसाधन और तकनीकी ज्ञान का प्रयोग अपने नागरिकों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए करना चाहिए। इसके लिए तनाव शैथिल्य का वातावरण अधिक उपयोगी और उत्साहवर्धक समझा गया।

(x) **दितान्त संबंध पारस्परिक राष्ट्रीय हितों की पूर्ति करते थे– डॉ० एम०एस० राजन** के अनुसार, शीत-युद्ध के संघर्षपूर्ण मार्ग से दितान्त के सपाट रास्ते पर चलने का कारण महाशक्तियों के पारस्परिक हितों में ढूंढा जा सकता है। दोनों महाशक्तियों के नेताओं एवं अभिजन ने यह सोचा कि अस्त्र-शस्त्रों पर धन खर्च करने के बजाय अपने-अपने देश में आम आदमी के भविष्य को सुखद बनाने के लिए धन खर्च करना अधिक लाभकारी है। शीत-युद्ध के युग में सोवियत संघ ने खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्म-निर्भरता को प्राथमिकता नहीं दी और अमरीका ने नीग्रो के कल्याण के लिए धन खर्च करने मे कंजूसी की। इससे दोनों देशों में जन-असन्तोष बढ़ा। दितान्त संबधों से अमरीका और सोवियत संघ की शक्ति और धन अपने नागरिकों की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति में लगने की गुन्जाइश बढ़ी जिससे विश्व शान्ति के स्थायी आधार के पुख्ता होने की संभावना बढ़ी।

(xi) **गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की भूमिका–** शीत-युद्ध को दितान्त अर्थात् तनाव-शैथिल्य की स्थिति में लाने का श्रेय गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को ही है। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने शीत-युद्ध को बढ़ावा देने वाली गुटबन्दी को तोड़ने में सहयोग दिया। गुटनिरपेक्षता का दायरा इतना बढ़ता गया कि दोनों ही गुटों में दरारें पड़ने लगीं, गुटों में संलग्न राष्ट्र भी धीरे-धीरे गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने लगे। पाकिस्तान, पुर्तगाल, रूमानिया, ईरान जैसे देश अपने-अपने गुटों को छोड़कर गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में शामिल हो गए। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने धीरे-धीरे स्वतंत्र विदेश नीति पर ही नहीं, बल्कि शान्ति और सहयोगी की आवश्यकता पर भी बल दिया। इससे महाशक्तियों में प्रतिद्वन्द्विता के स्थान पर सहयोग को बल मिला। **डॉ० ए०पी० राणा** के अनुसार, ''गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने अपनी गुटनिरपेक्ष पहचान को बनाए रखते हुए महाशक्तियों को अपने सहयोगी-प्रतिद्वन्द्वी व्यवहार को सतर्कतापूर्वक संचालित करने में मदद की।''

(xii) **संयुक्त राष्ट्र संघ में तीसरी दुनिया के राष्ट्रों की भूमिका–** संयुक्त राष्ट्र संघ में भी महाशक्तियों की स्थिति पहले जैसी नहीं रही। तीसरी दुनिया और अफ्रेशियाई राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र संघ में अपनी आवाज बुलन्द करना शुरू कर दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ में उनकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई संख्या ने भी शीत-युद्ध की उग्रता को कम किया।

(xiii) **महाशक्तियों को अपने गुटीय मित्रों से निराशा और यथार्थवादी चिन्तन की प्रवृत्ति–** शीत-युद्ध की राजनीति में अमरीका और सोवियत संघ ने अपने-अपने मित्रों की संख्या बढ़ाने की होड़ प्रबल थी, किन्तु उन्हें यह समझते देर न लगी कि उनके मित्र उनके लिए बोझ बनते जा रहे हैं। दक्षिण वियतनाम, दक्षिण कोरिया और फारमोसा अमरीका पर भार थे, पूर्वी जर्मनी और उत्तरी कोरिया सोवियत संघ पर भार साबित हुए, फ्रांस ने अमरीका के लिए मुसीबतें खड़ी की और चीन, रूमानिया, अल्बानिया ने सोवियत संघ के लिए मुसीबतें खड़ी कीं। गुटनिरपेक्ष देशों ने दोनों की महाशक्तियों से सहायता लेकर दोनों का आर्थिक एवं सैनिक शोषण किया। **डॉ० एम०एस० राजन** के शब्दों में, ''फ्रांस का अमरीका विरोधी दृष्टिकोण और चीन द्वारा सोवियत संघ को दी जाने वाली खुली चुनौती विशेष रूप से महाशक्तियों के संबंधों में दितान्त के विकास के लिए उत्तरदायी है।'' महाशक्तियों ने यथार्थवादी रुख अपनाते हुए यह महसूस किया कि अन्य देशों की मित्रता के स्थान पर पारस्परिक संबधों में दितान्त अधिक विश्वसनीय, लाभकारी एवं कम खर्चीला है।

4. दितान्त आचरण के निर्धारक तत्व बताइए।

उ०– दितान्त आचरण अथवा तनाव शैथिल्य के निर्धारक तत्वों के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 3 में तनाव शैथिल्य के कारणों का अवलोकन कीजिए।

5. तनाव शैथिल्य पर एक निबंध लिखिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 3 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

6. शीत युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की नई प्रवृत्तियाँ लिखिए।

उ०– शीत युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की नई प्रवृत्तियाँ– सोवियत संघ-अमरीका तनाव शैथिल्य ने शीत-युद्ध के तनावपूर्ण वातावरण को समाप्त किया, शस्त्रीकरण की होड़ को सीमित किया; संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्य को आसान बनाया; परमाणु युद्ध के आतंक से मानव जाति को उन्मुक्त किया और विरोधी विचार प्रणालियों वाले राष्ट्रों में संवाद और मेल-मिलाप प्रारम्भ करके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में बदलाव प्रस्तुत किया। शीत युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की नई प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित है—

(i) **गुटबन्दी में लिप्त राष्ट्रों के लिए पर्याप्त स्वतंत्रता–** शीत-युद्ध के युग में गुटबन्दी में लिप्त राष्ट्रों की स्वतंत्र निर्णय-शक्ति धूमिल हो गई थी। उन्हें किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न पर अपने-अपने गुटीय नेता की दृष्टि से सोचना पड़ता था। दितान्त व्यवहार से जहाँ एक ओर पश्चिमी जर्मनी, जापान, फ्रांस, फिलिपाइन्स, पाकिस्तान जैसे अमरीकी गुट से संबद्ध देशों के दृष्टिकोण में पर्याप्त लचीलापन एवं स्वतंत्रता दिखाई देने लगी वहाँ दूसरी तरफ रोमानिया, पूर्वी जर्मनी, वियतनाम, क्यूबा जैसे सोवियत गुट से संबद्ध राष्ट्र भी स्वतंत्र दृष्टि से सोचने-विचारने लगे थे। दितान्त व्यवहार का ही परिणाम था कि पुर्तगाल, पाकिस्तान, रोमानिया जैसे देश गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में शामिल हो गए; जापान ने अपने राष्ट्रीय हितों के कारण

फरवरी 1972 ई० में मंगोलिया गणराज्य को मान्यता दी और मई 1973 ई० में उत्तरी वियतनाम के साथ भी उसने राजनयिक संबंध स्थापित कर लिए।

(ii) महाशक्तियों के आचरण में विनय और सद्व्यवहार के लक्षण– अमरीकी और सोवियत गुट के राष्ट्र एक-दूसरे के प्रति सभ्य राष्ट्रों की भाँति व्यवहार करने लगे, पारस्परिक सद्व्यवहार का पालन करने लगे और उनके आचरण में विनय के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे।

(iii) महाशक्तियों के मध्य सहयोग और मैत्रीपूर्ण संबंधों का विकास– द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद विश्व राजनीति में गुटीय विभाजन स्पष्ट रूप से दिखाई देता था। दितान्त व्यवहार की शुरुआत के बाद महाशक्तियों एवं उनके पिछलग्गू राज्यों में आपसी आदान-प्रदान, सामंजस्य और समझौतापूर्ण संबंधों का नया उभरता हुआ आचरण दिखाई देता है। कभी निक्सन मॉस्को जाते हैं, तो कभी ब्रेझनेव वाशिंगटन, कभी ग्रोमिको अमरीका की यात्रा करते तो कभी कीसिंजर सोवियत संघ की। ऐसा नहीं लगता था कि अमरीका और सोवियत संघ के अलग-अलग गुट हैं और यह गुट एक-दूसरे के विरोधी और दुश्मन हैं। यूरोप, पश्चिमी एशिया, दक्षिणी-पूर्वी एशिया अथवा दुनिया के अन्य भागों में ये महाशक्तियाँ टकराहट की स्थिति में अब नहीं लगती थीं।

(iv) संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच पर शालीन व्यवहार की प्रवृत्ति– डॉ० एम०एस० राजन के अनुसार– शीत-युद्धकाल में संयुक्त राष्ट्र संघ प्रचार, आलोचना और छींटाकशी का मंच बन गया था। महाशक्तियों में दितान्त आचरण की शुरुआत के बाद एक बार पुन: संयुक्त राष्ट्र संघ शालीन और गरिमामय अन्तर्राष्ट्रीय मंच के रूप में उभरने लगा। अब महाशक्तियाँ संयुक्त राष्ट्र की कार्यवाही में अड़ंगा नहीं डालती, इसकी विभिन्न एजेन्सियों की कार्यवाही में सहजता और शालीनता देखने को मिलने लगीं। वीटो का भी अब बार-बार प्रयोग नहीं किया गया और गुटीय आधार पर किसी नए राष्ट्र के प्रवेश को भी टाला नहीं गया।

(v) सहयोगी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का अभ्युदय– दोनों गुटों के राष्ट्रों के मध्य मनोमालिन्य समाप्त होने लगा तथा व्यापार, आवागमन, संचार विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्रों में सामान्य तकनीकी सहयोग विकसित होने लगा।

(vi) यूरोपीय महाद्वीप अब विभाजित नहीं लगता– सन् 1945 ई० के बाद ऐसा लगता था कि यूरोपीय महाद्वीप दो भागों—पश्चिमी यूरोप और पूर्वी यूरोप में विभाजित-सा हो गया है। पश्चिमी और पूर्वी यूरोप के देशों में न तो नागरिकों का आदान-प्रदान होता था और न व्यापार होता था। जर्मनी और बर्लिन की समस्याओं ने यूरोप का कठोरतापूर्वक विभाजन कर दिया था। दितान्त संबंधों की शुरुआत के बाद पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के देशों में व्यापार की वृद्धि हुई, सांस्कृतिक आदान-प्रदान का विस्तार हुआ और ऐसा लगा कि अब यूरोपीय देशों की एकजुटता में वृद्धि हो रही है।

(vii) परमाणु शस्त्रों के नियंत्रण के लिए प्रयत्न– शीत-युद्ध में महाशक्तियों की शक्ति परमाणु शस्त्रों के निर्माण पर लगी हुई थी। दितान्त व्यवहार के बाद परमाणु शस्त्रों के बारे में महाशक्तियों के रुझान में परिवर्तन आया। परमाणु शस्त्रों की विनाशकारी शक्ति से सोवियत संघ और अमरीका का समान रूप से चिन्तित होना प्रतीत हुए। सन् 1972 ई० की साल्ट-प्रथम संधि, और सन् 1979 ई० की साल्ट-द्वितीय संधि वस्तुत: सोवियत रूस-अमरीकी दितान्त व्यवहार के ही परिणाम हैं।

(viii) गुटनिरपेक्षता की प्रासंगिकता पर प्रश्न-चिह्न– कुछ लोगों का विचार था कि गुटनिरपेक्षता शीत-युद्ध के सन्दर्भ में उत्पन्न हुई और पली, इसलिए अब शीत-युद्ध में ढील आ जाने के कारण दितान्त युग में गुटनिरपेक्षता बेमानी हो गई।

(ix) तीसरे महायुद्ध के भय से मुक्ति– सन् 1950-60 ई० के दशक में सोवियत रूस-अमरीका शस्त्र प्रतिस्पर्द्धा को देखते हुए ऐसा लगता था कि दुनिया पर तृतीय महायुद्ध का खतरा मंडरा रहा है। दितान्त व्यवहार ने इस खतरे को लगभग समाप्त कर दिया। किसी भी संकट के समय सोवियत रूस-अमरीकी नेता हॉट लाइन से बात कर सकते थे और आसन्न खतरे को टाला जा सकता था।

(x) दितान्त यथास्थितिवाद की समर्थक धारणा है– दितान्त धारणा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के स्थायित्व और उसके बने रहने पर बल देता है। रूस-अमरीका का हित इसी में था कि उन्होंने वर्तमान यथास्थिति को बरकरार रखने के लिए आपसी समझौता कर लिया। इस धारणा में 'स्थायित्व' और अनुरक्षण की परिस्थितियों पर अत्यधिक ध्यान दिया गया। इसका अनेक लोग यह अर्थ लगाते हैं कि दितान्त यथास्थिति का रक्षक, रूढ़िवादी और सामाजिक व अन्य प्रकार के पर्यावरणी परिवर्तनों के प्रति उदासीन रहा।

संक्षेप में, दितान्त अथवा युद्ध शैथिल्य के कारण शीत-युद्ध ठण्डे सह-अस्तित्व का रूप धारण कर चुका था और वह अब लावा नहीं उगलता था। दितान्त संबंधों के विकसित होने से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से शत्रुतापूर्ण युद्धरत स्थिति का अन्त हुआ। रचनात्मक पुनर्निर्माण और सहयोग के नूतन युग का सूत्रपात हुआ। दितान्त की उभरती हुई प्रवृत्तियों के कारण विश्व-युद्ध के सम्भाव्य कारणों का अन्त होने लगा और महाशक्तियों के नागरिक शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए आशान्वित हुए। नि:शस्त्रीकरण के क्षेत्र में सहयोग की वृद्धि हुई, सैनिक भिड़न्त और आणविक-युद्ध के खतरे कम होने लगे।

इकाई-4

21 भारत तथा विश्व
(India and World)

अभ्यास

बहुविकल्पीय प्रश्न

उ०– बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या—283-284 का अवलोकन कीजिए।

अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

उ०– अतिलघु उत्तरीय प्रश्नोत्तर के लिए पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठ संख्या—284-285 का अवलोकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रमंडल के मुख्य कार्यों को संक्षेप में लिखिए। अथवा
राष्ट्रमंडल क्या है? वर्तमान विश्व में उसके महत्व का मूल्यांकन कीजिए।

उ०– राष्ट्रमंडल के मुख्य कार्य– राष्ट्रमंडल के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) प्रजातंत्र तथा मानवीय अधिकारों का समर्थन करना।
(ii) सदस्य देशों की आपसी समस्याओं पर विचार-विमर्श करना।
(iii) अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं व घटनाओं पर विश्व-शांति की दृष्टि से विचार करना और यथासंभव सहयोग करना।
(iv) सदस्य देशों के आर्थिक कल्याण व सामान्य हितों की पूर्ति के लिए योजना बनाना।
(v) सदस्य देशों के बीच व्यापारिक संबंधों का विकास करना।

राष्ट्रमंडल–राष्ट्रमंडल उन देशों का संगठन है जो कभी अंग्रेजों के अधीन थे और जिन्होंने स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ब्रिटेन के साथ लगभग समानता के संबंध स्थापित कर लिए हैं। राष्ट्रमंडल कोई निश्चित उत्तरदायित्वों वाला कठोर वैधानिक या सैनिक संगठन नहीं हैं। राष्ट्रमंडल के सभी राष्ट्र स्वतंत्र और समान है और इनमें ब्रिटिश सम्राट के प्रति किसी प्रकार की राजभक्ति या निष्ठा होना अनिवार्य नहीं है।

राष्ट्रमंडल का महत्व– वर्तमान समय में राष्ट्रमंडल एकमात्र ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है, जो विकसित और विकासशील देशों को एकजुट करता है। आर्थिक मामलों में सहयोग राष्ट्रमंडल का एक अति महत्वपूर्ण लक्षण है। सदस्य देशों के विदेश मंत्री अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की वार्षिक बैठकों के अवसर पर एक-दूसरे से मिलते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक और आर्थिक मामलों पर चर्चा करते हैं। आर्थिक विषमता, गरीब-देशों की ऋण समस्या, भूमंडलीकरण के प्रभाव आदि मुद्दों पर अन्तर्राष्ट्रीय राय उत्पन्न करने में राष्ट्रमंडल की महत्वपूर्ण भूमिका है।

2. भारत की विदेश नीति के उद्देश्य बताइए।

उ०– भारत की विदेश नीति के उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

(i) साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध
(ii) सभी राष्ट्रों से मित्रता
(iii) तटस्थता और गुटनिरपेक्षता की नीति
(iv) विश्व-शांति और नि:शस्त्रीकरण का समर्थन
(v) शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व और पंचशील
(vi) विदेशों से बिना शर्त आर्थिक सहायता की प्राप्ति
(vii) संयुक्त राष्ट्र के साथ सहयोग
(viii) जातीय भेदभाव का विरोध

3. भारत की विदेश नीति के चार प्रमुख आधार बताइए।

उ०– उत्तर के लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या—2 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

4. संयुक्त राष्ट्र संघ के दो प्रमुख उद्देश्यों को लिखिए।

उ०– संयुक्त राष्ट्र संघ के दो प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक एवं मानवीय समस्याओं को सुलझाने में सहयोग देना।
(ii) प्रत्येक राष्ट्र को समान समझना और समान अधिकार देना।

5. संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् के चार मुख्य कार्यों को बताइए।

उ०– संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् के चार मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष और विवाद के कारणों की जाँच करना और उसके निराकरण के शांतिपूर्ण समाधान के उपाय खोजना।
(ii) अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा स्थापित करना।

(iii) महासभा को नए सदस्यों के संबंध में सुझाव देना।
(iv) अपनी वार्षिक रिपोर्ट तथा अन्य रिपोर्टो को महासभा के पटल पर रखना।

6. संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।

उ०– संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य निम्नलिखित हैं—
(i) अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा एवं शांति बनाए रखना।
(ii) पारस्परिक मतभेदों को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाना।
(iii) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक एवं माननीय समस्याओं को सुलझाने में सहयोग देना।
(iv) प्रत्येक राष्ट्र को समान समझना और समान अधिकार देना।
(v) समस्त मानव जाति के अधिकारों का सम्मान करना।

7. संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् के दो स्थायी सदस्यों के नाम लिखिए।

उ०– संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् के दो स्थायी सदस्य— संयुक्त राज्य अमरीका, रूस।

8. भारत पाक संबंधों को प्रभावित करने वाले दो प्रमुख मुद्दों को स्पष्ट कीजिए। अथवा भारत और पाकिस्तान के मध्य तनाव के प्रमुख कारणों का वर्णन कीजिए।

उ०– भारत और पाकिस्तान के संबंधों को प्रभावित करने वाले दो प्रमुख मुद्दे/कारण निम्नलिखित हैं—

कश्मीर समस्या– भारत-पाकिस्तान के बीच कश्मीर समस्या विभाजन के समय से चली आ रही है जो सुलझने में नहीं आती है। ऐसा माना जाता है कि कश्मीर समस्या भारत और पाकिस्तान के बीच तनाव का कारण ही नहीं बल्कि परिणाम है।

आतंकवाद– पाकिस्तान द्वारा आतंकवाद को सरंक्षण एवं सहारा देना भी भारत-पाकिस्तान के संबंधों को प्रभावित करने वाला मुख्य कारण है। मुंबई हमलों और हाल ही में पुणे के बम विस्फोट में पाकिस्तान का हाथ होना पाया गया है।

9. संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् के दो गैर- यूरोपियन स्थायी सदस्य देशों का नाम लिखिए।

उ०– संयुक्त राज्य अमरीका और साम्यवादी चीन संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् के दो गैर-यूरोपियन स्थायी सदस्य देश हैं।

10. दक्षेस (सार्क) से आप क्या समझते हैं? इसकी आवश्यकता व उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

उ०– दक्षेस (सार्क)– दक्षेस 'दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन' के नाम से संबोधित किया जाता है। यह दक्षिण एशिया के आठ देशों भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल, भूटान, श्रीलंका, मालदीव और अफगानिस्तान का क्षेत्रीय संगठन है। यह दक्षिण एशिया के पड़ोसी देशों की विश्व राजनीति में क्षेत्रीय सहयोग की पहली शुरुआत है।

दक्षेस की आवश्यकता एवं उपयोगिता– दक्षेस के देशों से निर्धनता अशिक्षा, कुपोषण आदि समस्याओं को सहयोग तथा आपसी सूझ-बूझ से हल करना तथा क्षेत्रीय सहयोग बढ़ाना इसकी आवश्यकता है। दक्षेस के आठों देशों में राजनीतिक तथा सुरक्षा संबंधी मुद्दों को पारस्परिक सहयोग, समझ, सहानुभूति तथा इच्छा शक्ति से सुलझाया जाता है। इसी के अंतर्गत मुक्त बाजार व्यवस्था को लागू किया गया है।

11. सार्क के किन्हीं दो सदस्य देशों के नाम लिखिए।

उ०– सार्क के दो सदस्य देश भारत और पाकिस्तान हैं।

12. दक्षेस (सार्क) की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।

उ०– दक्षेस की निम्नलिखित उपलब्धियाँ सराहनीय हैं—
(i) दक्षेस शिखर-वार्ता प्रतिवर्ष आयोजित की जाती है और निर्णय भी सर्वसम्पति से ही लिए जाते हैं।
(ii) दूसरे शिखर-सम्मेलन में इसका कार्यालय काठमाण्डू में स्थापित करने का निर्णय आपसी सहयोग बढ़ाने में सहायक हुआ।
(iii) तीसरे शिखर-सम्मेलन में आतंकवाद निरोधक समझौता एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी।
(iv) इस्लामाबाद के चौथे शिखर-सम्मेलन में 'दक्षेस-2000' एकीकृत योजना पर बल दिया गया।
(v) पाँचवें शिखर सम्मेलन में संयुक्त उद्योग स्थापित करने तथा सातवे शिखर-सम्मेलन में 'दक्षिण एशियाई व्यापार वरीयता समझौता' (SAFTA) की स्वीकृति का काम हुआ।
(vi) सामूहिक विकास की दृष्टि से 'दक्षिण एशियाई विकास कोष' की स्थापना की गयी। 11 वें शिखर-सम्मेलन के 'काठमाण्डू घोषण-पत्र' में आतंकवाद को समाप्त करने की प्रतिबद्धता दोहरायी गयी।
(vii) 12 वें शिखर-सम्मेलन में दक्षिण एशिया को 'मुक्त-व्यापार क्षेत्र' बनाने के लिए 'दक्षिण एशियाई व्यापार वरीयता समझौता' (SAFTA) संधि हुई जो 1 जनवरी, 2006 ई० से लागू हुई।

इसके अतिरिक्त विज्ञान, तकनीकी ज्ञान, दूर संचार, यातायात, कृषि, ग्रामीण विकास, वन विकास, मौसम विज्ञान आदि अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ पारस्परिक सहयोग प्रगति पर है। दक्षेस की अनेक संस्थाएँ कार्यरत हैं। दक्षेस फेलोशिप तथा दक्षेस छात्रवृत्तियों से नागरिकों में सामूहिक भावना का विकास हो रहा है। दक्षेस व्यापार मेले में अरबों रुपयों का व्यापार होता है। इस प्रकार दक्षेस से क्रिया-कलापों का निरन्तर विकास हो रहा है और इससे सभी संबंधित देश लाभ उठा रहे हैं।

13. दक्षेस (सार्क) के उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।

उ०– दक्षेस के उद्देश्य– दक्षेस के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं—

(i) पारस्परिक विश्वास तथा सूझ-बूझ के साथ एक-दूसरे की समस्याओं को हल करना।
(ii) दक्षिण एशियाई देशों के लोगों के कल्याण के लिए कार्य करना तथा उनके जीवनस्तर को सुधारना।
(iii) आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, तकनीकी तथा वैज्ञानिक क्षेत्र में हर प्रकार का सहयोग देना।
(iv) सामान्य हितों के मामलों पर पारस्परिक सहयोग से कार्य सम्पन्न करना।
(v) विकासशील देशों के साथ सहयोग बढ़ाना।
(vi) क्षेत्र का तीव्र गति से चहुँमुखी विकास करना।

14. पंचशील के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।

उ०– अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में अपनाए जाने वाले नैतिक सिद्धान्तों को पंचशील सिद्धान्त कहते हैं। ये पंचशील सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(i) एक-दूसरे क्षेत्रीय अखण्डता तथा प्रभुसत्ता के प्रति सम्मान की भावना।
(ii) एक-दूसरे के क्षेत्र पर आक्रमण न करना।
(iii) एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना।
(iv) समानता तथा पारस्परिक लाभ के लिए कार्य करना।
(v) शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व को अपनाना।

15. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के दो प्रवर्तकों के नाम लिखिए।

उ०– गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के दो प्रवर्तकों के नाम निम्नलिखित हैं—

(i) भारत के पं० जवाहरलाल नेहरू (ii) मिस्र के राष्ट्रपति नासिर

16. दक्षेस (सार्क) का पूरा नाम क्या है? इसके कोई तीन उद्देश्य लिखिए।

उ०– दक्षेस (सार्क) का पूरा नाम 'दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन' (साउथ एशियन एसोसिएशन फोर रिजनल कॉर्पोरेशन) है। इसके तीन प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

(i) विकासशील देशों के साथ सहयोग बढ़ाना।
(ii) क्षेत्र का तीव्र गति से चहुँमुखी विकास करना।
(iii) दक्षिण एशियाई देशों के नागरिकों के कल्याण के लिए कार्य करना तथा उनके जीवन स्तर को सुधारना।

17. संयुक्त राष्ट्र की स्थापना का उद्देश्य क्या है? किन्हीं दो क्षेत्रों में इसकी उपलब्धियाँ बताइए।

उ०– संयुक्त राष्ट्र की स्थापना का उद्देश्य विश्व में शान्ति स्थापित करना तथा विश्व-शान्ति को बनाए रखना है। इसकी दो उपलब्धियाँ निम्नलिखित हैं—

(i) संयुक्त राष्ट्र ने नि:शस्त्रीकरण को लागू करने और विध्वंसक परमाणु हथियारों पर पाबन्दी लगाने के लिए समय-समय पर अनेक सम्मेलनों का आयोजन किया तथा कई प्रस्ताव पारित किए हैं। संयुक्त राष्ट्र को नि:शास्त्रीकरण में भारत का सहयोग प्राप्त हुआ है और वह काफी हद तक शास्त्रों के प्रसार को रोकने में सफल रहा है।
(ii) संयुक्त राष्ट्र ने इंग्लैण्ड और मिस्र के बीच स्वेजनहर के झगड़े का अंत कराया। मलाया, लीबिया, टयूनेशिया, घाना तथा टोगोलैण्ड आदि देशों को स्वतंत्र कराने में पूर्ण सहायता की।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रमंडल क्या है? इसका सदस्य कौन हो सकता है? इसकी तीन मुख्य विशेषताएँ बताइए।

उ०– राष्ट्रमंडल– राष्ट्रमंडल उन देशों का संगठन है जो कभी अंग्रेजों के अधीन थे और जिन्होंने स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ब्रिटेन के साथ लगभग समानता के संबंध स्थापित कर लिए हैं। राष्ट्रमंडल कोई निश्चित उत्तरदायित्वों वाला कठोर वैधानिक या सैनिक संगठन नहीं हैं। राष्ट्रमंडल के सभी राष्ट्र स्वतंत्र और समान है और इनमें ब्रिटिश सम्राट के प्रति किसी प्रकार की राजभक्ति या निष्ठा होना अनिवार्य नहीं है।

''राष्ट्रमंडल कोई राजनीतिक इकाई नहीं है। यह एक समझौता भी नहीं है। इसकी कोई सर्वमान्य नीति नहीं है। राष्ट्रमंडल के सदस्य राष्ट्र विश्व मामलों में अपने पृथक निर्णय करते हैं और इनमें से कोई भी अपने इस अधिकार को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है।''

–कनाडा के प्रधानमंत्री पियर्सन

राष्ट्रमंडल के राज्यों की पहचान यह है कि इनके राजदूत एक-दूसरे के देश में उच्चायुक्त कहलाते हैं। राष्ट्रमंडल के सदस्य-राष्ट्र अपनी इच्छा के अनुसार राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नीति को अपनाते हैं और व्यवहार में भी अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर उनके विचारों में भिन्नता देखी जाती है।

राष्ट्रमंडल की सदस्यता के लिए यह आवश्यक है कि इसका सदस्य केवल वही राष्ट्र हो सकता है, जिसमें लोकतांत्रिक शासन-

व्यवस्था विद्यमान हो। सैनिक तानाशाहों द्वारा शासित देश इस संगठन के सदस्य नहीं हो सकते हैं। राष्ट्रमंडल देशों के पूर्व महासचिव **इमेका अन्याओकू** ने कहा है— ''सही मायने में राष्ट्रमंडल अब लोकतांत्रिक देशों का संगठन बन गया है।''

राष्ट्रमंडल की विशेषताएँ– राष्ट्रमंडल की तीन मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) स्वतंत्रता की दृष्टि से राष्टमंडल का प्रत्येक सदस्य देश अपनी आन्तरिक एवं विदेश नीति का निर्धारण करने में पूर्ण स्वतंत्र है।

(ii) राष्टमंडल के सदस्य देशों के जो प्रतिनिधि एक-दूसरे की राजधानी में रहते हैं, उन्हें राजदूत न कहकर उच्चायुक्त कहा जाता है।

(iii) राष्टमंडल का एक सचिवालय है जो लन्दन में स्थित है, जिसमें सदस्य देशों के व्यक्ति अधिकारियों व कर्मचारियों के रूप में नियुक्त होते हैं। स्कॉटलैंड के पैट्रिसिया वर्तमान में राष्ट्रमंडल के महासचिव हैं।

2. राष्ट्रमंडल के गठन व कार्यों का विवेचन कीजिए।

उ०– **राष्ट्रमंडल का गठन–** राष्ट्रमंडल सबसे कम संस्थागत स्वरूप वाले अंतर-सरकारी संगठनों में से एक है। राष्टमंडल शासनाध्यक्षों की बैठक और सचिवालय राष्ट्रमंडल के प्रमुख अंग हैं। शासनाध्यक्षों की द्वि-वार्षिक बैठकें आयोजित की जाती हैं, जिनमें सामूहिक हित के विषयों पर चर्चाएँ होती हैं तथा संगठन की गतिविधियों के मौलिक दिशा-निर्देशों का निर्धारण होता है। चोगम का संचालन आम सहमति के आधार पर होता है न कि मत के आधार पर। संयुक्त राष्ट्र संघ के बाद चोगम विश्व का सबसे बड़ा अंतर-सरकारी सम्मेलन है।

इसके अतिरिक्त वैदेशिक मामलों, रक्षा, वित्त, शिक्षा, कानून, कृषि, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, आदि विषयों पर सदस्य देशों के वरिष्ठ मंत्रियों के मध्य विशेष परामर्श होते हैं। विशिष्ट मुद्दों पर समन्वय सुनिश्चित करने के लिए अनेक नियमित या तदर्थ आधार पर बैठकें होती हैं।

सन् 1965 ई० में चोगम ने राष्ट्रमंडल सचिवालय के रूप में एक स्थायी मशीनरी का गठन किया। सचिवालय संयुक्त परामर्श और सहयोग के लिए एक केंद्रीय संगठन का कार्य करता है। यह बैठके और सम्मेलन आयोजित करता है, सामूहिक निर्णयों का क्रियान्वयन करता है, विशिष्ट तकनीकी सहायता प्रदान करता है तथा सामूहिक हित के विषयों से संबंधित सूचनाएँ प्रसारित करता है। लंदन स्थित सचिवालय निम्नलिखित कार्यों के आधार पर अनेक मंडलों में संघटित है— अंतर्राष्ट्रीय संबंध, आर्थिक मामले, खाद्य उत्पादन और ग्रामीण विकास युवा मामले, शिक्षा सूचना, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, कानून, स्वास्थ्य और प्रयुक्त अध्ययन। सचिवालय के अंदर राष्ट्रमंडल तकनीकी सहयोग कोष (सीएफटीसी) का गठन किया गया है जो आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए, विशेषकर कम विकसित देशों को बहुपक्षीय तकनीकी सहायता प्रदान किया करता है। इस कोष का वित्तीय पोषण सभी राष्ट्रमंडल देशों के द्वारा स्वैच्छिक आधार पर होता है। सचिवालय औद्योगिक विकास इकाई, महिला एवं विकास सलाहकार तथा राष्ट्रमंडल सहभागिता कोष का भी प्रबंधन करता है। महासचिव सचिवालय का प्रधान अधिकारी होता है।

राष्ट्रमंडल की वर्तमान स्थिति सम्प्रभुता सम्पन्न स्वतंत्र राष्ट्रों के एक मैत्रीपूर्ण संगठन के रूप में हैं। इसमें 53 राष्ट्र शामिल है, जिनमें से 21 गणतंत्रीय देश हैं। राष्ट्रमंडल की अध्यक्ष ब्रिटेन की महारानी है। भारत ने सन् 1950 ई० राष्ट्रमंडल की सदस्यता सर्वथा स्वतंत्र तथा सम्प्रभु राष्ट्र के रूप में ग्रहण की। राष्ट्रमंडल के प्रमुख सदस्यों में— ब्रिटेन, न्यूजीलैण्ड, भारत, बांग्लादेश, आस्ट्रेलिया, कनाडा, श्रीलंका, मॉरीशस, पाकिस्तान, युगाण्डा, कीनिया, फिजी, कैमरून, न्यूगिनी, माल्टा आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

राष्ट्रमंडल के कार्य– राष्ट्रमंडल एक सहयोगी मंडल के रूप में कार्य करता है। इसके कार्यों का विवरण निम्न प्रकार है—

(i) संयुक्त राष्ट्र संघ के बाद राष्ट्रमंडल एकमात्र ऐसा अंतर्राष्ट्रीय समूह है, जो विकसित और विकासशील देशों को एकजुट करता है। इसके सदस्य देशों में विश्व की एक-चौथाई जनसंख्या निवास करती है। ये सदस्य अनेक अन्य अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रीय, राजनीतिक और आर्थिक समूहों के भी सदस्य हैं। अत: राष्ट्रमंडल स्वयं में एक छोटी दुनिया का प्रतिनिधित्व करता है।

(ii) आर्थिक मामलों में सहयोग राष्ट्रमंडल का एक अति महत्वपूर्ण लक्षण है। सदस्य देशों के विदेश मंत्री अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक और आर्थिक विषयों पर चर्चा करने के उद्देश्य से साधारणतया अंतरर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व की वार्षिक बैठकों के अवसर पर एक-दूसरे से मिलते हैं। ये बैंठके उत्तर-दक्षिण आर्थिक विषमता, संरक्षणवाद, ब्रेटन वुड्स संस्थाओं में सुधार, गरीब-देशों की ऋण समस्या, भूमंडलीकरण के प्रभाव, आदि मुद्दों पर अंतर्राष्ट्रीय राय उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। सन् 1983 ई० में अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक विषयों पर एक परामर्श समूह का गठन किया गया है।

(iii) राष्ट्रमंडल ने अल्प-विकसित देशों में तकनीकी सहायता के प्रवाह के लिए सीएफटीसी का गठन किया। सन् 1990 ई० में विकासशील देशों के पूँजी बाजार में निजी निवेश को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से राष्ट्रमंडल सहभागिता कोष की स्थापना की गई। एडिनबर्ग राष्ट्रमंडल आर्थिक घोषणा, सन् 1997 ई० ने छोटे और कम विकसित देशों पर अधिक ध्यान देते हुए

सतत विश्व आर्थिक एकीकरण की माँग की। साथ ही, अंतर्राष्ट्रीय राष्ट्रमंडल व्यापार में तेजी लाने के लिए व्यापार अवरोधों को समाप्त करने तथा एक राष्ट्रमंडल व्यापार परिषद् गठित करने पर सहमति बनी। एडिनबर्ग शिखर सम्मेलन पहला राष्ट्रमंडल शिखर सम्मेलन था, जिसने एक आर्थिक घोषणा को अपनाया।

(iv) राजनीकि क्षेत्र में, राष्ट्रमंडल मानवाधिकारों की रक्षा और स्वच्छ प्रशासन को प्रोत्साहित करने के लिए समर्पित है। दक्षिणी अफ्रीकी देशों में बहुमत के शासन की स्थापना में सहायता देना राष्ट्रमंडल की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धियों में से एक है। राष्ट्रमंडल ने दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद का विरोध किया, जिम्बाबे में बहुमत का शासन स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा नामीबिया की तकनीकी और मानवीय सहायता प्रदान की। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद समाप्त करने तथा प्रजातंत्र की स्थापना हेतु सन् 1985 ई० में राष्ट्रमंडल प्रतिष्ठित व्यक्ति समूह का गठन किया गया।

3. संयुक्त राष्ट्र की महासभा के संगठन व कार्यों का वर्णन कीजिए।

उ०– **संयुक्त राष्ट्र की महासभा का संगठन–** महासभा संयुक्त राष्ट्र संघ के छ: अंगों में से एक है जो एक सर्वागीण संस्था है। इस सभा में सभी इच्छुक राष्ट्रों को बिना भेदभाव के सदस्यता दी जाती है। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को इसमें अपने पाँच प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है, किन्तु किसी भी निर्णायक मतदान के अवसर पर उन पाँचों का केवल एक ही मत माना जाता है। इस सभा का अधिवेशन वर्ष में एक बार सितम्बर माह में होता है। आवश्यकता पड़ने पर एक से अधिक बार भी अधिवेशन हो सकता है। महासभा प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय विषय पर विचार कर सकती है। साधारण विषयों में बहुमत से निर्णय लिया जाता है, किन्तु विशेष विषयों के निर्णय के लिए दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता पड़ती है। महासभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का चुनाव प्रतिवर्ष होता है। इनकी नियुक्ति स्वयं महासभा ही करती है।

महासभा के कार्य– महासभा का कार्य विश्व में शान्ति व सुरक्षा बनाए रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धान्तों पर तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर विचार करना तथा सिफारिश करना है।

सुरक्षा परिषद् सहित संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य सभी अंग अपने वार्षिक व विशेष प्रतिवेदन विचारार्थ महासभा के पास भेजते हैं। महासभा संघ के अन्य सभी अंगों के अधिकारों व कार्यों पर विचार करती है। यह सारे संगठन के बजट पर विचार करती है तथा उसे स्वीकार करती है। यह सुरक्षा परिषद् के 10 अस्थायी सदस्यों का भी निर्वाचन करती है। महासभा अपने समस्त कार्य सात प्रमुख समितियों द्वारा सम्पन्न करती है।

4. संयुक्त राष्ट्र संघ की चार प्रमुख उपलब्धियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए। इसके सुदृढ़ करने के दो सुझाव दीजिए।

उ०– **संयुक्त राष्ट्र संघ की उपलब्धियाँ–** विश्व-शान्ति को बनाए रखने के लिए संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् तथा महासभा ने निम्नलिखित प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान करने में एक बड़ी सीमा तक सफलता प्राप्त की है—

(i) संयुक्त राष्ट्र ने कोरिया तथा हिन्द-चीन के युद्ध को समाप्त कराया और कोरिया की स्वाधीनता पर आँच नहीं आने दी।

(ii) संयुक्त राष्ट्र ने इण्डोनेशिया से डच सेनाओं को वापस लौटने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार सन् 1948 ई० में स्वतंत्र इण्डोनेशिया का उदय हुआ।

(iii) इसने फिलिस्तीन की समस्या को हल करने के लिए यहूदियों के लिए सन् 1948 ई० में इजराइल राज्य की स्थापना की।

(iv) सन् 1965 ई० में जब पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण कर दिया तो संयुक्त राष्ट्र ने इस युद्ध को समाप्त करवाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। यह युद्ध जनवरी 1966 में ताशकन्द समझौते के साथ समाप्त हुआ।

(v) सन् 1991 ई० में खाड़ी युद्ध के प्रारम्भ होने पर संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् ने तुरन्त अपनी बैठक बुलाई और वहाँ शान्ति स्थापित करने हेतु प्रस्ताव पारित किया। इस प्रकार खाड़ी युद्ध की समाप्ति में संयुक्त राष्ट्र ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

(vi) संयुक्त राष्ट्र ने इंग्लैण्ड और मिस्र के बीच स्वेजनहर के झगड़े का अन्त कराया। मलाया, लीबिया, टयूनेशिया, घाना तथा टोगोलैण्ड आदि देशों को स्वतंत्र कराने में पूर्ण सहायता की।

(vii) संयुक्त राष्ट्र नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है जिससे दुनिया के अविकसित एवं विकासशील देशों को आर्थिक न्याय प्राप्त हो सके तथा विकसित और विकासशील देशों के बीच के अन्तर को समाप्त किया जा सके। संयुक्त राष्ट्र द्वारा सन् 1974 ई० में राज्यों के आर्थिक अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के चार्टर को स्वीकार किया गया है जिसमें अपने प्राकृतिक संसाधनों पर देशों की सम्प्रभुता को स्वीकार किया गया है। संयुक्त राष्ट्र की विशिष्ट आर्थिक एवं वित्तीय संस्थाएँ— अन्तर्राष्ट्रीय मुदा कोष, विश्व बैंक आदि ने दुनिया के अविकसित तथा विकासशील देशों को आर्थिक संकट से उबारने एवं उन्हें विकास कार्यों में सहायता प्रदान करने में उल्लेखनीय योगदान दिया है।

(viii) संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में सहायता और सुरक्षा परिषद् दोनों पर यह जिम्मेदारी डाली गई है कि वे नि:शस्त्रीकरण के लिए कार्य करें। संयुक्त राष्ट्र ने नि:शस्त्रीकरण को लागू करने और विध्वंसक परमाणु हथियारों पर पाबन्दी लगाने के लिए समय-समय पर कई सम्मेलनों का आयोजन किया है तथा अनेक प्रस्ताव पारित किए हैं। संयुक्त राष्ट्र को नि:शस्त्रीकरण के प्रयासों में भारत का सहयोग भी प्राप्त हुआ है और वह काफी हद तक शस्त्रों के प्रसार को रोकने में सफल रहा है।

सुझाव

(i) विश्व के समक्ष चुनौतियों का सामना करने के लिए संयुक्त राष्ट्र की कार्यकारिणी सुरक्षा परिषद् का विस्तार कर स्थायी व अस्थायी सदस्यों की संख्या में वृद्धि की जानी चाहिए।

(ii) संयुक्त राष्ट्र व सुरक्षा परिषद् की आय के स्वतंत्र एवं विश्वसनीय स्रोतों की स्थापना होनी चाहिए।

5. संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् की संगठनात्मक कमियों पर प्रकाश डालिए तथा उनके सुधार के उपाय सुझाइए।

उ०– **सुरक्षा परिषद् की संगठनात्मक कमियाँ–** वर्तमान में सुरक्षा परिषद् विश्व में शान्ति व सुरक्षा बनाए रखने में विफल रही है। इसकी संगठनात्मक कमियाँ निम्न प्रकार हैं—

(i) सुरक्षा परिषद् के वर्तमान पाँच स्थायी सदस्यों संयुक्त राज्य अमरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, रूस व चीन) को 'वीटो' का अधिकार प्राप्त है। ये पाँचों राष्ट्र विश्व में शान्ति व सुरक्षा के उस हर प्रस्ताव को 'वीटो' अधिकार से रद्द कर देते हैं जिससे उनका अपना हित-साधन न होता हो। इराक पर अमरीका द्वारा हमला न करने का प्रस्ताव इसी कारण कार्यान्वित न हो सका।

(ii) अपनी आय व खर्चों के लिए संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् इन बड़े राष्ट्रों की आर्थिक सहायता पर ही निर्भर हैं। अत: ये राष्ट्र सुरक्षा परिषद् से अपनी मनमानी कराने में सफल हो जाते हैं।

(iii) सुरक्षा परिषद् के पास विश्व शान्ति व सुरक्षा के लिए अपना कोई सैन्य बल नहीं है। अत: वह अपनी प्रभावी कार्यवाही नहीं कर पाती।

(iv) सुरक्षा परिषद् के स्थायी व अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ाने के प्रस्ताव को भी बड़े देश टालते आ रहे हैं।

(v) सुरक्षा परिषद् इन पाँच बड़े स्थायी सदस्यों की 'जेबी संस्था' बन गई है, विशेष रूप से अमरीका की।

सुरक्षा परिषद के संगठन के लिए सुझाव– संयुक्त राष्ट्र संघ व उसकी सुरक्षा परिषद् के संगठन व कार्यशैली के सुधारात्मक उपाय निम्नलिखित हैं—

संयुक्त राष्ट्र व उसकी सुरक्षा परिषद् की संरचना व कार्यशैली के लिए सुझाव–

(i) विश्व के समक्ष विद्यमान नई चुनौतियों को देखते हुए सुरक्षा परिषद् के स्थायी व अस्थायी सदस्यों की संख्या में वृद्धि होनी चाहिए।

(ii) नए बनने वाले स्थायी सदस्यों को भी 'वीटो' को दिया जाना चाहिए ताकि 'वीटो' पर पाँच बड़े देशों का ही अधिकार न रहे।

(iii) यदि नए स्थायी सदस्यों को वीटों का अधिकार न दिया जाए तो पुराने सदस्यों के इस अधिकार को भी समाप्त कर दिया जाए। इससे सुरक्षा परिषद् का रूप लोकतन्त्रीय बनेगा।

(iv) सुरक्षा परिषद् का अपना शक्तिशाली, स्थायी सैन्य बल होना चाहिए।

(v) संयुक्त राष्ट्र व सुरक्षा परिषद् की आय के स्वतंत्र एवं विश्वसनीय स्रोतों की स्थापना होनी चाहिए।

6. विश्व-शान्ति स्थापित करने में संयुक्त राष्ट्र का क्या योगदान है?

उ०– **विश्व-शान्ति स्थापित करने में संयुक्त राष्ट्र का योगदान–** संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रमुख कार्य विश्व में शान्ति और सुरक्षा को बनाए रखना है। इसके लिए संयुक्त राष्ट्र संघ निम्नलिखित कार्य करता है—

(i) संयुक्त राष्ट्र संघ विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं और विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से हलल करने का प्रयत्न करता है।

(ii) दो राष्ट्रों के मध्य शान्ति समझौते करवाता है तथा युद्ध की सम्भावनाओं को कम करता है।

(iii) संयुक्त राष्ट्र संघ में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को हल करने के लिए विचार-विमर्श किए जाते हैं और उनके समाधान के लिए उपाय तथा प्रस्ताव रखे जाते हैं।

(iv) संयुक्त राष्ट्र संघ एक अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत के रूप में कार्य करता है।

(v) यह विश्व के किसी भी क्षेत्र में तनाव होने पर अपने शान्ति दूत भेजता है तथा आपसी बातचीत द्वारा समस्या का समाधान करवाता है।

(vi) आवश्यकता पड़ने पर दो पक्षों के बीच मध्यस्थता भी करता है।

(vii) कभी-कभी आर्थिक दबाव, आर्थिक तथा व्यापारिक प्रतिबन्धों का भी प्रयोग करता है।

(viii) यदि इससे भी स्थिति नियंत्रण में नहीं आती तो तनावग्रस्त क्षेत्रों में सैनिक बल प्रयोग की धमकी देता है और अत्यधिक जरूरत आ पड़ने पर बल प्रयोग भी करता है।

(ix) विश्व के किसी क्षेत्र में सशस्त्र आक्रमण होने पर पीड़ित क्षेत्र की माँग पर या फिर परिस्थितियों के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ सुरक्षा कार्यवाही करता है। इसके लिए संघ के पास शान्ति-सेना होती है। वर्तमान समय में संयुक्त राष्ट्र संघ की शान्ति-सेना विवादाग्रस्त या हिंसाग्रस्त क्षेत्रों में शान्ति स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

इस प्रकार अपनी स्थापना के बाद से ही संयुक्त राष्ट्र संघ ने अनेक अंतर्राष्ट्रीय विवादों और समस्याओं को सुलझाने में सफलता प्राप्त की है और आज भी सफल हो रहा है।

अपनी स्थापना के बाद से ही संयुक्त संघ ने अनेक विवाद हल करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। रूस-ईरान विवाद, बर्लिन समस्या, कोरिया समस्या, लेबनान समस्या, स्वेज नहर की समस्या, कांगों समस्या, वियतनाम समस्या, रोडेशिया समस्या, फाकलैण्ड युद्ध, इराक-ईरान युद्ध, कुवैत समस्या, यूगोस्लाविया समस्या आदि समस्याओं को शान्तिपूर्ण हल निकालकर संयुक्त राष्ट्र संघ ने विश्व शान्ति स्थापना में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

किन्तु पिछले कुछ वर्षों में रूस की कमजोरी और अमरीका की शक्ति और मनमानी के कारण संयुक्त राज्य संघ का महत्व कम हुआ है और संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलता पर प्रश्न चि लग गया है। विश्व में अमरीका के निरन्तर बढ़े प्रभाव और एकाधिकार के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थिति कमजोर हो रही है। यही कारण है कि मार्च 2003 में सयुक्त राष्ट्र संघ अमरीका को इराक पर आक्रमण करने से नहीं रोक सका।

7. सुरक्षा परिषद् के संगठन एवं कार्यों की विवेचना कीजिए।

उ०– **सुरक्षा परिषद् का संगठन–** सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र का सबसे महत्वपूर्ण अंग हैं। सुरक्षा परिषद् में कुल 15 सदस्य है जिनमें 5 स्थायी और 10 अस्थायी है। संयुक्त राज्य अमरीका, रूस, यू० के०, फ्रांस तथा साम्यवादी चीन इस संस्था के 5 स्थायी सदस्य है। अस्थायी सदस्यों का चुनाव महासभा द्वारा दो वर्षों के लिए होता है। इस परिषद् का मुख्य कार्य विश्व-शान्ति को प्रत्येक प्रकार से सुरक्षित रखना है। किसी भी वाद-विवाद का अन्तिम निर्णय पाँच स्थायी सदस्यों की सहमति एवं चार अस्थायी सदस्यों की सहमति के आधार पर लिया जाता है। यदि स्थायी सदस्यों में से किसी एक सदस्य की किसी विषय पर अस्वीकृति हो जाती है तो वह निर्णय रद्द हो जाता है। स्थायी सदस्यों के इस अधिकार को निषेधाधिकार कहते हैं।

इस परिषद् को विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए असीम अधिकार प्राप्त हैं। इस परिषद् ने अपने इन अधिकारों का अनेक अवसरों पर सदुपयोग भी किया है। इसे आवश्यकतानुसार सैन्य शक्ति के प्रयोग का भी अधिकार प्राप्त है।

सुरक्षा परिषद् के प्रमुख कार्य– सुरक्षा परिषद् के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष और विवाद के कारणों की जाँच करना और उसके निराकरण के शान्तिपूर्ण समाधान के उपाय खोजना।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा स्थापित करना।

(iii) महासभा को नए सदस्यों के संबंध में सुझाव देना।

(iv) अपनी वार्षिक रिपोर्ट तथा अन्य रिपोर्टो को महासभा के पटल पर रखना।

(v) युद्ध को तत्काल बन्द करने के लिए आर्थिक सहायता को रोकना और सैन्य शक्ति का प्रयोग करना।

8. वर्तमान में सुरक्षा परिषद् विश्व-शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने में क्यों विफल रही है? सुरक्षा परिषद् को सक्षम बनाए रखने के लिए इसकी संरचना और कार्यशैली में सुधार हेतु अपने सुझाव दीजिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या— 5 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

9. संयुक्त राष्ट्र के मुख्य कार्यों का विवेचन कीजिए।

उ०– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—6 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

10. भारतीय विदेश नीति की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए। अथवा
भारत की विदेश नीति के आधारभूत तत्वों का वर्णन कीजिए।

उ०– **भारतीय विदेश-नीति के प्रमुख तत्व एवं विशेषताएँ–** देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति (1947 ई०) के समय से लेकर अब तक भारतीय विदेश नीति के जो प्रमुख तत्व एवं विशेषताएँ रही हैं, उनकी विवेचना निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत की जा सकती है—

(i) साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध– साम्राज्यवादी शोषण से त्रस्त भारत ने अपनी विदेश नीति में साम्राज्यवाद के प्रत्येक रूप का कटु विरोध किया है। भारत जानता है कि इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ विश्व-शान्ति एवं विश्व व्यवस्था के लिए अत्यंत घातक एवं गंभीर है।

''भारत की नीति हमेशा से यही रही है कि यह पराधीन लोगों की स्वतंत्रता के प्रति आवाज उठाता रहा हैं एवं भारत का दृढ़ विश्वास रहा है कि साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद हमेशा से आधुनिक युद्धों का कारण रहा है।'' **–के०एम० पणिक्कर**

इसी आधार पर भारत ने इण्डोनेशिया, टयूनीशिया, अल्जीरिया, मोरक्को, अंगोला, दक्षिण अफ्रीका, रोडेशिया (जिम्बाब्वे), साउथ वेस्ट अफ्रीका (नामीबिया) आदि राष्ट्रों के साम्राज्यवाद के विरुद्ध चले स्वतंत्रता संग्राम का समर्थन किया था।

(ii) सभी राष्ट्रों से मित्रता– भारत ने विश्व के समस्त राष्ट्रों के साथ मिल-जुलकर कार्य करने एवं शान्ति को स्थायी बनाने के लिए तटस्थता का मार्ग अपनाया। भारत ने मित्रता के संबंधों को सुदृढ़ बनाया एवं अन्य राष्ट्रों को भी इस आदर्श की ओर चलने के लिए प्रेरित किया। सन् 1984 ई० में इसी उद्देश्य से अफ्रीकी-एशियाई देशों का दिल्ली में सम्मेलन किया गया। इसके उपरान्त बेलग्रेड सम्मेलन (1989 ई०), जकार्ता शिखर सम्मेलन (1992 ई०) तथा कार्टाजेना शिखर सम्मेलन (1995 ई०) में भी सभी राष्ट्रों के मध्य सोहार्दपूर्ण संबंधों को विकसित करने पर बल दिया गया।

(iii) तटस्थता अथवा गुटनिरपेक्षता की नीति– युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सबसे प्रमुख परिणाम विश्व का दो विरोधी गुटों में विभाजित होना था। स्वतंत्रता-प्राप्ति से ही भारत ने निश्चय कर लिया था कि भारत इन दो विरोधी गुटों में से किसी में भी सम्मिलित नहीं होगा, बल्कि विश्व के सभी देशों के साथ मित्रतापूर्ण संबंध स्थापित करने का प्रयास करेगा। इस नीति के अनुसार भारत की एक स्वतंत्र विदेश नीति का निर्धारण किया गया। भारत की इस विदेश नीति को तटस्थता का नाम दिया गया है। गुटनिरपेक्षता का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दोनों ही गुटों से अलग रहते हुए विश्व-शान्ति, सत्य और न्याय का समर्थन करना है।

''गुटनिरपेक्षता शान्ति का मार्ग और युद्ध से बचाव का मार्ग है। इसका उद्देश्य सैनिक गुटबन्दियों से दूर रहना है। यह एक निषेधात्मक नीति नहीं है बल्कि एक सकारात्मक, एक निश्चित और मै आशा करता हूँ कि एक निरन्तर विकासशील नीति है

–पं० नेहरू

(iv) विश्व-शान्ति और नि:शस्त्रीकरण का समर्थन– भारत निरन्तर विश्व-शान्ति का समर्थन करता रहा है। इस कारण भारत ने हमेशा से ही नि:शस्त्रीकरण की प्रक्रिया का समर्थन किया है। भारत का विचार रहा है कि विश्व-शान्ति तब ही स्थापित की जा सकती है जब भय और आतंक का वातावरण उत्पन्न करने वाली शस्त्रों की दौड़ से दूर रहा जाए और सभी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र के प्रतिज्ञा-पत्र का पूर्ण ईमानदारी एवं सच्चाई से पालन करें। भारत ने कई बार अपने यहाँ नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन आयोजित किया है।

(v) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और पंचशील– अपने कूटनीतिक संबंधों के संचालन में भारत ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को विशेष महत्व दिया। इस परम्परा ने आगे चल कर विश्व राजनीति में 'देतान्त' (तनाव शैथिल्य) की प्रक्रिया का विकास करने में सहायता प्रदान की। अन्तराष्ट्रीय राजनीति को सामान्य रूप से और भारतीय विदेश नीति को विशेष रूप से पं० नेहरू की मुख्य देन पंचशील के पाँच सिद्धान्तों के संबंध में थी इन सिद्धान्तों के अंतर्गत यह स्वीकार किया गया था कि भारत अपनी विदेश नीति को शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर आधारित करेगा, दूसरे देशों की सम्प्रभुता का सम्मान करेगा और किसी देश के साथ हुए विवाद को द्विपक्षीय वार्ता के द्वारा शान्तिपूर्ण वातावरण में सुलझाने का प्रयास करेगा।

भारत की विदेश नीति का प्रमुख आदर्श पंचशील-सिद्धान्त रहा है। जून 1954 ई० में पं० जवाहरलाल नेहरू ने इस सिद्धान्त को प्रतिपादन किया था। जून 1955 ई० में बाण्डुग सम्मेलन (इण्डोनेशिया) में एशिया और अफ्रीका के 29 देशों ने इसे स्वीकार किया था। पंचशील के पाँच सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(क) कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण न करे तथा शान्तिपूर्ण तरीकों से पारस्परिक विवादों का समाधान करे।

(ख) कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करे।

(ग) सभी राष्ट्र एक-दूसरे की सम्प्रभुता तथा अखंडता का सम्मान करे।

(घ) सभी राष्ट्र शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना के साथ अर्थात् मिल-जुलकर शान्तिपूर्वक रहे और परस्पर मैत्री पूर्ण संबंध कायम रखे।

(ङ) सभी राष्ट्र पारस्परिक समानता तथा पारस्परिक हितों में अभिवृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहें।

(vi) विदेशों से बिना शर्त आर्थिक सहायता की प्राप्ति– भारत ने अपने आर्थिक तथा औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में विदेशी पूँजी प्राप्त की है। इस संबंध में विशेष बात यह है कि भारत ने यह आर्थिक सहायता विश्व के दोनों गुटों से बिना किसी शर्त के प्राप्त की है।

(vii) संयुक्त राष्ट्र के साथ सहयोग– प्रारम्भ से ही भारत ने संयुक्त राष्ट्र के साथ सहयोग किया है। इसके महत्व के विषय में **पं० नेहरू** ने कहा था— ''हम संयुक्त राष्ट्र के बिना आधुनिक विश्व की कल्पना नहीं कर सकते।'' भारत ने सदैव ही विश्व-हितों को प्रमुखता दी है। कोरिया, हिन्दचीन, साइप्रस व कांगों की समस्याओं के समाधान में भारत ने अपनी रुचि दिखाई थी और संयुक्त राष्ट्र के आदेश पर भारत ने यहाँ अपनी सेनाएँ भेजकर शान्ति स्थापना में सहयोग दिया था।

(viii) जातीय भेदभाव का विरोध– भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है जिसने संयुक्त राष्ट्र में जातीयता एवं रंगभेद की नीति का सबसे प्रबल विरोध किया है। जातीय भेदभाव के औचित्य पर भारत के द्वारा इतनी दृढ़ एवं शक्तिशाली प्रतिक्रिया भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति के कारण सफल हो सकी।

11. ''भारत की संयुक्त राष्ट्र संघ में सदैव आस्था रही है।'' इस कथन के प्रकाश में संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत की भूमिका पर प्रकाश डालिए।

उ०– भारत संयुक्त राष्ट्र को विश्व-शान्ति स्थापित करने वाला एक सहारा मानता है। भारत संयुक्त राष्ट्र का एक संस्थापक सदस्य है। भारत ने संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न अंगों तथा विशेष अभिकरणों में सक्रिय भाग लेकर महत्वपूर्ण कार्य किया है। भारत ने आज तक संयुक्त राष्ट्र के आदेशों का पूर्णत: पालन किया है।

भारत के संयुक्त राष्ट्र के साथ संबंधों के सन्दर्भ में भारत द्वारा संयुक्त राष्ट्र को समर्थन का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है—

(i) भारतीय सेनाओं का योगदान– संयुक्त राष्ट्र ने भारतीय सेनाओं के कार्यों की प्रशंसा की है। इसी हेतु उसने कांगों में शान्ति स्थापना के लिए अपनी सेनाएँ भेजी। उन्होंने निष्पक्षता के साथ वहाँ शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना कर देश की एकता को बचाया। इसके अतिरिक्त भारत ने सोमालिया मे भी शान्ति स्थापनार्थ अपनी सेनाएँ भेजीं। भारतीय सेनाएँ यूगोस्लाविया, कम्बोडिया, लाइबेरिया, अंगोला तथा मोजाम्बिक में संयुक्त राष्ट्र की शान्ति स्थापनार्थ कार्यवाही में सफलतापूर्वक भाग लेकर सम्मान सहित स्वदेश लौटी है।

(ii) आर्थिक सहयोग पर महत्वपूर्ण कार्य– भारत ने संयुक्त राष्ट्र से संबंधित देशों के आह्वान पर आर्थिक सहयोग पर अधिक-से-अधिक बल दिया है तथा यथायोग्य सहायता भी प्रदान की है। विभिन्न देशों के साथ आर्थिक सहयोग के लिए संयुक्त राष्ट्र के लिए स्थापित संयुक्त कमीशन तथा तकनीकी कार्यक्रमों के विकास में पूर्ण सहयोग दिया है। एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के विकासशील देशों के लिए तथा प्रादेशिक अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर आर्थिक सहयोग का समर्थन किया है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि भारत ने आर्थिक विकास के लिए विश्व में अपनी अच्छी साख बनाई हैं।

(iii) लोकतंत्र के सिद्धान्त पर बल– संयुक्त राष्ट्र में विचार-विमर्श की अवधि में भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के लोकतांत्रिक स्वरूप और सुरक्षा परिषद् तथा संयुक्त राष्ट्र के अन्य अंगों को बढ़ी हुई सदस्य संख्या के अनुरूप अधिक प्रतिनिधि बनाने का दृढ़ता के साथ समर्थन किया। भारत ने अपने प्रस्ताव में संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत ही लोकतंत्र के सिद्धान्त को लागू करने की आवश्यकता पर बल दिया तथा सन् 1994 ई० में महासभा के 49वें सत्र में सामान्य बहस के समय सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता के लिए अपना दावा भी किया।

(iv) पर-राष्ट्रों के संघर्षो की समाप्ति में योगदान– भारत ने क्रोशिया तथा बोस्निया-हर्जेगोविना में हुए संघर्षों को समाप्त करने के उद्देश्य से सुरक्षा परिषद् के प्रस्तावों को पूर्ण रूप से समर्थन दिया। भारत ने सोमालिया को मानवीय सहायता तत्काल भेजने में संयुक्त राष्ट्र की कार्यवाही का समर्थन किया तथा उसके कार्यों में सहयोग दिया।

(v) एशिया-प्रशांत क्षेत्र के लिए निगरानी का कार्य– नवम्बर 2011 ई० में एशिया-प्रशांत क्षेत्र की निगरानी हेतु संयुक्त राष्ट्र ने भारत का चयन कर उसे महत्ती जिम्मेदारी सौंपी है। यू० एन० संयुक्त निगरानी इकाई (J/u) में भारत ने चीन को हराकर सीट पक्की की है। एशिया-प्रशांत क्षेत्र के लिए यह एकमात्र सीट हैं।

J/u में भारत का पाँच वर्षीय कार्यकाल 1 जनवरी 2013 से शुरू हुआ। मतदान में 183 वोट पड़े। भारत को 106 व चीन को 77 वोट मिले। इस इकाई के लिए सदस्य जेनेवा स्थित संयुक्त राष्ट्र कार्यालय में भारत के स्थायी प्रतिनिधि ए० गोपीनाथन बने। इस पद को प्राप्त कर भारत की भूमिका इस क्षेत्र में काफी बढ़ गई, जहाँ पर पहले स्थान के लिए चीन पहले से ही वर्चस्व लड़ाई में उलझा हुआ था।

(vi) नि:शस्त्रीकरण और आतंकवाद की समाप्ति– भारत ने पश्चिम एशिया, अफगानिस्तान, इराक की वर्तमान स्थिति से जुड़े मुद्दों, जिनमें आतंकवाद प्रमुख है, पर सुरक्षा परिषद् की खुली बैठकों में सक्रिय रूप से वाद-विवाद किया है। महासभा की पहली समिति के 58वें अधिवेशन में भारत द्वारा 'व्यापक नरसंहार के हथियारों को प्राप्त करने से आतंकवादियों को रोकने के लिए उपाय' विषय पर प्रस्तुत प्रस्ताव को सर्वसम्मति से अपना लिया गया है। वर्ष 2004 से 2006 ई० की अवधि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की भारत को सदस्यता मिलना संयुक्त राष्ट्र के प्रति उसे बहुआयामी योगदान का एक प्रबल प्रमाण है।

उपर्युक्त विवेचना से यह तथ्य स्पष्ट होते हैं कि भारत और संयुक्त राष्ट्र के संबंध संयुक्त राष्ट्र की स्थापना से ही मैत्रीपूर्ण तथा सहयोगी रहे हैं।

भारत संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों में पूर्ण विश्वास तथा आस्था रखता है। भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उसके बाहर भी विश्व के दो गुटों में संतुलन बनाए रखने का प्रभावशाली प्रयत्न किया है और सदा शान्ति व न्याय का पक्ष लिया है।

12. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के संबंध में पं० जवाहरलाल नेहरू की भूमिका का वर्णन कीजिए।

उ०– गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के संबंध में पं० जवाहरलाल नेहरू की भूमिका– आजादी के बाद स्वतंत्र और नवगठित राष्ट्र भारत को दुनिया के नक्शे पर स्थापित करना उसके नेताओं के सामने एक बड़ी चुनौती तो थी, लेकिन पंडित नेहरू ने इस काम को बड़ी कुशलता से अंजाम दिया। इस महत्वपूर्ण उपलब्धि के मुख्य कर्ताधर्ता पंडित नेहरू थे। वह समझते थे कि अपनी महान् सभ्यता के कारण भारत निडरता से अपनी बात रख सकता है। यदि भारत अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर अपनी पहचान नहीं बना पाया तो औपनिवेशिक गुलामी से मिली आजादी अर्थहीन है। यह देश के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ही थे जिन्होंने महादेश के समान आकार वाले देश की भावना को गुटनिरपेक्षता और उसके संगठन का स्वरूप दिया। उस आन्दोलन का परिप्रेक्ष्य द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दो विरोधी गुटों में विश्व का विभाजन था, एक अमरीका तथा दूसरा गुट सोवियत संघ के नेतृत्व में। देश के महान् नेता पंडित नेहरू मानते थे कि एशिया तथा अफ्रीका के नवस्वतंत्र और गरीब देशों को बड़ी शक्तियों के सैनिक गुटों से फायदे के बजाए नुकसान ही होगा।

नवस्वतंत्र देशों के सामने सबसे बड़ी चुनौती थी गरीबी, निरक्षरता और बीमारी जैसे बदतर हालत से निबटने की और यह सब सैनिक गुटों में शामिल होने से नहीं हो सकता। सच तो यह है कि तत्कालीन परिस्थितियों में भारत और उसके समान अन्य देशों को विकास के लिए शान्ति और शान्त वातावरण की आवश्यकता है। इसलिए भारत ने तो बगदाद पैक्ट, मनीला संधि, सीटी और सेंटो में शामिल हुआ और न ही इन संधियों का समर्थन किया। इन्हीं संधियों के जरिए पश्चिम तथा पूर्व एशियाई देशों को पश्चिमी शक्ति गुटों के साथ जोड़ा गया। पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में भारत सिर्फ निष्पक्ष या सैनिक गुटों से दूर ही नहीं रहा, बल्कि गुटनिरपेक्षता के अपने सिद्धान्त पर भी अड़ा रहा। गुटनिरपेक्ष भारत तथा अन्य नवस्वतंत्र राष्ट्रों की उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद से हासिल की गई आजादी बरकरार रखने के संघर्ष का प्रतीक है। नवस्वतंत्र राष्ट्रों का नेतृत्व भारत कर रहा था। संयुक्त राष्ट्रसंघ में इन्हें सदस्यता मिलने से वहाँ के सदस्य देशों की संख्या काफी बढ़ गयी। एक देश, एक वोट की व्यवस्था ने गुटनिरपेक्ष समुदाय की सोवियत संघ की मदद से पश्चिमी गुट का सामना करने में मदद की। इस प्रकार पंडित नेहरू के गुटनिरपेक्षता के सिद्धांत ने विश्व संबंधों के जनवादीकरण में मदद की। उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष में औपनिवेशिक एवं पूर्व औपनिवेशिक देशों की सहायता को पंडित नेहरू ने भारत की विदेश नीति को प्रमुख आधार बनाया। इसमें गुटनिरपेक्षता ने काफी मदद की। विदेश नीति को मजबूत करने के उद्देश्य को भी इससे सहायता मिली।

पंडित नेहरू ने भारत की विदेश नीति को युद्ध और हिरोशिमा की घटना के बाद युद्ध न्यूक्लियर युद्ध के खतरे के खिलाफ खड़ा किया। पंडित नेहरू के इस विचार को आइंस्टीन तथा वर्टेंड रसेल जैसे महान् बुद्धिजीवियों का समर्थन प्राप्त था। पंडित नेहरू ने लगातार जोर दिया कि विभिन्न विचारधाराओं और व्यवस्थाओं वाले देशों के बीच शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व एक आवश्यकता हैं। उनका विश्वास था कि इस सच्चाई पर किसी का एकाधिकार नहीं है और बहुलवाद जीवन की सच्चाई थी। इस उद्देश्य के लिए पं० जवाहरलाल नेहरू ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के बीच सिद्धान्त पेश किए जिस सिद्धान्त के बीच विभिन्न देशों के बीच संबंधों का नियमन होगा। ये पाँच सिद्धान्त थे— एक दूसरे की भौगोलिक अखंडता और सार्वभौमिकता के लिए सम्मान, हमले की नीति का त्याग, एक-दूसरे के आंतरिक मामलों में दखल नहीं होगा, समानता और आपसी फायदा तथा शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व। इन राष्ट्रों के विश्व व्यवहार संबंधी नेहरूजी के विचार-विमर्श में कई महत्वपूर्ण घटनाएँ घटी। आजादी के पहले मार्च 1947 ई० में उनकी प्रेरणा से एक एशियाई संबंधों का सम्मेलन आयोजित किया गया। यह सम्मेलन दिल्ली में हुआ। जिसमें बीस से अधिक देशों ने भाग लिया।

13. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के महत्व पर प्रकाश डालते हुए उसमें भारत की भूमिका का उल्लेख कीजिए।

उ०– **गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का महत्व–** वर्तमान विश्व के संदर्भ में गुटनिरपेक्षता का व्यापक महत्व है, जिसे निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

वर्तमान विश्व के सन्दर्भ में गुटनिरपेक्षता का व्यापक महत्व है, जिसे निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

(i) गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने साम्राज्यवाद का अन्त करने और विश्व में शान्ति व सुरक्षा बनाए रखने के लिए महत्वपूर्ण प्रयास किए हैं।

(ii) गुटनिरपेक्षता के कारण ही विश्व की महाशक्तियों के मध्य शक्ति-सन्तुलन बना रहा।

(iii) गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने विज्ञान व तकनीक के क्षेत्र में एक-दूसरे को पर्याप्त सहयोग दिया है।

(iv) गुटनिरपेक्षता ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को व्यापक रूप से प्रभावित किया है।

(v) गुटनिरपेक्ष सम्मेलनों ने सदस्य-राष्ट्रों के मध्य होने वाले युद्धों एवं विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से समाधान किया है।

(vi) गुटनिरपेक्ष ने तृतीय विश्वयुद्ध की सम्भावना को समाप्त करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

(vii) यह आन्दोलन निर्धन तथा पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास पर बहुत बल दे रहा है।

(viii) गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने विश्व के परतंत्र राष्ट्रों को स्वतंत्र कराने और रंगभेद की नीति का विरोध करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

(ix) इसने सार्वभौमिक व्यवस्था की तरफ ध्यान आकर्षित किया तथा अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में शीत-युद्ध की भूमिका को कम करने तथा इसकी समाप्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

(x) गुटनिरपेक्ष आन्दोलन राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रवाद में परिवर्तित करने तथा द्वि-ध्रुवीकरण को बहु-केंद्रवाद में परिवर्तित करने का उपकरण बना।

(xi) इसने सफलता पूर्वक यह दावा किया कि मानव जाति की आवश्यकता पूँजीवाद तथा साम्यवाद के मध्य विचारधारा संबंधी विरोधों से हटकर है।

(xii) गुटनिरपेक्षता नए राष्ट्रों के संबंधों में स्वतंत्रतापूर्वक विदेशों से संबंध स्थापित करके तथा सदस्यता प्रदान करके उनकी सम्प्रभुता की सुरक्षा का साधन बनी हैं।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में भारत की भूमिका– गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की स्थापना तथा उसके विकास में भारत की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रही है। जिसका विवरण निम्न प्रकार है—

(i) गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का संगठन बनाने की दिशा में भारत ने पहल की।

(ii) स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद एशियाई देशों का एक सम्मेलन नई दिल्ली में बुलाया गया जिसमें 18 देशों ने भाग लिया।
(iii) सन् 1949 में दूसरा एशियाई सम्मेलन पुन: नई दिल्ली में बुलाया गया।
(iv) सन् 1955 में भारत, चीन व इंडोनेशिया की पहल पर इंडोनेशिया के बाण्डुंग नगर में 29 एशियाई राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ, जिसमें भारत के प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू की विशेष भूमिका रही। इसी सम्मेलन में पंचशील के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया।
(v) सन् 1961 में बेलग्रेड सम्मेलन में पं० नेहरू के विशेष प्रयासों से तटस्थता व गुटनिरपेक्षता की नीति का विकास किया गया। उस समय 25 राष्ट्रों ने इस नीति में दृढ़ विश्वास प्रकट किया।
(vi) गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का सातवाँ सम्मेलन सन् 1983 में नई दिल्ली में स्व. प्रधानमंत्री श्रीमति इंदिरा गाँधी की अध्यक्षता में हुआ जिसमें 101 सदस्य सम्मिलित थे।
(vii) गुटनिरपेक्ष आन्दोलन द्वारा स्थापित 'अफ्रीका निधि' की स्थापना व संचालन के लिए बनी 9 सदस्यों की समिति का भारत अध्यक्ष रहा।

14. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए तथा वर्तमान परिस्थितियों में इसकी प्रासंगिकता पर प्रकाश डालिए।

उ०– **गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के उद्देश्य व सिद्धान्त या विशेषताएँ–** गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के प्रमुख उद्देश्य व सिद्धान्त निम्न प्रकार निर्धारित किए गए–

(i) विश्व में शांति बनाए रखना।
(ii) उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद का विरोध करना।
(iii) सहयोगी और सहअस्तित्व के आधार पर अन्य देशों से संबंध रखना।
(iv) सैनिक गुटों में शामिल न होना तथा उनका विरोध करना।
(v) हथियारों की होड़ समाप्त करना।
(vi) राष्ट्रों की स्वाधीनता, समानता, निशस्त्रीकरण तथा मानव अधिकारों का समर्थन करना।
(vii) रंगभेद नीति तथा शोषण का विरोध करना।
(viii) महाशक्तियों के दोनों गुटों में अप्रभावित रहते हुए स्वतन्त्र नीति अपनाना तथा न्याय को समर्थन देना।
(ix) विश्व के देशों के बीच तनाव कम करना।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रासंगिकता– गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का गठन, अफ्रीका, एशिया, लेटिन अमरीका एवं विश्व के अन्य उन देशों को मिलाकर किया गया जो तत्कालीन दौर में उपनिवेशी समस्याओं से गुजर रहे थे। आंदोलन की स्थापना के शुरूआती वर्षों में इसके सदस्य देशों में से कुछ ने तो स्वतंत्रता प्राप्त कर ली और कुछ स्वतंत्रता प्राप्ति की प्रक्रिया में थे। इसका गठन करने वाले पाँच देशों के प्रमुखों में पूर्व प्रधानमंत्री नेहरू भी थे।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन का गठन जिन परिस्थितियों और उद्देश्य को लेकर किया गया था, अब वे कितने प्रासंगिक हैं, इसमें संदेह है। हाल ही में वेनेजुएला में हुए इस सम्मेलन में हमारे प्रधानमंत्री के भाग न लेने की वजह भी यही रही है। भारत की ओर से उपराष्ट्रपति हामिद अंसारी के नेतृत्व में एक दल ने सम्मेलन में भाग लिया।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की सम्पूर्ण भूमिका को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एशिया तथा अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों के लिए एक शक्तिशाली विकल्प के रूप में प्रस्तुत हुआ है इसने अपेक्षाकृत छोटे एवं कमजोर राष्ट्रों की स्वतंत्रता एवं समता को बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। अनेक गम्भीर परिस्थितियों में महाशक्तियों के मध्य उत्पन्न हुए संघर्षों को रोकने एवं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को बनाए रखने में इन राष्ट्रों ने महत्वपूर्ण एवं सार्थक प्रयास किए। आधुनिक समय में संयुक्त राष्ट्र के लगभग 2/3 सदस्य गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के हैं तथा इन्होंने इन अन्तर्राष्ट्रीय मंचों से विश्व-शान्ति, उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के अन्त, रंगभेद की समाप्ति परमाणु शस्त्रों पर रोक, नि:शस्त्रीकरण, हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र घोषित करना आदि विषयों को उठाया, विचार-विमर्श किया तथा अनेक मुद्दों पर सफलताएँ भी प्राप्त की हैं।

इसकी सदस्यता अब 120 तक पहुँच गई है। अत: आन्दोलन की नई शक्ति प्राप्त हुई हैं, उसका प्रभाव बढ़ रहा है। शीतयुद्ध की समाप्ति पर इसकी राजनीतिक उपादेयता चाहे समाप्त हो गई है, परन्तु आर्थिक विकास के लिए अब भी इस आन्दोलन की प्रासंगिकता बनी हुई है।

आधुनिक समय में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन राजनीतिक आन्दोलन से हटकर आर्थिक आन्दोलन का रूप धारण करता जा रहा है। गुटनिरपेक्ष राष्ट्र 'नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' की इच्छा व्यक्त कर रहे हैं। गुटनिरपेक्षता की नीति में अब पारस्परिक सहयोग की धारणा का विकास हो रहा है।

15. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन क्या है? इसकी विशेषताएँ लिखिए।

उ०– **गुटनिरपेक्ष आन्दोलन या गुटनिरपेक्षता–** द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय जगत में एक महत्वपूर्ण घटना गुटनिरपेक्षता का उदय है। गुटनिरपेक्षता के प्रवर्तक भारत के **पं० जवाहरलाल नेहरू**, मिस्र के राष्ट्रपति **नासिर**, इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति **सुकर्णो**

तथा युगोस्लाविया के **मार्शल टीटो** थे। इन नेताओं ने जिस गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को विकसित किया, आज विश्व के 120 राष्ट्र उसके सदस्य हैं। संसार के गुटनिरपेक्ष देशों को तृतीय विश्व की संज्ञा दी जाती है। द्वि-ध्रुवीय राजनीति के विलोपन के साथ ही अब गुटनिरपेक्षता की प्रांसगिकता समाप्तप्राय हो चुकी है।

गुटनिरपेक्षता का अर्थ एवं परिभाषाएँ– भारत की विदेश नीति के संबधं में **पं० नेहरू** ने कहा था—

''हम उन शक्ति गुटों से अलग रहना चाहते हैं जिनके कारण पहले भी महायुद्ध हुए और भविष्य में भी हो सकते हैं।''

–पं० जवाहरलाल नेहरू

किन्तु गुटों से अलग रहने की नीति का यह अर्थ नहीं है कि हम संसार की घटनाओं को चुपचाप बैठे देखते रहें और दुनिया से कटे रहें। वास्तव में गुटनिरपेक्ष विदेश नीति का अर्थ है, प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय मसले पर स्वतंत्र, स्पष्ट तथा ऐसा रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाना जो किसी भी गुट से प्रेरित न हो तथा जिससे विश्व-शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सद्‌भाव को बढ़ावा मिले।

सामान्य अर्थ में, गुटनिरपेक्षता का अर्थ विश्व के शक्तिशाली गुटों से पृथक या तटस्थ रहकर अपनी स्वतंत्र विदेश नीति का संचालन करना और अपने राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा करना है। गुटनिरपेक्षता को निम्नलिखित शब्दों में परिभाषित किया जा सकता है—

''गुटनिरपेक्षता शान्ति का मार्ग और युद्ध से बचाव का मार्ग है। इसका उद्देश्य सैनिक गुटबन्दियों से दूर रहना है। यह एक निषेधात्मक नीति नहीं है, बल्कि एक सकारात्मक, एक निश्चित और मैं आशा करता हूँ कि एक निरन्तर विकासशील नीति है।''

–पं०जवाहरलाल नेहरू

'' गुटनिरपेक्षता की नीति का अर्थ युद्ध में तटस्थ रहना नहीं है। इसका अर्थ है— स्वतंत्रता, शान्ति तथा सामाजिक न्याय के कार्य में सक्रिय योगदान।'' **–सुकर्णो**

''मेरे विचार में गुटनिरपेक्षता की नीति का सार यह है कि किसी भी राजनीतिक या सैनिक गुट में सम्मिलित होने से अस्वीकृति प्रकट करना।'' **–लिस्का**

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि गुटनिरपेक्षता एक ऐसी सकारात्मक एवं रचनात्मक नीति है, जो सामूहिक सुरक्षा का मार्ग प्रशस्त करती है। अत: गुटनिरपेक्षता का आशय किसी भी सैनिक गुटबन्दी से दूर रहकर राष्ट्रीय हितों का ध्यान रखते हुए न्यायोचित पक्ष में अपनी विदेश नीति का संचालन करना है।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की विशेषताएँ– इसके लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—14 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

16. ''गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य क्या था? वर्तमान विश्व के सन्दर्भ में इसकी प्रासंगिकता पर प्रकाश डालिए।

उ०– उत्तर के लिए विस्तृत उत्तरीय प्रश्न संख्या—14 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

17. दक्षेस (सार्क) से आप क्या समझते हैं? इसकी आवश्यकता पर प्रकाश डालिए।

उ०– उत्तर के लिए लघु उत्तरीय प्रश्न संख्या—10 के उत्तर का अवलोकन कीजिए।

18. ''सार्क की स्थापना ने दक्षिण एशिया के देशों में पारस्परिक सहयोग के नए युग का सूत्रपात किया है'' स्पष्ट कीजिए।

उ०– दक्षिण एशियाई क्षेत्र में सार्क का बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहा। इसे क्षेत्र के इतिहास में 'नयी सुबह की शुरूआत' कहा जा सकता है। भूटान नरेश ने तो इसे सामूहिक बुद्धिमता और राजनीतिक इच्छा-शक्ति का परिणाम बताया है, किन्तु व्यवहार में इस संगठन की सार्थकता कम होती जा रही है। सार्क ने पिछले दस वर्षों में एक ही ठोस काम किया है और वह है, खाद्य कोष बनाना। कृषि, शिक्षा, संस्कृति, पर्यावरण आदि 12 क्षेत्रों में सहयोग के लिए सार्क को देश के सिद्धान्ततः सहमत हैं। सार्क देश में भारत प्रमुख और सर्वाधिक शक्तिशाली देश है, इसलिए कुछ सार्क देश यह समझने लगे कि इस संगठन में भारत का प्रभुत्व छाया हुआ है। इस संबंध में भारत ने तो यह स्पष्ट कर दिया था कि हम क्षेत्र में अपनी चौधराहट स्थापित करना नहीं चाहते। हमारा उद्देश्य तो मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करना है। इसके बावजूद भारत के बांग्लादेश, नेपाल व श्रीलंका के संबंधों में दरार आ गयीं। पाकिस्तान तो भारत के विरुद्ध विष उगलने में चूकता नहीं है। इसके अतिरिक्त सदस्य देशों की शासन-प्रणालियों और नीतियों में भिन्नता तथा द्वि-पक्षीय व विवादास्पद मामलों की छाया ने भी संगठन को निर्बल बनाए रखा है। इन कारणों और परस्पर अविश्वास के आधार पर यह संगठन केवल सैद्धान्तिक ढाँचा मात्र रह गया है, उसका कोई व्यावहारिक महत्व बने रहना संभव नहीं। फिर भी इसकी निम्नलिखित उपलब्धियाँ सराहनीय हैं—

(i) दक्षेस शिखर-वार्ता प्रतिवर्ष आयोजित की जाती है और निर्णय भी सर्वसम्मति से ही लिए जाते हैं।

(ii) दूसरे शिखर-सम्मेलन में इसका कार्यालय काठमांडू में स्थापित करने का निर्णय आपसी सहयोग बढ़ाने में सहायक हुआ है।

(iii) तीसरे शिखर-सम्मेलन में आतंकवाद निरोधक समझौता एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी।

(iv) इस्लामाबाद के चौथे शिखर-सम्मेलन में 'दक्षेस-2000' एकीकृत योजना पर बल दिया गया।

(v) पाँचवें शिखर सम्मेलन में संयुक्त उद्योग स्थापित करने तथा सातवें शिखर-सम्मेलन में 'दक्षिण एशियाई व्यापार वरीयता समझौता' (SAFTA) की स्वीकृति का काम हुआ।

(vi) सामूहिक विकास की दृष्टि से 'दक्षिण एशियाई विकास कोष' की स्थापना की गयी। 11 वें शिखर-सम्मेलन के 'काठमांडू घोषणा पत्र' में आतंकवाद को समाप्त करने की प्रतिबद्धता दोहरायी गयी।

(vii) 12 वें शिखर-सम्मेलन में दक्षिण एशिया को 'मुक्त-व्यापार क्षेत्र' बनाने के लिए साफ्ट (SAFTA) संधि हुई जो 1 जनवरी, 2006 से लागू हुई।

इसके अतिरिक्त विज्ञान, तकनीकी ज्ञान, दूर संचार, यातायात, कृषि, ग्रामीण विकास, वन विकास, मौसम विभाग आदि अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ पारस्परिक सहयोग प्रगति पर है। दक्षेस की अनेक संस्थाएँ कार्यरत हैं। दक्षेस फेलोशिप तथा दक्षेस छात्रवृत्तियों से नागरिकों में सामूहिक भावना का विकास हो रहा है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि सार्क की स्थापना ने दक्षिण एशिया में पारस्परिक सहयोग के नए युग का सूत्रपात किया है।

19. सन् 1971 ई० के उपरान्त भारत-पाक संबंधों का परीक्षण कीजिए।

उ०– सन् 1971 ई० के उपरान्त भारत-पाकिस्तान संबध– पाकिस्तान कभी भारत का अंग रहा है। अत: सन् 1947 में पृथक होने के बाद भी भारत ने सदा यह प्रयास किया कि पाकिस्तान के साथ एक छोटे भाई जैसे मधुर संबंध रखे जाए, परंतु दुर्भाग्य से भारत को इसमें सफलता न मिली। इसका कारण यह था कि पाकिस्तान ने सदा भारत के प्रति घृणा की नीति अपनायी और सामाजिक विकास की कोई परवाह न की।

पाकिस्तान ने सदा ही भारत की मित्रता का हाथ ठुकराया और सदा अपनी जनता में भारत के प्रति घृणा उत्पन्न की। पाकिस्तान ने भारत पर तीन बार (सन् 1947, 1965 तथा 1971) में हमला किया। कभी भारत के विमान का अपरहण करके जलाया तो कभी सीमा पर गोलाबारी की।

सन् 1971 ई० में ही पाकिस्तान ने अपने पूर्वी भाग की जनता का निर्ममता से दमन तथा शोषण किया। परिणामस्वरूप 1 करोड़ बंगाली शरणार्थी भारत आ गए। बंगाली जनता के विद्रोह के कारण पाकिस्तान का अंग उससे पृथक हो गया।

दिसम्बर, 1971 ई० में भी पाकिस्तान ने भारत पर अचानक आक्रमण किया जिसमें उसकी करारी हार हुई और भारत ने 5,000 वर्ग मीटर से भी अधिक पाकिस्तानी क्षेत्र पर कब्जा कर लिया किन्तु इस हार के बाद पाकिस्तान में तानाशाही शासन का पतन हुआ और लोकतन्त्रीय सरकार की स्थापना हुई।

इस स्थिति में भारत ने फिर पाकिस्तान की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाया जिसे पाकिस्तान के राष्ट्रपति भुट्टो ने स्वीकार किया। परिणामस्वरूप, जुलाई 1972 में भारत तथा पाकिस्तान के बीच शिमला में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार दोनों देशों ने भविष्य में शांति से अपने सभी विवादों को सुलझाने का निश्चय किया। भारत ने पाकिस्तान की जीती हुई जमीन उसे वापस देने की घोषणा की।

शिमला समझौते की दोनों देशों की संसद ने पुष्टि कर दी और ऐसा प्रतीत हुआ कि इस समझौते के परिणामस्वरूप भारत और पाकिस्तान के दु:खद संबंधों का इतिहास अब समाप्त होगा।

किन्तु शांतिपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किए गए भारत के अणु बम परीक्षण पर पाकिस्तान ने विश्व भर में जो बवाल मचाया उससे लगा कि भारत के प्रति उसका मन अभी साफ नहीं है और भारत के सहयोग और शांतिपूर्ण संबंधों का अभी वह आदर करने को तैयार नहीं है।

यह संतोष की बात थी कि सितम्बर, 1974 में पाकिस्तान की राजधानी इस्लामबाद में भारत और पाकिस्तान के प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ और उसमें डाक-तार जैसे संचार साधनों व एक-दूसरे देश में आने-जाने के बारे में समझौता हो गया।

मई, 1977 में दोनों देशों के प्रतिनिधियों में इस्लामाबाद में वार्ता हुई जिसमें राजदूत स्तर पर पूरे राजनयिक संबंध फिर से कायम करने, एक-दूसरे के ऊपर ये उड़ान करने, विमान संबंधों को फिर से कायम करने तथा रेल द्वारा माल व सवारी यातायात फिर से चालू करने का समझौता हुआ। इस समझौते में 12 वर्षों से पाकिस्तान से टूटे संबंध फिर से जुड़ गए और आपसी सद्भावना उत्पन्न हुई।

किन्तु सन् 1982 ई० के बाद पंजाब के उग्रवादियों को प्रशिक्षण और हथियार देने के कारण भारत और पाकिस्तान के संबंधों में फिर से तनाव आ गया। पंजाब के बाद कश्मीर के आतंकवादियों को हथियार और प्रशिक्षण देकर पाकिस्तान ने तनाव को और बढ़ा दिया।

फरवरी, 1999 में भारत के प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने पाकिस्तान से संबंधों को सुधारने की पहल की तथा बस द्वारा पाकिस्तान की यात्रा की। फलस्वरूप लाहौर और दिल्ली के बीच बस सेवा प्रारंभ हुई, लाहौर घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर हुए और दोनों देशों के बीच अनेक समझौते भी हुए, किन्तु जल्दी ही (मई, 1999 में) कारगिल संकट के कारण दोनों देशों के बीच दोबारा से तनाव उत्पन्न हो गया। अक्टूबर, 1999 से पाकिस्तान में सैनिक शासन की स्थापना हो गयी।

जुलाई, 2001 में पाकिस्तान के राष्ट्रपति परवेज मुशर्रफ भारत आए और दोनों देशों के शासकों के बीच आगरा वार्ता हुई। यह वार्ता पूरी तरह असफल हुई।

आगरा शिखर सम्मेलन के असफल रहने के कारण निम्न प्रकार थे—

(i) वार्ता में सीमापार के आतंकवाद के मुद्दे को शामिल न करने की पाकिस्तान की जिद्द।

(ii) शिमला समझौते व लाहौर घोषणा-पत्र के पालन की पाकिस्तान की अनिच्छा।

(iii) पाकिस्तान द्वारा वार्ता में केवल कश्मीर मुद्दे पर ही ध्यान केंद्रित करना।

(iv) हुरियत नेताओं से मिलने का पाकिस्तानी राष्ट्रपति का अशोभनीय प्रदर्शन।

(v) संपादकों व पत्रकारों के साथ पाकिस्तानी राष्ट्रपति की बैठक का प्रसारण।

13 दिसम्बर, 2001 को भारत की संसद पर पाकिस्तानी आतंकवादियों ने हमला कर दिया जिससें दोनों देशों के बीच युद्ध जैसी स्थिति बन गई।

किन्तु जनवरी, 2004 के बाद से दोनों देशों के संबंधों में फिर सुधार आया। दोनों देशों ने आपसी सद्भाव और सहयोग को बढ़ाने के लिए अनेक घोषणाएँ की। भारत के प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी सार्क देशों के सम्मेलन में भाग लेने इस्लामाबाद गए। दोनों देशों के बीच बंद पड़ी विमान सेवा, रेल सेवा (समझौता एक्सप्रेस), लाहौर बस सेवा फिर से शुरू हो गयी।

लंबे समय बाद दोनों देशों की क्रिकेट टीम एक-दूसरे के यहाँ गयीं। अप्रैल, 2005 में श्रीनगर-मुजफ्फराबाद बस सेवा भी शुरू हो गयी तथा पाकिस्तान के राष्ट्रपति परवेज मुर्शरफ तीन दिवसीय यात्रा पर भारत आए।

किन्तु 26 नवम्बर, 2008 को मुंबई में हुए पाकिस्तानी आतंकवादियों के हमले के बाद भारत और पाकिस्तान के संबंध फिर से तनावपूर्ण हो गए। इस प्रकार सन् 1971 के बाद से भारत-पाकिस्तान संबंधों में निरन्तर उतार-चढ़ाव आता रहा है।

वर्ष 2012 में दोनों देशों के मध्य विभिन्न मुद्दों पर विदेश मंत्री, विदेश सचिव तथा गृह सचिव स्तर की वार्त्ताएँ पुन: आरम्भ हो चुकी हैं।

भारत-पाक संबंधों की यह विशेषता बन गयी है कि कुछ वर्ष दोनों देशों के संबंध सुधरते हैं और इसी बीच पाकिस्तान की तरफ से भारत के विरुद्ध छुपकर कुछ ऐसा किया जाता है कि दोनों के संबंध फिर से बिगड़ जाते हैं। इसका कारण यही है कि पाकिस्तान दुनिया को दिखाने के लिए तो भारत से संबंध सुधारने का नाटक करता है; किन्तु गुपचुप तरीके से भारत को नुकसान पहुँचाने का मौका देखता रहता है।

20. संयुक्त राष्ट्र संघ की एक विशिष्ट संस्था के रूप में यूनेस्को के कार्यों व भूमिका का परीक्षण कीजिए।

उ०– **यूनेस्को की स्थापना–** पिछले दो महायुद्धों के पश्चात् यह विचार किया गया है कि जब तक अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग के भावना को विकसित नहीं किया जाएगा तब तक विश्व में शांति स्थापित करना असंभव है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक 'संयुक्त राष्ट्र संघ' की स्थापना की गई। इस संघर्ष में अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना को विकसित करने के लिए एक विशेष विभाग खोला गया जिसे यूनेस्कों की संज्ञा दी जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि इस विभाग के निर्माण का श्रेय लगभग तीन दर्जन से अधिक राष्ट्रों के उन वैज्ञानिकों, कलाकारों विचारकों तथा शिक्षाशास्त्रियों को है जिन्होंने यह अनुभव किया कि अंतराष्ट्रीय सद्भावना को केवल राजनीतिक तथा आर्थिक संधियों तथा योजनाओं के आधार पर ही विकसित नहीं किया जा सकता। इन लोगों का विचार था कि युद्धों को रोकना तथा शांति की स्थापना करना एक मनोवैज्ञानिक समस्या है न कि राजनीतिक। अतएव उन सभी राजनैतिक तथा धार्मिक संगठनों के लिए शैक्षिक, सांस्कृतिक तथा मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का होना परम आवश्यक है जिनका निर्माण राजनीतिक तथा धार्मिक सुरक्षा के लिए तैयार किया गया है। अत: इन सभी महापुरुषों का यह अखंड विश्वास हो गया कि यदि सामाजिक जीवन से प्रतिस्पर्धा को समाप्त करके सहयोग पर अधिक बल दिया जाए तो संसार के सभी राष्ट्रों की कला, साहित्य विज्ञान तथा संस्कृति अधिक से अधिक विकसित होती रहेगी।

यूनेस्को के कार्य– अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए यूनेस्को निम्नलिखित कार्य कर रहा है—

(i) यूनेस्को इस बात का प्रयास कर रहा है कि विभिन्न राष्ट्रों के बीच फैला हुआ भय सन्देह तथा अविश्वास दूर हो जाए जिससे उनके आपसी संबंध अच्छे बन सकें।

(ii) यह संघ इस बात के लिए विशेष प्रयास कर रहा है कि संसार के सभी पिछड़े हुए देशों से निरक्षरता समाप्त हो जाए।

(iii) यह संस्था प्रत्येक राष्ट्र के साहित्य, विज्ञान, संस्कृति तथा कला को अन्य राष्ट्रों के निकट पहुँचाने का प्रयास करता है जिससे संसार के प्रत्येक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्रों के बौद्धिक विकास का ज्ञान हो जाए।

(iv) यूनेस्को शोधकर्ताओं को आर्थिक सहायता देता है जिससे अधिक से अधिक शोध कार्य हो सकें।

(v) यह संस्था शिक्षकों, विचारकों तथा वैज्ञानिकों को इस बात के अवसर प्रदान करती है कि वे परस्पर विचार-विमर्श कर सकें जिससे रचनात्मक कलाओं को सृजन होता रहे।

(vi) यह विभाग पिछड़े हुए राष्ट्रों के स्कूलों को आर्थिक सहायता देता है।

(vii) यूनेस्को विभिन्न राष्ट्रों की पाठ्य-पुस्तकों में शोधन तथा पाठ्यक्रमों में निर्माण हेतु परामर्श देता है एवं महत्वपूर्ण साहित्यिक ग्रंथों का अनुवाद भी करता है।

(viii) यह विभाग अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर साहित्य की प्रदर्शनियों का आयोजन करता है जिससे अंतर्राष्ट्रीय सद्‌भावना विकसित हो जाए।

(ix) यूनेस्को एक राष्ट्र के शिक्षकों तथा बालकों को दूसरे राष्ट्रों में भ्रमण करने के लिए भी प्रोत्साहित करता है जिससे संसार के समस्त राष्ट्र अधिक से अधिक निकट हो जाए।

(ix) यूनेस्को रेडियो, टेलीविजन तथा अन्य साधनों के द्वारा जनता जर्नादन में अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयास करता है।

(x) यूनेस्को के उपर्युक्त कार्यों को सफल बनाने के लिए संसार के सभी राष्ट्रों का सहयोग आवश्यक है। अत: संसार के प्रत्येक राष्ट्र को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनकर इस विभाग की प्रत्येक क्रिया में हृदय में रूचि लेनी चाहिए।

यूनेस्को की भूमिका– यूनेस्को की भूमिका में लिखा है— चूँकि युद्ध मनुष्यों के मस्तिष्कों में आरम्भ होते हैं इसलिए शांति की रक्षा के साधन भी मनुष्य के मस्तिष्क से ही निर्मित किए जाने चाहिए। न्याय तथा शांति बनाए रखने के लिए मानवता की शिक्षा तथा संस्कृति का व्यापक प्रसार मानव की महत्ता के लिए आवश्यक है। यह एक ऐसा पवित्र कर्त्तव्य है जो प्रत्येक राष्ट्र को आपसी सहयोग की भावना के आधार पर पूरा करना चाहिए। केवल सरकारों के राजनीतिक तथा आर्थिक समझौते तथा बंधनों द्वारा स्थापित की हुई शांति को ऐसी शांति नहीं कहा जा सकता है जिसे संसार के सभी लोग एकमत होकर स्वीकार कर लें इस दृष्टि से यदि शांति को कभी असफल नहीं होना है तो उसे मानव जाति को बौद्धिक तथा नैतिक अखंडता पर आधारित होना चाहिए।

यूनेस्को की उपर्युक्त भूमिका से स्पष्ट हो जाता है कि यदि विश्व में स्थायी शांति स्थापित करनी है तो संसार के विभिन्न राष्ट्रों में शिक्षा विज्ञान तथा संस्कृति के क्षेत्रों में आपसी विभिन्नताएँ तथा विरोध को मिटाकर विश्व-संस्कृति को विकसित करना परम आवश्यक है। यह महान् कार्य केवल उसी समय पूरा हो सकता है जब विभिन्न राज्यों के शिक्षाशास्त्री, दार्शनिक, साहित्यकार, तथा कवि आदि समय-समय पर एक दूसरे को मिलकर समस्याओं को परस्पर विचार-विमर्श द्वारा सुलझाने के लिए एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझ कर विभिन्न संस्कृतियों की अच्छी अच्छी बातों को ग्रहण करते हुए एक-दूसरे के निकट आते रहें।

यूनेस्को का उद्देश्य– यूनेस्को का पूरा नाम 'संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संस्था' है इस संस्था का उद्देश्य शिक्षा के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय सद्‌भावना विकसित करके विश्व शांति स्थापित करना है। इस महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विभाग अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा के द्वारा लोगों के मस्तिष्क को मनोवैज्ञानिक तथा बौद्धिक रूप से प्रशिक्षित करके उनमें ऐसे गुण को विकसित करना चाहता है जिनके आधार पर वे स्वयं ही युद्ध से घृणा करते हुए अंतर्राष्ट्रीय महत्व का आदर करने लगें।